भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास

(पहला खण्ड)

भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास

(पहला खण्ड)

लेखक
ताराचंद

भूमिका-लेखक
हुमायूं कबीर



प्रकाशन-विभाग
सूचना और प्रसारण-मन्त्रालय
भारत-सरकार

वैशाख 1887
मई 1965

मूल्य 6 रुपये

निदेशक प्रकाशन विभाग पुराना सचिवालय दिल्ली 6 द्वारा प्रकाशित
और प्रबंधक भारत-सरकार-मुद्रणालय फरीदाबाद द्वारा मुद्रित ।

मानव-इतिहास की सम्पूर्ण धारा यही, सिद्ध करती है कि शक्ति और श्रेष्ठता दोनों ने सदैव ज्ञान का अनुसरण किया है। यह मानव की सीखने की क्षमता ही थी, जिसने उसे समस्त प्राणियों में सर्वोपरि बना दिया। मनुष्यों में भी श्रेष्ठता उन्हें ही प्राप्त हुई, जिनमें ज्ञानार्जन और उसके उपयोग की क्षमता सर्वाधिक थी। पुराने जमाने में पुरोहितों और तान्त्रिकों ने श्रेष्ठतर ज्ञान के ही माध्यम से अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और एक मूल्यवान रहस्य के रूप में उसे गोपनीय रखने की चेष्टा की थी। उन्होंने यह नहीं समझा था कि ज्ञान को छिपाने अथवा सीमाबद्ध रखने का प्रयत्न आत्मछलना है और इससे अन्ततः ज्ञान, श्रेष्ठता तथा शक्ति का ह्रास होता है। भारतीय इतिहास में ऐसे कितने ही दृष्टान्त हमें मिलते हैं, जब कुछ विशिष्ट वर्गों एवं श्रेणियों तक ही ज्ञान के सीमित हो जाने के कारण लोगों को भारी मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं।

भौतिक सम्पत्ति के विपरीत, ज्ञान दान और वितरण के माध्यम से बढ़ता है। हालांकि औरंगजेब का दृष्टिकोण कितने ही क्षेत्रों में अत्यन्त संकीर्ण था और वह अनन्यता के आधार पर अपनी सत्ता बनाए रखने का प्रयत्न करता था फिर भी वह उन चन्द भारतीय सम्राटों में से एक था, जिन्होंने सत्ता को स्थिर रखने के साधन-रूप में ज्ञान के महत्व को समझा था। एक बार एक विद्वान् ने जब इस आधार पर उससे विशेष व्यवहार पाना चाहा कि उसने उसे पढ़ाया था तब औरंगजेब ने इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—"यदि आपने मुझे वह दर्शन पढ़ाया होता, जो मानस को युक्ति युक्त बनाता है और जो अत्यन्त ठोस तर्कों के बिना आश्वस्त होने की सीख नहीं देता यदि आपने मुझे मानव-स्वभाव से परिचित कराया होता मुझे श्रेष्ठतम सिद्धान्तों के प्रयोग का अभ्यासी बनाया होता, यदि आपने मुझे संसार और उसके अंगों की व्यवस्था तथा नियमित गति का उत्कृष्ट और समुचित परिचय दिया होता, तो मैं आपका उससे भी अधिक आभार मानता जितना सिकन्दर अरस्तू का मानता था।" औरंगजेब ने यह भी घोषणा की कि एक शासक के लिए यह आवश्यक है कि वह 'संसार के प्रत्येक राष्ट्र की विशिष्टताओं की, उसके प्राकृतिक साधनों और शक्ति की, उसके लड़ाई के तरीकों की, उनके आचार-व्यवहार धर्म और प्रशासन प्रणाली की जानकारी रखे।' वह जानता था कि किसी भावी राजा के प्रशिक्षण का एक अंग यह भी है कि वह ऐतिहासिक अध्ययन की एक नियमित प्रक्रिया के द्वारा राज्यों के उद्भव उनकी प्रगति और उनके पतन की तथा उन घटनाओं दुर्घटनाओं अथवा भूलों की जानकारी प्राप्त करे जो महान् परिवर्तनों और शक्तिशाली क्रान्तियों को जन्म देती हैं।"

औरंगजेब की बौद्धिक क्षमता तो असन्दिग्ध थी ही इसके अतिरिक्त यदि उसे वैसा प्रशिक्षण भी मिला होता और उसने यह सीखा होता कि राष्ट्रों की प्रगति और उनकी सम्पन्नता सभी नागरिकों को धर्म जाति राजनीतिक मत अथवा सामाजिक स्तर का भेदभाव किए बिना समान न्याय प्रदान करने पर निर्भर करती

है तब भारतीय इतिहास का क्या रूप होता इसकी कल्पना भी अत्यन्त रोचक है। जो भी हो उसकी इस धारणा को तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि मानवीय विषयों के प्रशासन की जिम्मेदारी जिन पर है उनके लिए उन मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अनिवार्य है, जो राज्यों के उत्थान-पतन तथा विभिन्न प्रकार के व्यवहारों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाओं का नियमन करते हैं।

ऐसे ऐतिहासिक अध्ययन का महत्व आधुनिक युग में और भी बढ़ गया है और वह स्वयं मानव के अस्तित्व की जरूरी बात बन गया है। संसार की वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में—यह बात बहुत हद तक उन क्षेत्रों के लिए भी सच है जहां विधिवत् लोकतन्त्र नहीं है—देश की नीतियों और उसके कारनामों की जिम्मेदारी हर व्यक्ति पर आती है। फिर विज्ञान और टेक्नोलाजी की प्रगति ने विभिन्न देशों के भाग्य को जो परस्पर बांध दिया है उसके चलते आधुनिक मनुष्य का उत्तरदायित्व उसके अपने देश की सीमाओं से भी आगे पूरे विश्व तक विस्तृत हो गया है। चूंकि किसी एक देश में घटनेवाली घटना का सभी देशों पर असर होता है, इसलिए आज के नागरिक को मानव-जाति के भाग्य की चिन्ता प्राचीन युगों के राजाओं और राजकुमारों के मुकाबले कहीं अधिक रहती है। औरंगजेब ने महसूस किया था कि इतिहास की शिक्षा राजाओं के लिए आवश्यक है लेकिन आज भारत-जैसे लोकतान्त्रिक गणराज्य में सभी नागरिकों के लिए ऐसी शिक्षा अनिवार्य हो गई है।

लगभग दो शताब्दी तक एक विदेशी सत्ता के अधीन रहने के कारण भारतीय जातियाँ के उत्थान-पतन के कारणों के प्रति जागरूक हो गए हैं। धीरे धीरे उन्होंने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त की, और फिर जो सबक उन्हें प्राप्त हुआ है उसे काम में लाया ताकि पहलेवाली दुखद गाथा की पुनरावृत्ति न हो पाए। इसके अतिरिक्त जिस तरह भारत ने अपनी स्वतन्त्रता खोई और जिस तरह उसने उसे पुन पाया उसमें कुछ असाधारण तत्व थे जिनके कारण उसका इतिहास सारे संसार के लिए भारी महत्व का माना जाता है। विशेष रूप से, महात्मा गांधी-द्वारा विकसित अहिंसात्मक संघर्ष की प्रणाली मानवीय सम्बन्धों की दुरूहतम समस्याओं में से एक का समाधान प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। अत इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय ऐतिहासिक अभिलेख-आयोग की जो पहली बैठक हुई, उसमें यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के विभिन्न चरणों का एक प्रामाणिक और विस्तृत इतिहास लिखा जाए। दिवंगत मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इस प्रस्ताव का तत्काल स्वागत किया और आदेश दिया कि इसे कार्यान्वित करने के लिए अविलम्ब कदम उठाए जाएं।

कुछ लोगों का विचार था कि यह काम एक सरकारी अभिकरण के माध्यम से पूरा कराया जाए पर शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया गया कि ऐसे अभिकरण सम्भवत इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त न हो। कारण, प्रथमत किसी भी सरकारी संस्था के लिए स्वाभाविक है कि वह तत्कालीन सरकार के विचारों और मतों को प्रतिबिम्बित करे जबकि राष्ट्रीय हित और ऐतिहासिक तथ्यात्मकता की दृष्टि से भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास को वस्तुनिष्ठ तथा निष्पक्ष होना चाहिए। दूसरी बात इस इतिहास की सामग्री पूरे देश में बिखरी पड़ी है और बहुधा उन लोगों के पास है

जिन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया था। एक सरकारी संस्था, अपनी परम्परागत पद्धतियों से ऐसे लोगों के पूर्वाग्रहों एवं सनका के साथ पटरी बिठाते हुए उनसे जानकारी प्राप्त कर सकेगी, यह बात सन्दिग्ध प्रतीत हुई। इसीलिए यह आवश्यक हो गया कि सरकारी और निजी अभिलेख-संग्रहालयों में तथा संग्राम के परवर्ती चरणों में सक्रिय भाग लेनेवाले लोगों के पास पड़ी विशाल सामग्री को इकट्ठा करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किया जाए।

पहले कदम के रूप में, भारत-सरकार के तत्कालीन शिक्षा-परामर्शदाता डाक्टर तार चन्द की अध्यक्षता में प्रतिष्ठित विद्वानों की एक विवेचन-समिति बनाई गई। इसकी प्रधान कर्तव्य-सीमा थी—सामग्री के संग्रह-कार्य को संगठित करने के लिए उपाय तथा तरीके प्रस्तावित करना और इतिहास तैयार करने के लिए अन्य व्यवस्थाएं करना। समिति ने सिफारिश की कि इतिहासकारों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से निर्मित एक केन्द्रीय संगठन के अतिरिक्त, देश के विभिन्न भागों में समान पद्धति पर ही प्रादेशिक समितियां भी बनाई जाएं। अत, डा० सयद महमूद की अध्यक्षता और श्री एस० एन० घोष के सचिवत्व में एक केन्द्रीय सम्पादक-मण्डल गठित किया गया। जनवरी 1953 में इस मण्डल की पहली बैठक में भाषण करते हुए मौलाना आजाद ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास को वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के कारण यह सम्भव भी था और आवश्यक भी कि भावावेश से बचा जाए क्योंकि भावावेश निष्कर्षों को विकृत करता है और विकृत निष्कर्षों पर आधारित कार्य राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल होगा। उन्होंने यह भी संकेत दिया कि यद्यपि मुख्य रूप से यह राजनीतिक संघर्ष का ही इतिहास होगा, तथापि इसे साहित्य, शिक्षा, समाज-सुधार और वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास-जैसे अन्य क्षेत्रों में हुए राष्ट्रीय जागरण को भी उचित महत्त्व देना चाहिए।

मण्डल ने तीन वर्ष तक काम किया और अपनी प्रादेशिक समितियों की सहायता से भारत में राष्ट्रीय जागरण के लगभग प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित सामग्री बड़ी मात्रा में एकत्र की। उसने न केवल केन्द्र और राज्यों के सरकारी अभिलेख-संग्रहालयों तथा राष्ट्रीय और स्थानीय समाचारपत्रों का उपयोग किया बल्कि विभिन्न राजनीतिक मतवादों से सम्बन्ध रखनेवाले और विविध सामाजिक तथा आर्थिक विचारधारावाले लोगों के भी वक्तव्य प्राप्त किए। सामग्री को यथासम्भव व्यापक बनाने के प्रयास में उसने भारत से बाहर के सूत्रों से भी सम्पर्क स्थापित किया।

इस प्रकार मण्डल ने बड़ी उपयोगी सेवा की पर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अस्थायी तौर पर बनाई गई एक तदर्थ संस्था आवश्यक सामग्री एकत्र करने के कार्य को पूरा नहीं कर सकती—पूरी सामग्री को छान छांट कर और एक सूत्र में पिरो कर एक समग्र इतिहास तैयार करने की तो बात दूर। विद्वान् इतिहासज्ञ और सक्रिय राजनीतिज्ञ दोनों ही इसमें सम्मिलित थे और सामग्री के संग्रह-काल में ही उनके दृष्टिकोण का पार्थक्य स्पष्ट हो गया था। फिर, जब संगृहीत सामग्री की व्याख्या करने का समय आया, तब ये मतभेद और भी स्पष्ट हो गए। अन्त तय किया गया कि आगे के संग्रह का कार्य राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय को सौंप दिया जाए और सामग्री की व्याख्या करने और इतिहास लिखने का कार्य किसी एक प्रतिष्ठित विद्वान् के सुपुर्द कर दिया जाए। तदनुसार ही—डा० ताराचन्द को, जो आरम्भिक स्तर पर आयोजना-समिति के अध्यक्ष थे और जिनमें

इस काय को करने की विशेष सामर्थ्य थी, सामग्री का चुनाव करने और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास तैयार करने का काय सौंपा गया।

जैसा कि पाठक स्वय ही देखेंगे डा० ताराचन्द ने एक विशाल और कल्पनाशील दृष्टिकोण अपनाया है और न केवल ब्रिटिश शासन के आगमन के समय की भारत की दशा का एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है बल्कि भारतीय और यूरोपीय इतिहासो का तुलनात्मक अध्ययन भी पेश किया है, जिससे विचाराधीन कालावधि में ब्रिटेन की प्रगति और भारत के पतन के कारणो पर हमारा ध्यान जा सके। उनका विषयोपचार वस्तुनिष्ठ तथा ऐतिहासिक है और उन्होने राष्ट्रीय अथवा जातीय पूर्वाग्रहो से प्रेरित होकर नहीं बल्कि ऐतिहासिक मानदण्ड के अनुसार प्रशसा और निन्दा प्रदान की है। विश्लेषण और मत एकमात्र उनके ह। हो सकता है कोई उनके सभी निष्कर्षों और मतो को स्वीकार न करे पर मेरा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति इस बात से सहमत होगा कि उन्होने तथ्यो का उपयोग बडी कुशलता और कलात्मकता के साथ किया है।

भारतीय स्वाधीनता के विलय और पुन प्राप्ति की कहानी मानव इतिहास मे अध्ययन के सबसे आकर्षक विषयो म स एक है। एक जाति को जिसका अतीत गौरवपूर्ण और शानदार था जिसने कला और हस्तशिल्प का अत्यन्त विकास किया था और जिसके पास लगभग असीम मानवीय और भौतिक साधन थे, अपमान और पराजय का सामना केवल इसलिए करना पडा कि उसने न तो समाज के सभी स्तरो में राष्ट्रीय भावना का विस्तार किया था और न बाहरी दुनिया में हुई विज्ञान तथा टेक्नोलाजी की प्रगति के साथ अपना मेल रखा था। उसके पुनरुत्थान का आरम्भ तब हुआ जब पराजय की ग्लानि ने एक गुरुतर राष्ट्रीय जाग्रति पैदा की और विदेशी शासको ने यहा के प्राचीन समाज में आधुनिक शिक्षा और विज्ञान की विस्फोटक शक्तिया प्रविष्ट करा दी। इस प्रकार जो उफान लाया गया वह आज तक राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में समाहित है और सामाजिक सगठन तथा बौद्धिक चिन्तन शैलियो में एव धार्मिक विश्वासो तथा आचारो में दूरगामी परिवतन ला रहा है। जब राष्ट्रीय जागरण के चलते राष्ट्रीय आत्मसम्मान वापस आया तब भारत पुन स्वतन्त्र हो गया यद्यपि इस प्रक्रिया में द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में फलित होनेवाली विश्व की हलचलो ने भी उसकी स्वाभाविक सहायता की।

यह निश्चय किया गया है कि भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की कहानी तीन खण्डो म पेश का जाए और प्रत्येक खण्ड म चार सौ स पाच सौ तक पष्ठ हो। पहले खण्ड का प्रकाशन आज—ब्रिटिश आधिपत्य को अनिवार्य बना देनेवाली पानीपत की तीसरी लडाई के दो सौ वष बाद—किया जा रहा है। आरम्भिक युगो में भारतीय जाति के जीवन और इतिहास को आकार देनेवाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओ की पष्ठभूमि में अठारहवी सदी के भारत की सामाजिक राजनीतिक सास्कृतिक और आर्थिक अवस्थाओ का वणन इस खण्ड में किया गया है। यूरोप म आधुनिक युग लानेवाले विकास क्रमो का भी एक विहगम चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है ताकि अपेक्षाकृत स्थिर भारतीय समाज पर पडे पश्चिम के नए गतिकारी प्रभाव को समझा जा सके।

इतना विशाल काय अनेक सरकारी और गैर-सरकारी सस्थाओ तथा भारत में और भारत के बाहर रहनेवाले स्त्री-पुरुषो के सहयोग के बिना पूरा नही किया जा सकता था। इस राष्ट्रीय काय की पूर्ति में सहायता प्रदान करने के लिए हम उन सबके कृतज्ञ और ऋणी हैं। इससे भी अधिक हम डा० ताराचन्द और उनके सहयोगियो के ऋणी है

जिन्होंने बड़ी लगन और सावधानीपूर्वक इतनी विशाल सामग्री का चुना छाटा और उन सिद्धान्तों को खोजा जिन्होंने इस सक्रमणमूलक किन्तु क्रांतिकारी काल में भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों को चित्रित करनेवाली विविधतामूलक और यदा-कदा परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को एक दिशा और एकता प्रदान की है।

नई दिल्ली,
26 जनवरी 1961

—हुमायूं कबीर

आमुख

स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखने के सिलसिले में मुझे कितनी ही समस्याओं का सामना करना पड़ा। इस इतिहास का आरम्भ कहाँ से हो? एक उत्तर था 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से। लेकिन कांग्रेस तो एक विकासशील राष्ट्रीय आन्दोलन की संगठित अभिव्यक्ति थी और राष्ट्रीय चेतना के विकास का इतिहास बताए बिना कांग्रेस के जन्म के कारणों और परिस्थितियों को स्पष्ट कर सकना असम्भव था। तब, राष्ट्रीय चेतना कब पैदा हुई? 1857 की क्रान्ति की लपटों में या उससे भी पहले? अब, यह जरूरी हो गया कि राममोहन राय तक लौटा जाए। लेकिन राममोहन राय तो ब्रिटिश विजय के प्रभाव की उपज थे। अतः इस निष्कर्ष से अलग जाना सम्भव नहीं था कि उस प्रभाव के स्वरूप का अध्ययन और स्पष्टीकरण अत्यन्त आरम्भिक अवस्थाओं से ही किया जाना चाहिए।

एक दूसरे प्रश्न का उत्तर दे सकना इससे भी कठिन था। मुझे न सिर्फ स्वाधीनता प्राप्ति की कहानी कहनी थी, बल्कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखना था। स्वाधीनता एक नकारात्मक धारणा है। इसका अर्थ है, पराधीनता की अनुपस्थिति। इसमें कोई सकारात्मक अर्थ-बोध नहीं है। यह विदेशी आधिपत्य को उलट कर राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करनेवाले समाज के गुण-चरित्र की ओर कोई संकेत नहीं करती। स्वतन्त्रता विदेशी नियन्त्रण की अनुपस्थिति-मात्र से कहीं अधिक कुछ है, कारण इसका तात्पर्य उस समाज से है, जिसमें कुछ सकारात्मक गुण भी हों—अर्थात, जनता की इच्छा के अनुसार अपने मामलों को व्यवस्थित करने की सामर्थ्य और अपने सब सदस्यों को स्वतन्त्रता और समानता प्रदान करनेवाली लोकतान्त्रिक जीवन पद्धति प्रदान करना।

अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटिश हस्तक्षेप के फलस्वरूप भारत ने अपनी स्वाधीनता खो दी। किन्तु लगभग दो शताब्दी के ब्रिटिश संरक्षण में ही उसने पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब इससे सम्बद्ध दो प्रश्न उत्पन्न हुए। भारत ने अपनी स्वाधीनता क्यों खो दी और भौतिक तथा नैतिक अर्थों में इस हानि के क्या परिणाम निकले? दूसरे, भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के योग्य कैसे बना? यूरोप स्वाधीनता से स्वतन्त्रता तक प्रगति कर चुका था और यह यात्रा उसने दस हजार वर्षों में, अर्थात् रोमन साम्राज्य के प्रान्तों में ट्यूटानिक कबीलों के बस जाने से लेकर अठारहवीं सदी तक की अवधि में तय की थी, लेकिन विदेशी आधिपत्य और शासन का अनुभव उसने कभी नहीं किया था। दूसरी ओर स्वशासन तक पहुँचानेवाली कष्टसाध्य यात्रा पर निकलने से पहले भारत को अपनी प्रभुसत्ता खो देना पड़ा था और यूरोप-द्वारा लिए गए समय के पाँचवें हिस्से में ही उसे यात्रा के सब पड़ाव तय करने थे।

मुझे लगा कि जो-कुछ भारत में हुआ, उसकी व्याख्या के लिए मुझे संक्षेप में ही सही, पश्चिम के अनुभवों पर प्रकाश डालना चाहिए। इसलिए भारत की स्वतन्त्रता की कहानी की भूमिका के रूप में मैंने यूरोप में हुई प्रगति के इतिहास का सार-तत्त्व देने का प्रयत्न किया है।

भारत-द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति एक चमत्कारपूर्ण घटना है। यह एक सभ्यता का एक राष्ट्रीयता में रूपान्तर है। यह राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की स्थापना के माध्यम से राष्ट्रीयता की पूर्णता है। अपनी प्रगति के पूरे मार्ग में यह जितना अन्य की हिंसा के विरुद्ध एक आन्दोलन रहा, उतना ही अपनी असंगतियों के खिलाफ एक आवाज़ भी। मतलब यह कि विदेशियों और स्वयं अपने लोगों, दोनों के सन्दर्भ में यह एक नैतिक संघर्ष था। और, जहां हर जगह ऐसे संघर्ष रक्तपात से परिपूर्ण रहे हैं, वहां भारतीय आन्दोलन अत्यन्त तीव्र और यातनाओं से ओतप्रोत होते हुए भी अहिंसक बना रहा।

स्वतन्त्रता का इतिहास एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। इसका पहला चरण उस सीमा तक प्रतिपक्षात्मक था जहां तक वह प्राचीन व्यवस्था के विनाश का आग्रही था। यह उस प्रक्रिया का प्रतिपादन है, जो अठारहवीं सदी के मध्य में आरम्भ हुई और सन् 1857 के विप्लव में जिसकी परिणति हुई। दूसरा चरण है एक नई व्यवस्था का उद्भव, जिसने सन् 1857 के बाद की आधी शताब्दी में क्रमशः ज़ोर पकड़ा। तीसरा चरण है, प्राचीन एवं नवीन व्यवस्थाओं की तथा पूर्व एवं पश्चिम की भावनाओं के संघर्ष और संगम का और भारत राष्ट्र नामक एक नई इकाई के संसार में प्रवेश पाने का।

एक द्वन्द्वात्मक विषय-वस्तु को मैंने तीन खण्डों में प्रस्तुत किया है जिनमें से यह पहला खण्ड विवेचन के प्रथम अंश से सम्बन्ध रखता है।

भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखा जाए—यह विचार प्रथमतः भारत-सरकार के तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री दिवंगत मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के मन में उठा था। मौलाना आज़ाद में एक विद्वान् तथा राजनीतिज्ञ का और पुरानी दुनिया की परिष्कृति तथा संस्कृति एवं स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए,आधुनिक उत्कण्ठा का एक दुर्लभ सम्मिश्रण था। अपने जीवन का बड़ा भाग उन्होंने संघर्ष में बिताया। इस उद्देश्य की वेदी पर उन्होंने अपना सब-कुछ अर्पित कर दिया। अपनी सारी शक्ति—अपनी अद्वितीय वक्तृता अपनी सन्तुलित निर्णय-क्षमता अपने विवेकपूर्ण परामर्श, अपनी उदार देशभक्ति, अपनी तीव्र लगन, अपना आत्मसम्मान, अपना आदर्शवाद, सब-कुछ—उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की वेदी पर न्योछावर कर दी। फिर भी, प्रचण्ड संघर्षों और चैन की सक्षिप्त अवधियों के बीच ज्ञान के प्रति अपने अनुराग को उन्होंने कभी नहीं त्यागा। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी अद्भुत थी और उनका मस्तिष्क उर्दू, फ़ारसी अरबी आदि कितनी ही भाषाओं की कविताओं का कितने ही देशों के इतिहासों का एवं धार्मिक कथाओं का खज़ाना था। अपनी पुस्तकों के बीच बैठ कर अथवा साहित्यिक कार्यों में व्यस्त रह कर उन्हें सर्वाधिक प्रसन्नता होती थी। भारत की स्वतन्त्रता उनकी काम्य थी और उसकी उपलब्धि के बाद उसकी कहानी कहना उनकी अति प्रिय इच्छा।

मुझे शिक्षा-मन्त्रालय में लगभग चार वर्ष तक उनके साथ काम करने का सौभाग्य मिला था और इतिहास में मेरी रुचि से वह परिचित थे। अतः यह काम हाथ में लेने के लिए जब उन्होंने मुझसे कहा तब मैंने प्रसन्नता से इसे स्वीकार कर लिया। मैं उनका आभारी हूं कि उन्होंने यह काम करने का अवसर मुझे दिया जो कि मुझे हृदय से प्रिय है। उन्होंने तीन विद्वानों—डा० बी० जी० दिघे, डा० आर० के० परमू तथा डा० बी० एम० भाटिया—को सहायता मेरे लिए उपलब्ध कर दिया। इन सबने हार्दिक और पूरे अनुराग से काम किया है। इस पुस्तक को लिखने में इन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया है और इस खण्ड को पूरा करने में इनसे प्राप्त अमूल्य सहायता के लिए मैं इन सबका

आभारी हूं । वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक मामलों के मन्त्री श्री हुमायूं कबीर को भी मैं उनकी सहायता के लिए धन्यवाद देता [redacted] । इस कार्य में उन्होंने जो रुचि और उत्सुकता दिखाई, उसकी मैं कद्र करता हूं क्योंकि यदि वह इसमें रुचि न लेते तो कितनी ही कठिनाइयों को विशेषकर प्रकाशन-सम्बन्धी कठिनाइयों को हल करना सम्भव न होता । मैं भारत के राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय के निदेशक और कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने अपने अभिलेखों एवं पुस्तकों के अध्ययन की सहज अनुमति मुझे प्रदान की ।

नई दिल्ली, —ताराचन्द

5 जनवरी 1961

विषय-सूची

भूमिका

1 सिंहावलोकन

अठारहवीं शताब्दी में भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व जम गया। भारत के इतिहास में लगभग पहली बार ऐसा हुआ कि इसके प्रशासन और भाग्य निर्णय की डोर एक ऐसी विदेशी जाति के हाथों में चली गई, जिसकी मातृभूमि कई हज़ार मील दूर अवस्थित थी। इस तरह की पराधीनता भारत के लिए एक सर्वथा नया अनुभव थी, क्योंकि यों तो अतीत में भारत पर कई आक्रमण हुए थे और समय-समय पर भारतीय प्रदेश के कुछ भाग अस्थायी तौर पर विजेताओं के उपनिवेशों में शामिल हो गए थे, पर ऐसे अवसर कम ही आए थे और उनकी अवधि भी अत्यल्प ही रही थी। उदाहरण के लिए ईरान के अकेमिनियन साम्राज्य में भारत के सीमान्त प्रदेश शामिल थे और सिन्धु घाटी से कर वसूला जाता था, कुषाणों ने कश्मीर और उत्तर-पश्चिमी भारत को जीत लिया था और एक शताब्दी से भी अधिक समय तक वे इन प्रदेशों पर शासन करते रहे थे। पह्लवों, शकों और हूणों की भी घुसपैठ अल्पकालीन ही सिद्ध हुई थी। गजनवी उपनिवेश में पंजाब सम्मिलित था और सिन्ध पर अरबों का शासन था। अस्थायी शासन की इन घटनाओं के अलावा भारत को कई आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा था, किन्तु आक्रान्ताओं के वे तूफानी अभियान इस देश को कुछ ही समय तक रौंदने के बाद आगे बढ़ गए थे। इनमें प्रमुख थे सिकन्दर, तैमूर, नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली। जिन विजेताओं ने भारत के अधिकांश पर स्थायी साम्राज्य स्थापित किए, वे थे—आरम्भिक मध्य-युगों में तुर्क और बाद में चग़ताई मुग़ल।

उत्तर-पश्चिमी भारत पर शासन करनेवाले कुषाण विजेता पूरी तरह भारतीय बन गए थे। उन्होंने भारतीय धर्मों, भारतीय भाषाओं और भारतीय रीति रिवाजों को अपना लिया था। वे भारतीय समाज में घुल मिल गए थे। लेकिन अफ़गानिस्तान अथवा मध्य-एशिया से आनेवाले आरम्भिक मुसलमान विजेताओं का इतिहास इनसे भिन्न रहा। महमूद गजनवी, शहाबुद्दीन गोरी अथवा बाबर के बाद जो मुसलमान सैनिक तथा सेनापति, विद्वान् तथा व्यापारी भारत आए उन्होंने शकों, कुषाणों और हूणों के विपरीत भारत में अपने पृथक् व्यक्तित्व को मिटने नहीं दिया। वे अपने धर्म पर तो दृढ़ रहे ही अपनी संस्कृति के अधिकांश को उन्होंने ज्यों-का-त्यों रखा, लेकिन इस देश में स्थायी रूप से बसने का उन्होंने निश्चय किया। अपने विदेश स्थित ठिकानों से उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद किया और भारतीयों के साथ अपना भाग्य जोड़ा। जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं ने उन्हें अपनी प्रजा के साथ अधिकाधिक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने को विवश किया। नए वातावरण के अनुसार और प्रशासन के हित में, उन्होंने शासन और व्यवस्था-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं में भी परिवर्तन किए। अपने कितने ही विदेशी रीति रिवाजों को उन्होंने त्याग दिया और भारतीय जीवन तथा संस्कृति के तत्वों को ग्रहण किया। एक नए धर्म के आ जाने से धार्मिक क्षेत्र में भारत समृद्ध हुआ और नए तत्वों के समाहित होने से उसकी सतरंगी सभ्यता में और विविधता उत्पन्न हुई।

इस प्रकार यद्यपि मुस्लिम आधिपत्य के कारण भारत के प्राचीन समाज में कई राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आए तथापि उसकी प्राचीन संस्कृति का आधार और स्वरूप बहुत कुछ ज्यों-का-त्यों रहा। भारतीयों ने नवागन्तुकों को काफी-कुछ दिया और बदले में बहुत-कुछ प्राप्त किया। उन्होंने विजेताओं-द्वारा प्रचलन में लाई गई नई सामाजिक पद्धतियां सीखीं। कट्टर एकेश्वरवाद और समतावादी समाज पर बल देनेवाले इस्लाम धर्म के प्रभाव ने कतिपय प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कीं और हिन्दू धर्म तथा सामाजिक पद्धतियों में एक आलोडन पैदा हुआ जिसके फलस्वरूप दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों तथा रीतियों में समन्वय स्थापित हुआ। मुसलमानों की भाषाओं और साहित्यों ने हिन्दुओं की वाणी और लेखन पर व्यापक प्रभाव डाला। नए शब्द मुहावरे और साहित्यिक विधाओं ने इस देश की धरती में जड़ें जमाईं और नए प्रतीकों तथा धारणाओं ने उनकी विचार-शैली को सम्पन्न किया। एक नई साहित्यिक भाषा विकसित हुई और कितनी ही मध्ययुगीन भारतीय आर्य बोलियां आधुनिक साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रस्फुटित हुईं। वास्तु-कला चित्र-कला और संगीत-कला के साथ साथ अन्य कलाओं में भी भारी परिवर्तन आए और ऐसी नई शैलियों ने जन्म लिया जिनमें दोनों के ही तत्त्व विद्यमान थे। तेरहवीं शताब्दी में यह जो प्रक्रिया आरम्भ हुई वह पांच सौ वर्ष तक चलती रही।

सोलहवीं शताब्दी में बाबर ने अफगान-वंशीय लोदी-परिवार को उलट दिया। उसके उत्तराधिकारियों ने भारतीय हितों को ही अपना हित माना और कुल मिला कर ऐसी नीतियों का अनुसरण किया जिनके द्वारा राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक सौमनस्य की प्रवृत्तियों को बल मिला। भारत के अधिकांश पर मुगल साम्राज्य के विस्तार के दूरव्यापी परिणाम निकले। इसके फलत जातीय सरदारी प्रथा और खुदमुख्तार रियासतों का खात्मा हो गया। उन दोहरे आधिपत्यवाली राजनीतिक इकाइयों को भी जिनकी सत्ता को समय-समय पर मौर्य, कुषाण अथवा गुप्त-जैसे साम्राज्यों ने सीमित किया था एक ऐसे साम्राज्य के संगठन में कस लिया गया, जिसका शासन सीधे केन्द्र से होता था। अर्द्ध-स्वतन्त्र कबीलों के थोड़े-बहुत इलाके और सीमा पर बिखरी कुछ जागीरदारियां तथा रियासतें ही बच रहीं।

मुगल-सम्राट और उनके प्रमुख सामन्त कला तथा साहित्य के सुयोग्य संरक्षक थे। ब्रज अथवा बंगला मराठी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को, जो परिष्कृत हिन्दुत्व और भक्ति-सम्प्रदाय (प्रेम और सेवा का धर्म) का वाहन बन चुकी थीं राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। सम्राट और उसके प्रान्तीय सूबेदारों के दरबार कला और संस्कृति के केन्द्र बन गए थे। पहाड़ी प्रदेशों राजस्थान मध्य भारत और दक्षिण के हिन्दू शासक मुगलों के संरक्षण में विकसित शैलियों का अनुसरण करते थे।

मुगलों की राजनीतिक प्रणाली और भारत के सांस्कृतिक आदर्श उस सामाजिक आर्थिक आधार पर प्रतिष्ठित थे जो छोटे मोटे परिवर्तनों के सिवा सम्पूर्ण प्राचीन और मध्य युगीन इतिहास में अधिकांशत सुस्थिर रहा। उसका आरम्भ सम्भवत भारत में आर्यों के प्रारम्भिक निवास-काल में हुआ था।

यह सामाजिक आर्थिक समबद्धता भारतीय इतिहास की एक उल्लेखनीय विशेषता है। भारत के लोगों की बहुरंगी संस्कृति में जो एकरूपता मिलती है,

उसका स्रोत यही है। इस प्रकार यद्यपि भारत में दर्जनों धर्म, भाषाएं और जातियां हैं तथापि जीवन के प्रति इनका मूलभूत दृष्टिकोण सैकड़ों-हजारों वर्षों से एक-सा रहा है। विभिन्न युगों में संस्कृतियों की संख्या में वृद्धि के बावजूद उनमें एक विशेष भारतीयता रही है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि भारत का सामाजिक-आर्थिक ढांचा, जिसका मूल आर्यों के प्रथम आगमन और उनके द्वारा पहले के आर्येतर भारतीयों को अपने में मिला लेने में निहित है, उन्नीसवीं शताब्दी तक बिना किसी मौलिक परिवर्तन के चलता रहा। इसका कारण शायद यह है कि प्रारम्भ के दिनों में भारत का जातीय स्वरूप एक बार जैसा बन गया वैसा बन गया और आगे चलकर उसमें बहुत ही कम परिवर्तन हुए। यह स्वरूप निर्माण उस समय हुआ जब प्रवासी आर्य भारत आए—शायद वे कई दलों में बंट कर आए और उन्होंने भारत के विभिन्न भागों पर अधिकार किया। इन प्रदेशों में बसे के मूल निवासियों को विभिन्न प्रकार से और विभिन्न संख्या में ग्रहण किया गया और इस प्रकार इन अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाएं स्थापित हुईं। लेकिन आरम्भ की छाप इन सब पर बनी रही और जो परम्पराएं एक बार बन गईं वे बाद के जातीय स्थानान्तरण तथा अन्य गड़बड़ियों के कारण बदल नहीं पाईं। ये परम्पराएं भारतीय जनता में आर्य, द्रविड़ और आदिवासी तत्वों के सम्मिश्रण का परिणाम थीं। चूंकि अस्थायी सत्ता और स्थायी आधिपत्य का जन-साधारण पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा, इसलिए परम्पराओं में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। बाद में शक, हूण, जाट और गूजर जैसी जातियों का आगमन समुद्र में छोटी-छोटी लहरों से अधिक सिद्ध न हो सका और ये जातियां उसके विस्तार में खो गईं।

तेरहवीं शताब्दी में जब मुसलमान विजेताओं ने अपना साम्राज्य स्थापित किया तब भारत में एक नई संस्कृति ने प्रवेश किया। तब प्राचीन और नवीन का मिलन हुआ और दोनों के बीच आदान-प्रदान हुआ। इस प्रक्रिया में एक जटिल स्थिति पैदा हो गई।

समाज के जातीय एवं आर्थिक आधार में अत्यल्प परिवर्तन हुआ। गांव सामुदायिक जीवन की आत्मनिर्भर इकाई के रूप में काम करता रहा। उद्योग और व्यापार में संगठन अथवा पद्धति-सम्बन्धी कोई खास सुधार नहीं हुआ और वे ज्यों-के-त्यों चलते रहे। हिन्दू और मुस्लिम-समाज का दो वर्गों—अधिकार-सम्पन्न, भूस्वामी और शासक-वर्ग तथा प्रशासन-कार्यों में भाग नहीं लेनेवाला अधिकार-शून्य भोक्ता-वर्ग—में विभाजन कायम रहा। राजनीतिक प्रणाली में कोई अन्तर नहीं आया। प्रशासन और जनता का परस्पर सरोकार बहुत ही कम और कच्चे थे, कारण प्रशासन का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित था—प्रतिरक्षा के सवाल—बाहर और अन्तर्व्यवस्था कायम करने के लिए एक सेना खड़ी करना और सेना का खर्च पूरा करने के लिए कर उगाहना। विधान-निर्माण उनके कार्य-क्षेत्र से बाहर था—इसी प्रकार न्याय-व्यवस्था का अधिकांश भी। विधान-निर्मात्री संस्थाएं थीं ही नहीं। दीवानी और व्यक्तिगत मामले अधिकतर पंचायती संस्थाओं द्वारा निबटाए जाते थे।

जहां तक धर्म का सम्बन्ध है यद्यपि निम्न वर्ग के लोग अन्धविश्वासों में डूबे रहे, और बुद्धिजीवी-वर्ग पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा तथापि आदान-प्रदान द्वारा

हुआ। इस्लाम के प्रभाव से हिन्दुओं में नए मतों और सम्प्रदायों ने जन्म लिया और उदारमना मुसलमान सूफियों तथा विद्वानों ने हिन्दुओं के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा आत्मसंयम की पद्धतियों को अपनाया। साहित्य और कला के क्षेत्र में, हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का बहुत अधिक सम्मिश्रण हुआ। लेकिन कानून के क्षेत्र में पारस्परिक आदान-प्रदान बहुत ही कम हो पाया।

हाँ, सांस्कृतिक सामंजस्य अवश्य हुआ, पर एक राष्ट्रीय चेतना जगाने में वह असफल रहा, क्योंकि वर्ग और सम्प्रदाय जिन कठोर साँचों में जकड़े थे, उन्होंने उन्हें एक-दूसरे से मिलने नहीं दिया।

राज्य ने इस चेतना को बढ़ावा नहीं दिया और एक ही देश में साथ-साथ रहने के कारण जन-वर्गों में जो सम्पर्क पैदा हुआ था, उसके सिवा ऐक्य भावना को बढ़ाने के लिए सचेत प्रयास बहुत ही कम हुआ। आर्थिक और सामाजिक विकास ने भी प्रादेशिक अनुराग अथवा व्यक्ति की समस्त देशवासियों के साथ एकरूपता की भावना को बढ़ावा नहीं दिया।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल-साम्राज्य का ढाँचा चरमराने लगा और समय बीतने के साथ-साथ उसके पतन की गति तीव्र होती गई। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का शासन की आर्थिक स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा—राजस्व घट गया, सवार-साधन लड़खड़ा गए और उद्योग व्यापार तथा कृषि को स्थानीय स्वरूप मिलने लगा। केन्द्र विरोधी शक्तियाँ हावी होने लगीं, न्याय और व्यवस्था बिगड़ गई, वैयक्तिक एवं सार्वजनिक नैतिकता हिल गई। साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए और विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक शत्रुओं का मुकाबला करने की उसकी शक्ति टूट गई।

ठीक इसी संकट की घड़ी में यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप आरम्भ किया।

सन् 1498 में जब वास्को दि-गामा कालीकट के बन्दरगाह पर उतरा तब एशिया और यूरोप के सम्बन्धों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। दोनों महाद्वीपों के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता प्राचीन काल से चली आ रही थी वह पन्द्रहवीं शताब्दी में स्पेन से अरबों के हट जाने और बाल्कन प्रदेश में तुर्कों के पुनः आगे बढ़ने के साथ समाप्त हो चुकी थी। स्पेन और पुर्तगालवालों ने मुसलमानों का पीछा करते हुए समुद्रों की छान मारी और पश्चिम की ईसाई शक्तियों को अबीसीनिया में प्रीस्टर जान के काल्पनिक राज्य के साथ मिलाने का यत्न किया और इस प्रकार निरन्तर आगे बढ़ कर उत्तर-अफ्रीका और पश्चिम-एशिया के मुसलमानों को कुचलने का उपक्रम किया। अपने इन सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने अफ्रीका की लम्बी परिक्रमा की, अरब-सागर को पार किया और वे भारत के पश्चिमी तट पर आ लगे।

पुर्तगाली साहसिकता के दूरगामी परिणाम निकले। प्रथमतः इसने तुर्कों और अरबों के जहाजों को भारतीय समुद्रों से निकाल बाहर किया और इस प्रकार, मध्यकालीन वेनीशियनों के जमाने और उससे भी पहले से भारत तथा पश्चिम-एशियायी यूरोपियनों के बीच जो शान्तिपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध चलते आ रहे थे वे समाप्त हो गए। भारतीय आयात और निर्यात का सामान भारतीय और

ण्गियायी जहाजों में लाया और ले जाया जाता था, वह सब अब पुर्तगाली जहाजों में लाद-लाद लगा और भारतीय जहाजरानी उद्योग को घातक आघात पहुंचा। दूसरी बात चूंकि भारतीय नौचालन समाप्त हो गया, इसलिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गए और गंगा के प्रदेश से परे बर्मा से लेकर इण्डोनेशिया तक के देश भारतीय प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो गए। जिस भारतीय संस्कृति ने थाईलैण्ड, कम्बोडिया और इण्डोनेशिया की शानदार और अद्भुत उपलब्धियों को प्रेरणा दी थी जिसने मजापहित सुमात्रा जावा और पूर्वी द्वीप-समूह के द्वीपों के पार तक फैले विशाल साम्राज्यों के निर्माण में सहायता दी थी और जिसने इन प्रदेशों को एक नया धर्म और नई सभ्यता प्रदान की थी उसकी प्रगति अचानक अवरुद्ध हो गई।

सबसे बड़ी बात यह है कि पुर्तगालियों का भारतीय तट पर पांव रखना भावी का एक पूर्व-संकेत था। विज्ञान के नए आविष्कारों, मानव की प्रतिष्ठा और समाज के संगठन के नए आदर्शों तथा भौतिक उन्नति और राष्ट्रीय शक्ति की नई कल्पनाओं से उत्प्रेरित होकर एक पुनरुज्जीवित और आत्म-विश्वासयुक्त यूरोप कर्मक्षेत्र में जुट पड़ा था और उसने पूरब के सबसे समृद्ध देश के द्वारों को खटखटाना आरम्भ कर दिया था।

लेकिन अकबर महान और शान शौकत-पसन्द शाहजहां का अपार वैभव सम्पन्न अपनी कलाओं के लिए दूर-दूर तक विख्यात और देदीप्यमान संस्कृतिवाला भारत अठारहवीं सदी में पहुंच कर अपनी ताकत खो चुका था। वह मुगल साम्राज्य के नाम-मात्र के प्रभुत्व के नीचे गांवों, जातियों या उपजातियों, कबीलों और ताल्लुकों का एक मध्य-युगीन बड़ पिण्ड-मात्र रह गया था। भारत की अर्थ व्यवस्था कृषि-प्रधान थी, उसकी कार्य प्रणाली अत्यन्त पुरानी थी, उसका संगठन संकुचित था, उसका मन्द गुजारे के लायक चीजों का उत्पादन था। भारत का उद्योग बहुत छोटे पैमाने का था और उसका उद्देश्य या तो अमीरों के लिए विलास-सामग्री बनाना था या स्थानीय बाजार की मामूली जरूरतों को पूरा करना। इसमें पूंजी का योगदान बहुत ही नगण्य था। इसके विपरीत यूरोप समुद्र-पारीय बाजारों का विकास कर रहा था। वह अमेरिका से मान और चांदी के खजाने ला रहा था जिससे उद्योग और वाणिज्य को नवजीवन मिल रहा था। तेजी से बढ़ती हुई पूंजी के प्रभाव में विशेषज्ञता का विकास हो रहा था और व्यापारी एवं बढ़ईगर मूल्यवान मशीनों पर छाते जा रहे थे। यूरोप के दिमाग को जो बन्धन-मुक्त कर रहा था और उसे नए-नए खोजों तथा आविष्कारों के लिए उकसा रहा था वह उग्र वैज्ञानिक आन्दोलन भारतीय बुद्धि को अभी तक स्पर्श तक नहीं कर पाया था। भारत का सामाजिक आचरण उन सशक्त भावनाओं से अनुप्राणित नहीं हुआ था जो यूरोप के सामन्तवादी एवं चराचर समाज को सुसंगठित ठोस राष्ट्रों में रूपान्तरित कर रही थीं। यूरोप में धर्म का युग समाप्त हो रहा था और तर्क का युग उदयोन्मुख पर था, जब कि भारत के उच्चतम मनीषियों का दृष्टिकोण अभी तक परम्परानुगत था और उनका सर्वोच्च आदर्श था परमतत्व के साथ एकाकार होना।

सत्रहवीं शताब्दी में भारत का गौरव अपनी पराकाष्ठा पर था और उसकी मध्य-युगीन संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। पर एक-के-बाद-एक बड़े-बड़े शताब्दियां बीतीं, वैज्ञानिक यूरोपीय सभ्यता का सूर्य तेजी से आकाश के मध्य की ओर

बढ़ने लगा और भारतीय गगन में अन्धकार छाने लगा। फलतः जल्दी ही देश पर अंधेरा छा गया और नैतिक पतन तथा राजनीतिक अराजकता की परछाइयां लम्बी होने लगीं।

पुर्तगाल ने अपने दूर-दूर तक फैले साम्राज्य को बनाए रखने के लिए बहुतेरे हाथ-पैर फेंके। लेकिन सन् 1580 में जब वह स्पेनी ताज के अधीन हो गया तब दौड़ में पीछे छूट गया। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में लगता था कि स्पेन समस्त संसार को अपने चरणों में झुका लेगा, लेकिन उसकी लचर-पचर अर्थ-व्यवस्था और संकुचित धार्मिक कट्टरता ने उसे परेशानी में डाल दिया। नीदरलैण्ड, फ्रांस और इंगलैण्ड-जैसे छोटे और युवा पर उत्साही देशों ने उसका सिर नीचा कर दिया। उन्होंने उसके जहाजी बेड़े को समुद्र से निकाल बाहर किया और नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। धीरे-धीरे नीदरलैण्ड ने भी दम तोड़ दिया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मैदान में केवल दो प्रतिद्वन्द्वी—इंगलैण्ड और फ्रांस—रह गए। आरम्भ में फ्रांस आगे बढ़ता दीखा। उसकी नई और सशक्त नीतियों ने दक्षिण में उसके प्रभाव को सर्वोच्च बना दिया, लेकिन शीघ्र ही सन् 1789 की क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई आन्तरिक विग्रह की परछाइं समुद्र-पार तक फैल गई और भारत में फ्रांस के प्रतिनिधियों को अपने देश की सरकार से वह स्थायी सहायता नहीं मिल सकी, जिसके बिना अन्तिम विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। सप्तवर्षीय युद्ध ने फ्रांस की महत्वाकांक्षाओं को अन्तिम रूप से कुचल दिया और मैदान एकमात्र अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

अंग्रेजों ने फ्रांस-द्वारा ईजाद किए गए तरीकों को सीख लिया था। उनके प्रयोग में वे उन्हें भी मात दे गए। उन्होंने भारतीय शासकों की कमजोरियों और मूर्खताओं का पूरा लाभ उठाया और स्वयं भारतीयों की सहायता से पूरे भारत के मालिक बन बैठे। उपनिवेश-स्थापना में जिम्मेदारियां निहित थीं। अंग्रेज व्यापार करके लाभ कमाने आए थे। वे राज्य के खजाने में आनेवाले राजस्व का उपयोग निर्यात के लिए भारतीय माल के उत्पादन और खरीद में करने लगे। वाणिज्य की ओर मालगुजारी उगाहने की तत्परता से प्रेरित होकर एक प्रशासन-यन्त्र की स्थापना की गई। इस प्रकार, एक मध्ययुगीन समाज-पद्धति का भारी बोझ ढोनेवाला और फिर भी कला, साहित्य, दर्शन तथा धर्म की सम्पन्न थाती का स्वामी भारत विजेता, अहंकारी और प्रगतिशील उस ब्रिटेन के आमने-सामने आ पहुंचा जो अपने नैतिक और भौतिक स्वरूप में एकदम आधुनिक था।

पूरब और पश्चिम के इस मिलन से अद्भुत परस्पर विरोधी परिणाम निकले—शुभ और अशुभ का मिश्रण सामने आया। पहला नतीजा यह निकला कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल बनाया और ढाला गया। साथ ही गरीबी, जनसंख्या और भूमि पर दबाव—ये सब बढ़ गए। एक विशाल भौतिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। दूसरे, भारत का मस्तिष्क बहुत गहराई तक आंदोलित हो उठा। एक ओर तो जनता में राष्ट्र बनने की भावना पैदा हुई और पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया गया, और दूसरी ओर पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों का चलन हुआ और पूर्वजों के गौरव का अभिमान पुष्ट हुआ। फलतः राष्ट्रीय चेतना जागी जिसका अन्तिम फल यह निकला कि एक स्वाधीन, उत्तरदायी तथा लोक-

तान्त्रिक राज्य के रूप में स्वतन्त्रता प्राप्ति की कामना बलवती हुई। लेकिन इस जाग्रति के साथ ही दुर्भाग्यपूर्ण साम्प्रदायिक आवेश और वर्ग भेद ने भी सिर उठाया। भारत वैदेशिक आधिपत्य से तो अतीत में भी लम्बी-लम्बी अवधियों तक मुक्त रहा था, पर स्वतन्त्रता एक नई धारणा थी। शायद एकदम नई धारणा भी यह नहीं थी, क्योंकि भारतीय दर्शन—हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम—आत्मा की आन्तरिक स्वतन्त्रता के विचार से परिचित था। वस्तुतः स्वतन्त्रता इसका केन्द्रस्थ भाव था। फिर भी, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का सन्देश नया था।

इस परिवर्तन की प्रक्रिया ही इस पुस्तक का विषय है। भारत का रूपान्तर और राष्ट्रीय चेतना का विकास पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम था। लेकिन स्वयं पश्चिम में राष्ट्रवाद एक काफी हाल की चीज थी। अठारहवीं सदी तक यह भावना यूरोप के सुदूर पश्चिम के देशों तक सीमित थी। वहां से यह उन्नीसवीं सदी में केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप में फैली और बाद में संसार के सभी देशों में इसका प्रसार हो गया।

यूरोप में राष्ट्रवादी समाजों की उत्पत्ति सामाजिक विकास क्रम में सबसे हाल की घटना है। यूरोप ने सामन्तवाद से आरम्भ किया, सोलहवीं शताब्दी में उसने वाणिज्यवादी व्यवस्था को अपनाया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य के बाद वह औद्योगिक पूंजीवाद तथा राष्ट्रवाद की ओर बढ़ा। दूसरी ओर, भारत अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उस प्राचीन प्रणाली पर कायम रहा, जिसकी तुलना यूरोपीय सामन्तवाद से की जा सकती है। तब पाश्चात्य प्रभाव के आघात ने पुराने ढांचे को चरमरा दिया और एक परिवर्तन क्रम की ओर उसे ढकेला जिसकी परिणति स्वतन्त्रता में हुई।

ऐसी विश्वव्यापी हलचल इस तथ्य को प्रदर्शित करती है कि इतिहास को संकीर्ण बना कर नहीं समझा जा सकता। विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले लोग कितने ही अलग-अलग क्यों न दीखें, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुंचनेवाले प्रभावों के प्रति खुले रहते हैं। फलतः एक देश में हुई घटनाओं पर संसार के दूसरे हिस्सों में घटित घटनाओं से उन्हें पूरी तरह काट कर, विचार नहीं किया जा सकता। इतिहास अनिवार्यतः एक विश्व-इतिहास है और जिस समय मानव धरती पर प्रकट हुआ तभी से वह केवल अपने भौतिक वातावरण से ही नहीं, बल्कि मानवीय वातावरण से भी प्रभावित होता आ रहा है।

इन्हीं कारणों से भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव और स्वतन्त्रता की प्राप्ति को आत्मगत करने के लिए पाश्चात्य समाजों के इतिहास का अध्ययन करना और राष्ट्रवाद के विकास का आरम्भ से अन्त तक समग्र लेना बहुत जरूरी है।

2 यूरोप में राष्ट्रवाद का विकास

प्राचीन यूरोप का विध्वंस

यूरोप में राष्ट्रवाद बहुत बाद में प्रकट हुआ, लेकिन उसकी जड़ें बहुत पहले के इतिहास में भी काफी गहरी हैं। यूरोपीय राष्ट्रवाद के निर्माण में बहुत-से कारणों ने भाग लिया पर वे अलग-अलग युगों में सक्रिय रहे। इनमें से दो का—जाति और संस्कृति का—मूल तो सुदूर अतीत में है। यद्यपि यूरोपीय राष्ट्रों का जातीय संगठन विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है तथापि उनका प्रमुख तत्व आर्य रक्त ही है। इन देशों में

आर्यों ने ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में बसना आरम्भ कर दिया था। इनके अनगिनत वंशजों में से यूनानियों और रोमनों ने सीमातीत सफलता और गौरव प्राप्त किया। जिन संस्कृतियों को उन्होंने पाला-पोसा उन्हीं के आधार पर आधुनिक यूरोपीय जीवन का ढांचा खड़ा किया गया है।

सबसे पहले यूनानी और रोमन आर्य आकर बसे थे। यूनानी आधार प्रतिष्ठाता थे। रोमनों ने अभिजात हेलेनिक सभ्यता को सारे यूरोप में फैलाया जो स्काटलैण्ड से ईरान तक फैली और कितनी ही शताब्दियों तक जीवित रही। अन्त में इस साम्राज्य को उन बर्बरों ने कुचल डाला जो थे तो आर्य रक्त के ही, पर जो राइन और डेन्यूब-पार के देशों में रहते थे। आर्यों के इस दूसरे स्थान-परिवर्तन के बहुत गम्भीर और महत्वपूर्ण परिणाम निकले।

प्रान्तों में बर्बर ट्यूटानिक जातियों की घुस-पैठ बहुत पहले ही आरम्भ हो गई थी। कई शताब्दियों तक सीमाएं सुरक्षित रहीं, क्योंकि रोम के सम्राटों ने सुरक्षा की एक योजना कार्यान्वित की थी जिसने बर्बरों को पीछे ढकेल रखा था। लेकिन अन्ततः आन्तरिक कलह और विग्रह ने साम्राज्य के शक्ति-स्रोत को सुखा डाला और सन् 378 ईसवी में उसकी सेनाओं को एड्रियनपाल में बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी। सम्राट वेलन्स मारा गया। सौ वर्षों के भीतर गाथ, वण्डाल, फ्रैंक और दूसरी ट्यूटानिक जातियां उमड़ पड़ीं और उन्होंने इन प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

जब ट्यूटानिक दल रोम की सुरक्षा-पंक्तियों का विध्वंस कर रहे थे, तभी एक दूसरा गम्भीर खतरा पैदा हो गया। हूणों ने एशिया के मैदानों को पार किया और वे पूर्वी यूरोप में घुस आए। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी गाथों को अपने अधीन किया और अपना प्रभुत्व राइन तक फैलाया। तब उनके महान नेता अतिला के अधीन उस शक्तिशाली सेना ने राइन को पार कर गाल (आधुनिक फ्रांस) में प्रवेश किया। पर मारियेका के युद्ध (सन 451 ईसवी) में रोम की इज्जत बच गई और हूणों की बाढ़ उतर गई। रोम की सेनाओं की यह अंतिम विजय थी क्योंकि शीघ्र ही सन् 476 ईसवी में रोम गाथों के कब्जे में चला गया और इस देवपुरी का शानदार ढांचा धूल में मिल गया।

रोमनों ने जिस जीवन-पद्धति का निर्माण किया था, वह जड़ से उखड़ गई। नए बसनेवाले अपने साथ अपने रीति-रिवाज और संस्थाएं भी लाए थे। और यद्यपि इन नए लोगों ने अभिजात संस्कृति के अवशिष्ट तत्वों को ग्रहण किया, तथापि यूरोप में एक पूर्णतः नई संस्कृति पनप उठी।

रोम के पतन के बाद के युग में आक्रामक जातियां स्थिर रूप से बस गईं और उन्होंने एक नई व्यवस्था विकसित करने का प्रयत्न किया। फ्रैंक जाति के शासक शार्लमेन ने तो आठवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य को पुनरुज्जीवित भी किया। किन्तु नौवीं शताब्दी में करोलिंजियन व्यवस्था भी बिखर गई और विप्लव की तीसरी लहर आरम्भ हुई। उत्तर की जातियां अथवा स्कैण्डिनेवियन दलों के वाइकिंग लोगों, बाल्टिक तट की स्लाव जातियों, पूरब के मगियारों और दक्षिण के सरासेनों ने यूरोप की ट्यूटानिक जातियों पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया। वाइकिंग लोग ब्रिटेन, फ्रांस और यूनान में तबाही मचाते रहे और साम्राज्य के प्रदेशों में बहुत पहले से बाल्टिक तट के दलदलों में निवास करनेवाली स्लाव जातियां पूर्वी यूरोप में बस गईं।

इस बीच अरब उत्तर-अफ्रीका को जीत चुके थे और स्पेन में घुस आए थे। उन्होंने गाथ राज्यों को उलट दिया और पाइरिनीज को पार करके वे फ्रांस तक घुस आए। पर फ्रैंक लोगों ने उन्हें सीमा पर ही रोक दिया।

इस प्रकार भयानक हत्याकाण्डों, विप्लवों और हिंसाओं के बीच यूरोपीय राष्ट्रों की नींवें रखी गईं। विनाग्रदाफ के शब्दों में "मोटे रूप में सन् 476 से सन् 1000 तक का यूरोपीय इतिहास का पूरा समय, प्रथम दृष्टि में लगता है कि एक विप्लवपूर्ण उफान का युग था, जिसमें किन्हीं भी प्रेरक सिद्धान्तों और सुस्थापित संस्थाओं को खोज पाना लगभग असम्भव है। कबायली जातियों के देश-परिवर्तन ने रोमन साम्राज्य को उलट दिया था। मगियारों और मूरों के आक्रमणों और उत्तर की जातियों-द्वारा किए गए विध्वंसों ने उस कबायली समाज को अस्त-व्यस्त कर दिया था, जो रोमन साम्राज्य के बाद अस्तित्व में आया था। उस समय वहां जीवन और सम्पत्ति की अत्यधिक अरक्षा की स्थिति वर्तमान थी और इस स्थिति ने उस आकार को रूप दिया, जिसमें आगे मध्य-युगों में यूरोपीय समाज ढला। हर कहीं केन्द्रीय सत्ता लुप्त हो चुकी थी और उसी के साथ राजकीय करा-धान की प्रणाली भी नष्ट हो गई थी। विशाल सामाजिक संगठन इस आर्थिक व्यवस्था के कारण टिक नहीं सकते थे। उत्पादन घट गया था, व्यापार नष्ट हो गया था और यूरोप को एक नैसर्गिक अर्थ-व्यवस्था के स्तर से पुनरारम्भ करना पड़ा था। उस समय मानव की दो ही बड़ी समस्याएं थीं: हिंसा से सुरक्षा और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का प्रबन्ध। इनका हल तलाश करने में एक नए सामाजिक संगठन का विकास हुआ। इसके विकास में रोमन और ट्यूटानिक परम्पराओं एवं संस्थाओं ने अपना योगदान दिया। फलतः सामन्तवादी समाज-पद्धति का जन्म हुआ।

सामन्तवाद का उद्भव

इस सामन्तवादी समाज का अर्थ है तीसरा यूरोप। पहला यूरोप, अर्थात् नगर राज्यों का ग्रीक-रोमन यूरोप आठवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त तक बारह सौ वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहा। दूसरा यूरोप अथवा कबायली समाज-संगठनवाला ट्यूटानिक यूरोप पांचवीं शताब्दी में पहले यूरोप की चिता पर बना, लेकिन नौवीं सदी के अन्त तक नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इस प्रकार यूरोपीय सभ्यता की क्रमबद्धता दो बार भंग हुई। तीसरे अथवा सामन्तवादी यूरोप ने अपना जीवन नौवीं शताब्दी में आरम्भ किया। इसने क्रमशः एक विशेष प्रकार की सभ्यता का विकास किया जो तेरहवीं शताब्दी में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा।

तेरहवीं शताब्दी से पश्चिम-यूरोप की जातियां सामन्तवाद का त्याग कर राष्ट्र-वादी राज्यों के रूप में विकसित होने लगीं। मध्य-युगीन यूरोप जिस सांचे में ढला हुआ था, उसे तोड़ डालनेवाली बहुसंख्यक क्रान्तियों ने इस रूपान्तर को जन्म दिया, जिसका क्रम अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पूरा हो पाया।

सामन्ती संगठन मानव की इन तीन प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया—(1) जीवन की सुरक्षा (2) शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली वस्तुओं का उत्पादन और (3) नैतिक तथा धार्मिक पद्धतियों के माध्यम से आन्तरिक गुत्थियों का सुलझाव।

रोटी मानव अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी है, लेकिन वह सिर्फ रोटी के सहारे

हो ता नहीं आता । आत्मा की माग भी इन ज्ञानी, है और यह माग शरीर की माग से कहीं अधिक प्रबल और गहरी भी बन सकती है । मानव आशा तथा भय से विह्वल हो उठता है और उसे पूरा करने अथवा उसका निराकरण करने का प्रयत्न करता है। मध्य-युगीन यूरोप का मानव उन सब अनिष्टों से बचने को आतुर था जिनसे उस भयानक युग में उसका जीवन घिरा था। उसकी आत्मा अधिक उदार और अधिक नैतिक जीवन-पद्धति के लिए तड़पती थी। सामाजिक बुराइयों के प्रति एक ऊब, और भ्रष्टाचार, क्रूरता तथा हिंसा के प्रति एक विराग वह अनुभव करता था। उसमें मन की उच्चतर आकांक्षाओं को पूरा करने की एक माग थी, अपनी प्रतिष्ठा को पुष्ट करने की एक इच्छा थी और उन सामाजिक तथा राजनीतिक बंधनों को ढीला करने की कामना थी, जो उसकी अन्तस्थ स्वतन्त्रता का दम घोंट देती थी।

इस प्रकार मध्य-युग में नैतिक, आर्थिक और धार्मिक—इन तीन तत्वों ने यूरोप के सामाजिक-आर्थिक संगठन को आकार देने में सहयोग किया।

इस प्रणाली को विघटित होने में तीन सौ वर्ष लगे । तेरहवीं शताब्दी में यह अपनी परिणति तक पहुंचा । तब एक क्रमिक पतन आरम्भ हुआ और अन्त में सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था का स्थान व्यापारिक पूंजीवाद ने ले लिया। हुआ यह कि उत्पादन के सामन्ती तरीके विकासशील समाज की जरूरतों को पूरा करने में अयोग्य सिद्ध हो गए और और इस प्रकार कामगार लोगों को उत्पादन साधनों के स्वामियों से सम्बद्ध करनेवाले सम्बन्ध-सूत्र टूट गए। अन्तिम विच्छेद यूरोप के विभिन्न देशों में विभिन्न समयों पर हुआ । इंगलैण्ड में सामन्तवाद का अन्त सत्रहवीं शताब्दी में हुआ, फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और रूस तथा जर्मनी में उसके भी बाद।

सामन्तवादी समाज का सार-तत्व था नैतिक सेवा के साथ ज़मीन की पट्टेदारी। का संयोजन। ऐसा आदमी और आदमी के बीच एक खास किस्म के परस्पर निर्भरता के सम्बन्ध के द्वारा किया जाता था। बड़े लोग आश्रितों की रक्षा करते और उन्हें जीविका जुटाने का भार ग्रहण करते थे और आश्रित अपनी सेवाएं, अपने श्रम के फल का एक अंश, अन्य सहायताएं, दायित्व और स्वामिभक्ति उन्हें अर्पित करते थे। चूंकि आश्रित की गरज बड़ी थी इसलिए तराजू का पलड़ा उसके विरुद्ध रहता था। दोनों को बांधनेवाला सूत्र व्यक्तिगत था । यह पारस्परिक दायित्व को आरोपित करता, उन्हें मान्यता देता एवं एक सोपानिक समाज की सृष्टि करता था ।

इस सामाजिक तन्त्र में दो वर्ग थे—भूकुलीन-वर्ग अथवा वह श्रेष्ठ अल्पसंख्यक वर्ग जो ज़मीनों का स्वामी था, और आश्रितजन वर्ग—भूमिहीन असामी और श्रमिक-वर्ग—जो श्रम करता था और ज़मीन को जोतता था। यह भूस्वामी कुलीन-वर्ग भी दो भागों में बंटा था—योद्धा और पुरोहित । इस प्रकार तीन वर्गों अर्थात् श्रम करनेवाला, युद्ध करनेवाला और उपासना करनेवाला के रूप में सामन्ती संगठन की तीन भुजाएं प्रत्यक्ष थीं।

सामन्ती ग्राम

सामन्ती समाज की इकाई था गांव । विभिन्न देशों में इसके विभिन्न नाम थे । इंग्लैण्ड में इसे मैनर, फ्रान्स में सिन्यिूरी और जर्मनी में ग्राउण्डहरशाफ्ट ।

मकान, खेती के लिए खुले खेत चरागाह तथा ईंधन और लकड़ी के लिए जंगल—ये सब गांव और उसके क्षेत्र में सम्मिलित थे। मूल गांव अधिकांशतया झोंपड़ियों या घरों का एक पुञ्ज होता था। यदि लार्ड गांव में ही रहता था तो उसका भवन और भवन के साथ लगे अन्य हिस्से—जैसे कि बाग और कहीं-कहीं गिरजाघर—भी वहीं होते थे। गांव के बाहर खुले मैदान रहते थे। ये दो असमान भागों में बंटे होते थे। छोटा भाग गांव के लार्ड अथवा मिनिस्टर के लिए सुरक्षित था और बड़े भाग में किसानों के परिवार हिस्सा बांट कर काम चलाते थे। असामी का जोत को 'वर्गेट' अथवा 'याडलैण्ड' नाम दिया जाता था और यह साधारणतया 30 एकड़ होती थी। हिस्सेदारों के हर परिवार को एक निश्चित और स्थायी हिस्सा मिल जाता था जो चार वर्गेट (एक हाइड) से लेकर आधा वर्गेट (हाइड का आठवां भाग) तक होता था। लेकिन यह हिस्सा एक इकट्ठे टुकड़े के रूप में नहीं होता था और एक स्थान तक सीमित नहीं रहता था। यह कई लम्बी और सकरी पट्टियों से जिनमें प्रत्येक साधारणतया एक एकड़ (220 गज लम्बी और 22 गज चौड़ी) की होती थी और जिसे एक दिन में जोता जा सकता था मिल कर बनता था। ये पट्टियां पूरे मैदान में बिखरी होती थीं। मेंड या अनजुती घास उन्हें एक-दूसरे से अलग करती थी। ऐसा बटवारा सहयोगी कृषि की आवश्यकता पैदा कर देता था। इसलिए आठ बैलों से खींचे जानेवाले बड़े-बड़े पहियावाले हल जुताई के लिए एक साथ जोड़ लिए जाते थे। अकेले एक किसान द्वारा काम में लाए जानेवाले बिना पहिया के हल भी इस्तेमाल में आते थे।

जीवन निर्वाह के लिए जिन फसलों की आवश्यकता थी वे सब गांव में उगाई जाती थीं—अन्न की फसलें जैसे राई तथा गेहूं, जौ तथा अंगूर, जिनसे शराब बनती थी, जई, सेम और मटर जो पशुओं के चारे के काम आती थीं और कपड़ा बुनने के काम आनेवाली पटसन। फसल उगाने की पद्धति एक दो या तीन खेतों पर निर्भर रहती थी। खेती की प्रणाली बहुत आदिम कालीन थी, इसलिए उपज बहुत कम होती थी और व्यक्तिगत रूप से किसान के लिए ऐसा कोई आकर्षण नहीं था जिसके चलते वह बढ़िया तरीके इस्तेमाल करता। इस प्रकार एक बुशल बीज बोने पर सिर्फ चार या पांच बुशल ही अन्न पैदा हो पाता था।

गांव के निवासी थे—(1) किसान और मजदूर जो खेत पर काम करते थे और जो मुक्त असामी और कमियें अथवा रयत कहलाते थे, (2) दस्तकार जैसे बढ़ई, चमार, लुहार, सुनार, जुलाहे, कतियें, बेकर आदि (3) गांव के लार्ड के कर्मचारी, जैसे दीवान, भण्डारी, क्लर्क अथवा कानूनगो और लार्ड के स्तर के अनुसार अन्य कारिन्दे (4) लार्ड के परिवार के सदस्य और उसके रिश्तेदार तथा (5) पादरी। पहले तीन अकुलीन-वर्ग के लोग होते थे और बाद के दो कुलीन-वर्ग के।

इन दोनों वर्गों के परस्पर-सम्बन्ध ही सामन्ती समाज को एक विशेष स्वरूप प्रदान करते थे। ये सम्बन्ध उनके जीवन के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी पक्षों को प्रभावित करते थे। ये उत्पादन के उन विशिष्ट तरीकों-द्वारा निर्धारित होते थे, जो तब तक चलते रहे जब तक पूंजीवाद ने उन्हें उखाड़ नहीं फेंका। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में ग्रामीण रचना में प्रमुख रूप से कमियों अथवा रयतों की ही संख्या अधिक थी। बाद में मुक्त असामी संख्या में बढ़ गए और अन्ततः कमिया प्रथा समाप्त कर दी गई। कमियें के हर परिवार को गांव के लार्ड की ओर से

एक घर और घुटे के आ में पट्टिया के रूप में बिखरा हुआ जमीन का हिस्सा मिलता था। इसके अतिरिक्त, चागर सार्वजनिक चरागाह जंगल और मछलियों के लिए नदी का प्रयोग भी वे कर सकते थे। जान, आमतौर जीवन भर के ठेके पर दी जाती थी शीघ्र ही वंशानुगत बन गई। लेकिन जिन शर्तों पर यह जोत रखी जाती थी, वे बड़ी ही कष्टदायक थीं। प्रथम तो कमियों का स्तर गुलामों से बहुत मामूली-सा ही बेहतर था। गुलामों की तरह उन्हें खरीदा या बेचा तो नहीं जा सकता था लेकिन वे अपने स्वामी का छोड़ नहीं सकते थे। कमिया जमीन से बंधा था। यदि कभी वह भागने का प्रयत्न करता, तो सामन्ती प्रथा के अनुसार लाड को उसका पीछा करने, उसे पकड़ने और और उस पर जुर्माना करने का अधिकार था। बिना अनुमति के वह अपनी भूमि न तो बेच सकता था और न किसी अन्य के नाम पर कर सकता था। उत्पादक और भूस्वामी के बीच के सम्बन्ध उस जोर-जबर पर आधारित थे, जिसका अधिकार कानून और प्रथा से प्राप्त था।

कमिया के दायित्व तीन भागों में बांटे जा सकते हैं खेतों का काम, अतिरिक्त सेवाएं और भूमि के उपयोग के बदले में पैसे, अथवा जिन्स के रूप में अदायगी। पहले वर्ग में सबसे प्रमुख था साप्ताहिक श्रम। कमिया का यह कर्तव्य था कि वह लार्ड की निजी भूमि पर काम करने के लिए सप्ताह में सामान्यतः तीन दिन एक आदमी भेजे। उसे अपने हल-बैल जुताई के लिए और घोड़ा-गाड़ी सामान ढोने के लिए देनी पड़ती थी।

उसकी अतिरिक्त सेवाओं में जिन्हें 'उपहार-श्रम' कहा जाता था, फसल काटना, अनाज भरना, खलिहान के समय फसल को लार्ड के गांव ले जाना आदि सम्मिलित थे। उसे सड़कों, पुलियाओं, नहरों, खाइयों, सड़कों, पुलों, भवनों और तालाबों पर भी काम करना पड़ता था। उसे भेंटें पानी पड़ती थी और उनके बाल रतन पहन थे।

किराये के रूप में अदायगी में खेतों की उपज सम्मिलित होती थी। किसान को हर वर्ष गल्ले, दूध, मांस, मुर्गियां, अण्डे, मछलियां शराब, शहद और मोम आदि का हिस्सा देना पड़ता था। ऊन, भेड़ सूअर और बकरों पर भी वह पैसा या जिन्स के रूप में कर देता था।

अनगिनत दायित्व और देनदारियां ऐसी भी थीं जिन्हें नकद चुकाना पड़ता था। प्रथम वर्ग में उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बाधनेवाले कर थे, जैसे प्रति वर्ष दिया जानेवाला प्रति व्यक्ति-कर अथवा चुंगी। सन्तान के विवाह की अनुमति के लिए विवाह-कर और सन्तान को पढ़ने भेजने की अनुमति के लिए शिक्षा-कर। यदि कोई कमिया निस्सन्तान मर जाता तो स्वामी को उसकी जमीन पर अधिकार कर लेने का हक था। एक उत्तराधिकार-कर भी था, जिसे हरियट कहा जाता था, और जिसका अर्थ था अपने हाथ का सबसे बढ़िया पशु देना। असामी के परिवार पर भी एक कर लगता था, जिसे टालेज अथवा टेल' कहते थे।

दूसरे वर्ग में जोत से सम्बन्धित देनदारियां सम्मिलित थीं। इनमें से एक थी 'रैन्ट' जिसमें प्रथा-द्वारा निश्चित एवं नकद किराया सम्मिलित था। इसे अदा न करने पर कब्जा छीन लिया जाता था। दूसरा कर था सहायता-कर। असामी की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी भूमि को फिर से प्राप्त करने के लिए वर्ष भर का किराया देता था। 'टिथे'

तीसरा कर था। खेत की उपज का दसवां भाग गिरजाघर का देना पड़ता था। इन तीन के अतिरिक्त और भी कितनी ही देनदारियां थीं, जैसे सम्पत्ति बेचन की अनुमति का शुल्क; सड़कों, पुलों, बन्दरगाहों और दर्रों के प्रयोग पर कर, गल्ले, नमक, रसद और अन्य माल की बिक्री पर चुंगी, दुकानों, बाजारों और मेलों के लिए लाइसेंस की फीस।

नगद अथवा जिन्स के रूप में इन देनदारियों के अतिरिक्त कमियों का लाड के और भी बहुत-से काम करने पड़ते थे जैसे—चक्की में उसका आटा पीसना, अपनी भट्टी पर उसकी रोटियां पकाना, अपनी मशीन में उसके अंगूर अथवा अंजीर का निचोड़ना, उसके चमड़े को कमाना आदि। इनके अतिरिक्त ईंधन अथवा मकान के लिए जंगल से लकड़ी काटने पर, मैदानों में पशु चराने पर और नदियों से मछलियां पकड़ने पर भी कर था।

इस सारे दाब के बावजूद कमियों की पट्टेदारी की सबसे बड़ी विशेषता थी उसकी अरक्षा क्योंकि लाड की इच्छा के विरुद्ध उसके पास कोई उपाय नहीं था। अपने पड़ोसी के खिलाफ तो वह ग्राम-न्यायालय में, जिसका जज उसका लाड ही होता था, निवेदन कर सकता था, पर अपने लाड के विरुद्ध राज्य के न्यायालय का आश्रय उसे प्राप्त नहीं था। उसकी सुरक्षा का एकमात्र साधन थी सामन्ती प्रथा, जिसने कानून का रूप ग्रहण कर लिया था और लाड की व्यावहारिक आवश्यकताएं, क्योंकि लाड अपने कृषि-खामों और जागीर के धन्धों के लिए कमियों की स्वैच्छिक सेवा पर निर्भर करता था।

लेकिन कमियों के कष्ट की गाथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। साधारणतया लार्ड गांव में नहीं रहता था लेकिन जब-तब वहां आता था। जब वह आता था, तब उन्हें उसकी खातिरदारी करनी पड़ती थी। उन्हें लाड को उसके रक्षकों, सेवकों, घोड़ों, कुत्तों और पक्षियों के दल के साथ दावत देना पड़ता थी। विशेष अवसरों पर—उदाहरण-स्वरूप जब घर बनाया जाता था तब—उसे पत्थर देने पड़ते थे और बोझा ढोने के लिए पशु और गाड़ियां देनी पड़ती थीं। युद्ध के समय किसानों को लाड के भवन पर पहरा देना पड़ता था, किलेबन्दी करनी पड़ती और खाइयां खोदनी पड़ती थीं तथा लाड के अभियानों में उसके साथ जाना पड़ता था।

गांव का श्रमिक और उत्पादक-वर्ग इन कमियों और मुक्त असामियों से ही निर्मित था। मुक्त असामियों की स्थिति कमियों से बेहतर थी। वे अधिक अच्छे घरों में, जिनमें कई कमरे, आंगन और बगीचा होता था, रहते थे। गांव में उनका भूमि भाग भी कमियों की तरह ही पट्टियों के रूप में बिखरा होता था और उन्हें भी परम्परागत ढंग से खेती करनी पड़ती थी। लेकिन उनकी पट्टेदारी की शर्तें भिन्न थीं। मुक्त असामी सिमाना अथवा बटाईवालों की ही तरह एक निश्चित लगान देकर भूमि का स्थायी रूप से रखते थे और यह लगान बढ़ाया नहीं जा सकता था। उन्हें बेदखल भी नहीं किया जा सकता था। वे अपनी सम्पत्ति को स्वतन्त्र रूप से बेच सकते थे, इच्छानुसार उसकी वसीयत कर सकते थे, किसी को दे सकते थे अथवा विभाजित कर सकते थे, शर्त सिर्फ यह थी कि लार्ड का देय अर्थात् निश्चित लगान और वचनबद्ध सेवाएं अर्पित की जाती रहें।

स्वतन्त्र असामियों को कमियोंवाले अनेक दायित्वों का भी बोझ नहीं ढोना पड़ता था। वे चाहने पर गांव छोड़ सकते थे। अपने बच्चों के विवाह के लिए उन्हें स्वामी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती थी। उन्हें मृत्यु-कर अथवा गांव से बाहर घर बनाने

का कर यानी चुंगी भी नहीं देनी पड़ती थी। यद्यपि स्वतन्त्र आसामी सम्मत शर्तों पर अर्थात् 'क्या लगान देना है और कितनी सेवाएं करनी हैं', यह निश्चित हो जाने पर पट्टेदार बन जाते थे और यद्यपि ये कमियों के मुकाबले स्वामी के निर्णयों से असन्तुष्ट होने पर राजा के न्यायालय में निवेदन कर सकते थे तथापि सभी कृषि-कार्यों में वे कमियों के समकक्ष थे। वे ग्राम-समाज के सदस्य थे और उसके निर्णयों से बंधे थे। अपनी जमीनों की व्यवस्था में वे स्वतन्त्र नहीं थे, क्योंकि उन्हें फसलों की अदला-बदली के क्रम में सम्मिलित खेतों के प्रयोग और मेंड़ों के निर्माण के बारे में जातीय प्रथा का अनुसरण करना पड़ता था। उन्हें खलिहानों में भी छोटे छोटे काम करने पड़ते थे।

गांव के स्वामी की निजी जमीनें, जिन्हें 'भार' कहा जाता था, एकमात्र मालिक के लाभ के लिए ही जोती जाती थीं। वे भी कमियों और रैयतों की जमीनों की तरह ही बंटी होती थीं। एक स्थान पर इकट्ठी सम्पत्ति के रूप में नहीं बल्कि खुले खेतों में पट्टियों के रूप में इधर उधर बिखरी होती थीं। इन्हें जोतने का काम [illegible] जिसके रूप में चुकाए जानेवाले श्रमिक करते थे और [illegible] वे कमिये करते थे जो फसलों और प्रथा के अधीन नियमित साप्ताहिक श्रम और मौसम के विशेष अवसरों पर उपहार श्रम करने को मजबूर थे। इस प्रकार जुताई, बुवाई, गहाई, कटाई और भराई का काम पूरा करा लिया जाता था। स्वामी की निजी उपज बाजार ले जाई जाती थी, उसकी जमीनें तथा भवन व्यवस्थित रखे जाते थे और उसके हितों का पूरा ध्यान रखा जाता था।

सभी लार्ड अपने गांवों में नहीं रहते थे। जो रहता भी था वह गांव की हलचलों में बहुत कम भाग लेता था। लार्ड अपने अधिकार अहलकारों या एक मध्यस्थ को सौंप देता था जो गांव की जनता का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता था। ये थे दीवान, बेलिफ, अमीन और अन्य कारिन्दे। दीवान या वह गांवों का प्रबन्ध करता था, सारे काम-काज की आम देखभाल करता था। वहां प्रथाओं और नियमों का संरक्षण भी करता था। वह अपने स्वामी के अधिकारों की देखभाल करता था, गांवों में घूमता था और लार्डों की और जमीनों की देखरेख करता था। वह लगान और किराए के हिसाब पर भी नजर रखता था—कमियों से काम लेता था और लार्ड के सामान्य हितों की देखभाल करता था। बेलिफ और दूसरे नौकरों तथा कारिन्दों पर उसका नियन्त्रण रहता था।

गांव के सारे प्रबन्ध के लिए बेलिफ जिम्मेदार था। वह खेतों और चरागाहों में प्रतिदिन आता-जाता था और देखता था कि खेतों में कहीं ढील तो नहीं हो रही है और सब अपने काम को ठीक तरह पूरा कर रहे हैं या नहीं। लार्ड की फालतू उपज को भी वही बाजार ले जाता था।

अमीन को गांव के लोग चुनते थे और वह लार्ड तथा असामियों के बीच बिचौलिये का काम करता था। वह स्वयं एक कमिया होता था और उसका असामियों से ही विशेष सम्पर्क रहता था। पद और कार्य की दृष्टि से वह बेलिफ से नीचे होता था। वह लगान वसूल करता और खरीद और खर्चों का हिसाब रखने का जिम्मेदार होता था। अमीन को कुछ जमीन मिली होती थी जिसका लगान आंशिक अथवा पूर्ण रूप से माफ रहता था।

इनके अतिरिक्त [illegible] और [illegible] थे, जो भिन्न भिन्न काम करते थे। इन्हें गांववालों में से ही चुन लिया जाता था और विभिन्न रूपों में उनकी सेवाओं का पारिश्रमिक दे दिया जाता था।

इनमें थे—पेशकार और चपरासी जो आदेश जारी करते या लागू करते थे, लेखा-परीक्षक जो हिसाब रखते थे और सिपाही जो चुनते थे, जागीर के रखवाले, हलवाहे, गाड़ीवान, ग्वाले, सूअर पालनेवाले, घुड़साल, कपड़ा तथा अन्य सामग्रियों के भण्डार, कचहरी, रसोइये, शिकारी, वनाधिकारी आदि। लार्ड की गृहस्थी के लिए दर्जी, कवच निर्माता, बेकर आदि कारीगरों की भी आवश्यकता होती थी। हर क्षेत्र की देखभाल एक कारिंदा करता था।

ये कारिन्दे असामियों और कमियों के बीच के वर्ग के होते थे। कमियों की तरह कुछ विवशताएं इनकी भी थीं पर इन्हें जमीन बख्शीश में मिली होती थी और स्वयं लार्ड से इनका सीधा सम्बन्ध रहता था।

जमींदारी अर्थ-व्यवस्था के दो उद्देश्य थे—ग्रामीणों के लिए जीविका का प्रबन्ध और लार्ड के लिए धन का सरंजाम। इन उद्देश्यों की पूर्ति गांव के दुहरे प्रबन्ध-यन्त्र से अर्थात् ग्राम-समाज और लार्ड के अहलकारों-द्वारा की जाती थी। ग्राम-समाज में मुक्त और अमुक्त असामियों के दल शामिल थे जिनके भूमि में हिस्से होते थे और जो गांव के मामलों में बराबर आवाज उठाते रहते थे।

हर असामी के पास भूमि का एक निश्चित अंश रहता था जो कई पट्टियों से मिल कर बनता था। भूमि पिता से पुत्र को मिलती जाती थी। लेकिन जुताई का अधिकार व्यक्ति को तभी मिलता था, जब हल उठने का समय आ जाता था। जैसे ही फसल सिमट चुकती थी ये अधिकार समाप्त हो जाते थे। बीच की अवधि में जमीन पूरी बिरादरी के काम आती थी। जुताई के तरीकों और कृषि-पद्धतियों को पूरा गांव मिल कर तय करता था। कानूनन बंजर भूमि, चरागाह और बाग़ लार्ड की सम्पत्ति होते थे। लेकिन असल में ग्राम-समाज ही उनकी व्यवस्था करता था और असामियों की जमीन के आकार के हिसाब से ग्रामीणों-द्वारा उनके उपयोग के नियम बनाता था। इमारती लकड़ी के लिए जंगलों, ईंधन के लिए पत्तों और घास के मैदानों का उपयोग भी नियमों-द्वारा नियन्त्रित था।

लार्ड का भाग भी गांव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। इस पर काम दो तरीकों से चलाया जाता था (1) कुछ भाग असामियों को उठा कर और (2) कमियों से बलपूर्वक लिए गए श्रम-द्वारा बाकी जमीन की जुताई करा कर। सेवकों की वृत्ति प्रायः असामियों-द्वारा लिए गए लगान में से दी जाती थी।

जागीरदारी अर्थ-व्यवस्था सम्पत्ति के स्वामित्व की धारणा में प्रतिबिम्बित थी। रोमवालों की धारणा के अनुसार सम्पत्ति शुद्ध स्वत्व की विशेषता से विशिष्ट है। इसके स्वामित्व में किसी अन्य का कोई अधिकार नहीं। लेकिन मध्य-युगीन यूरोप के सामन्ती समाज में रोम की इस धारणा को बदल लिया गया। स्वामित्व अथवा स्वत्व बंट गया। एक ही भूमि के टुकड़े पर कई पक्षों का स्वामित्व-अधिकार मान लिया गया। सर्वप्रथम तो स्वामित्व का ऊंचा और श्रेष्ठ अधिकार था जिसे प्रधान क्षेत्र कहा जाता था। दूसरे, प्रथा और दस्तूर के अनुसार का हीनतर अधिकार था जिसे उपयोगी क्षेत्र कहा जाता था। इस प्रकार भूमि पर लार्ड अथवा जमींदार किसी का भी चरम स्वामित्व नहीं था। सामन्ती सिद्धान्त के अनुसार भूमि राजा की थी जो इसे अपने प्रमुखों में बांट देता था। ये प्रमुख उन बैरनों और लार्डों में बांटते थे जिनसे असामी और रैयत [illegible] प्राप्त करते थे।

लेकिन सम्पत्ति के अधिकार की धारणा प्रकृति कुछ भी क्यों न हो, गांव के आर्थिक

जीवन में नाम मात्र प्रभावी ही होता था। वह कोई आर्थिक कार्य नहीं करता था। फिर भी सभी लाभ उसे ही प्राप्त होते थे। किसान जीविका प्राप्ति के लिए अपने खेतों पर श्रम करते थे पर उनके समय और शक्ति का अधिकांश लार्ड की मांग पर काम करने के लिए अनिवार्यतः नियुक्त रहता था।

सामन्त-तन्त्र और सैनिक संगठन

अपने आर्थिक पक्ष में सामन्ती प्रथा उत्पादन की एक संस्था थी, जिसमें वह श्रमिक वर्ग सम्मिलित था जो खेत जोतता, लगान देता और भूमि के स्वामी और नियन्त्रक लार्डों को अपनी कृषि सेवाएं अर्पित करता था। साथ ही यह एक सैनिक संगठन भी था। सामन्ती लार्डों से भूमि प्राप्त करके सैनिक सेवा अर्पित करनेवाले अनुचरों का एक सोपान व्यवस्था-क्रम भी इसमें निहित था।

खेतों पर काम करनेवाले काश्तकार और गांव की रक्षा करनेवाले सैनिक अनुचर दोनों का जागीर में सम्मिलन होता था। दोनों को एक ही ढंग के समझौते-द्वारा एक ही प्रणाली से अपने पट्टों और कर्तव्यों में नियोजित किया जाता था। दोनों को ही वफादारी की औपचारिक शपथ (सेवा की स्वीकृति) लेनी पड़ती थी तथा स्वामिभक्ति और आज्ञापालन की कसम खानी पड़ती थी। दोनों को ही भूमि विधिवत् प्रदान की जाती थी और हस्तांतरण एक ध्वज, दण्ड अथवा पल्लव देकर सूचित किया जाता था। किन्तु काश्तकारों के मामले में इस सौदे के श्रेष्ठतर पक्ष, यानी लार्ड का प्रतिनिधित्व दीवान करता था और उसकी सेवावधि को पट्टेदारी अथवा रयत कहा जाता था। सैनिक योद्धा अपनी जमीन का पट्टा, जिसे 'फीफ' अथवा 'फयडम' कहते थे, सीधे लार्ड से प्राप्त करता था। हीन असामी से सम्बन्धित समारोह सादा और श्रेष्ठ असामी का समारोह विशद होता था।

काश्तकार की पट्टेदारी की तरह ही सैनिक अनुचर को भी जागीर प्राप्त करने पर कितने ही कर्तव्यों एवं सेवाओं का निर्वाह करना पड़ता था। दोनों ही निष्ठा और वफादारी की शपथ से आरम्भ करते थे और दोनों का ही उत्तराधिकारी ये नाम जोत अथवा जागीर लेते समय अनुदान धन देना पड़ता था। दोनों की समरूपता यहीं समाप्त हो जाती थी, क्योंकि सैनिक अनुचर के नकारात्मक और सकारात्मक कर्तव्य काश्तकार से भिन्न थे। स्वामिभक्ति की शपथ लेते समय अनुचर को मालिक को हानि न पहुंचाने—उस पर, उसकी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा अथवा परिवार पर आक्रमण न करने—का वचन देना पड़ता था। लेकिन ये वचन पारस्परिक थे। लार्ड और उसके अनुचर नाइट और स्क्वायर उसके साथ रहते, साथ खाते और साथ ही अभियानों पर जाते थे। स्नेह और आदर के सूत्र से दोनों बंधे होते थे।

लेकिन अनुचर के सामन्तवादी कर्तव्यों को सहायता और परामर्श ये दो नाम दिए जाते थे। सहायता में सैनिक सेवा सम्मिलित था। सैनिक अनुचर को वर्ष में कम-से-कम चालीस दिन स्वामी के साथ पास-पड़ोस के प्रदेशों में युद्धों और अभियानों पर जाना पड़ता था। वह युद्ध में उसकी अंगरक्षा करता और किलेबन्दियों की रक्षा करता था। उसे स्वामी के साथ रहना पड़ता था और उसकी व्यक्तिगत सेवाएं करनी पड़ती थीं। कुछ सहायताएं नकद और जिन्स के रूप में भी होती थीं, जैसे अभिषेक के समय उपहार, लार्ड के बन्दी बनने पर अनुमोचन धन और जागीर बेचने की अनुमति का शुल्क। असामान्य

अवसरों पर अतिरिक्त सहायता देनी पड़ती थी जैसे धर्म-युद्ध का व्यय उठाने के लिए, लार्ड की मुक्ति का मूल्य चुकाने के लिए और उसकी लड़की के विवाह और बेटे के नाइट बनने के समय होनेवाले उत्सवों के लिए।

कर्तव्यों का दूसरा वर्ग था, परामर्श। लार्ड की अदालतों में तथा युद्ध और शान्ति एवं परम्परागत नियमों को बदलने की समस्याओं पर विचार करने के लिए बुलाई गई सभाओं में सैनिक अनुचर का उपस्थित होना इसमें सम्मिलित था। सैनिक अनुचरों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के लिए उन्हें न्यायाधिकरणों में भी शामिल होना पड़ता था।

सामन्तगण सरदारों का यह सोपानिक तन्त्र कई वर्गों में बँटा था। सर्वोच्च स्तर पर वे सामन्त थे जिन्हें प्रतिष्ठित पद प्राप्त थे—राजा, ड्यूक या अर्ल, मारक्विस और काउण्ट। ये बहुत-सी जागीरों के स्वामी होते थे और युद्ध के समय बहुत बड़ी संख्या में घुड़सवार लाते थे। दूसरे स्तर पर वे सामन्त थे, जिन्हें सरकारी पद प्राप्त नहीं थे। ये कितने ही गाँवों के स्वामी होते थे और इनमें से प्रत्येक घुड़सवारों के एक दल का दल-पति होता था। इन्हें साधारणतया बैरन सिन्यूर (जमींदार) अथवा लार्ड कहा जाता था। इनके बाद नाइट होते थे। एक नाइट एक अकेले क्षेत्र, एक गाँव अथवा गाँव के एक भाग का स्वामी होता था। यह लार्ड की सेना में रहता था और उसी से अपना क्षेत्र प्राप्त करता था। क्रम में निम्नतम होते थे स्क्वायर। ये नाइटों के परिचर के रूप में आरम्भ करते थे और बाद में भूस्वामी और सामन्त-वर्ग के सदस्य बन जाते थे। इस सामन्ततन्त्र में जागीरों के आकार से और अधीनस्थ योद्धाओं की संख्या से बड़प्पन का निर्णय होता था।

पादरी और चर्च

योद्धाओं और श्रमिकों के अतिरिक्त सामन्तवादी समाज का एक तीसरा वर्ग भी था, पादरी—मठजीवी पादरी और गृहस्थ पादरी।

मध्य-युग में जीवन-यापन की परिस्थितियाँ बड़ी कठोर थीं और सामान्य जीवन स्तर बहुत ही गिरा हुआ था। सम्पत्ति का उत्पादन न्यूनतम था क्योंकि कृषि-प्रणालियों का स्तर आदिम कालीन था। किसान जब जमीन पर चलता था तब उसके फटे हुए जूतों में से उसकी उंगलियाँ झाँकती थीं और उसके मोज़े उसके घुटनों पर चारों ओर लटके रहते थे। उसकी पत्नी "नंगे पैर बर्फ पर चलती थी और उसके पैरों से खून बहता था।"[1] उन्हें निष्ठुरतापूर्वक चूसा जाता था और दासों का पशुओं की तरह खरीदा और बेचा जाता था। उन्हें डण्डों से पीटा जाता था और शायद ही कभी आराम करने अथवा साँस लेने का समय दिया जाता था।[2] लार्ड के सैनिक बहुधा गँवारों की चमड़ी उधेड़नेवाले की स्पृहणीय उपाधि प्राप्त कर लिया करते थे।

---

1 एच० एस० बेनेट की 'लाइफ ऑन द इंग्लिश मेनर' (1150-1400) पृष्ठ 164, 185-86 से मारिस डाब द्वारा 'स्टडीज इन द डेवलेपमेंट आफ कैपिटलिज्म' में पृष्ठ 44 पर उद्धत

2. सी० जी० काल्टन की 'सोशल लाइफ इन ब्रिटेन फ्राम द कान्क्वेस्ट टु द रिफार्मेशन', पृष्ठ 340, 341 42 से मारिस डाब द्वारा पूर्वोक्त पुस्तक में पृष्ठ 44 पर उद्धत

जाता । युद्ध और हिंसा, रक्तपात और लूट-खसोट उस युग का सामान्य नियम था। सामन्तों का प्रधान धन्धा था—युद्ध, शिकार और प्रतियोगिताएं।

समाज के तीनों स्तरों में से किसान के पास जीवन के सांस्कृतिक आचारों और अनुग्रहों को साधने का साधन नहीं था और योद्धा के पास उसकी इच्छा नहीं थी। इसलिए लोगों की धार्मिक और नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का कर्तव्य पादरी के कंधों पर था। पादरी धार्मिक और बौद्धिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे। अपने ज्ञान और पवित्रता के कारण वे भारी सम्मान का उपभोग करते थे।

पादरियों की संस्था अथवा चर्च का संगठन एक पुरोहिततन्त्र के रूप में था, जिसके शीर्ष पर पोप होता था। उच्चतर पादरियों से निर्मित इस संगठन में बिशप, प्रेस्बीटर अथवा प्रीस्ट और डेकन सम्मिलित थे। बिशप एक बिशप-प्रदेश का स्वामी होता था जो आरम्भिक युगों में प्रान्तीय गवर्नर के इलाके जितना बड़ा होता था। बिशप अपने प्रदेश की शिक्षा, उसके जनशासन और प्रशासन के लिए जिम्मेदार होता था। उसे धर्माध्यक्ष के रूप में स्वत्व मिलता था, जिसका वह उपयोग करता था। वह पादरियों के प्रशिक्षण का और उनकी जीविका का प्रबन्ध करता था।

आरम्भ में बिशपों को राजकीय अनुदान मिलते थे और उन्हें धर्मसचिवों के रूप में माना जाता था। जैसे-जैसे सामन्तशाही का विकास होता गया, वे शाही अफसरों का रूप ग्रहण करने लगे। उन्हें जागीरें मिलने लगीं, जिनमें प्रशासनिक कर्तव्य भी निहित रहते थे। ये जागीरें आंशिक रूप में चर्च के कार्यों के लिए और अंशतः राजा को सैनिक सेवाएं प्रदान करने के लिए दी जाती थीं। इनके स्वत्व की शर्तें सामन्तों के स्वत्व की शर्तों के समान हो जाती थीं। फलतः यद्यपि सिद्धान्तरूप में उनका निर्वाचन होता था, पर व्यवहार में वे दरबार के सामन्त-वर्ग से ही लिए जाते थे।

प्रेस्बीटर और डेकन बिशपों के सहायक होते थे। इनमें प्रथम धर्म-कृत्यों की पूर्ति में और दूसरे प्रशासन में सहायता देते थे।

छोटे पादरी कस्बों, गांवों और बस्तियों के स्थानीय गिरजाघरों के अधिकारी होते थे। बहुधा इन गिरजाघरों के संस्थापक लोग ही उनको नियुक्त करते थे और उन्हें जमीनें दे देते थे। स्वभावतः ही ग्राम-पादरी अपने यजमानों पर निर्भर थे और बिशपों का उन पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। इस प्रकार गिरजे से लगी भूमि के कारण गिरजों के प्रबन्धक स्थानीय लॉर्डों से सामन्तवादी सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध रहते थे।

इसके अतिरिक्त जन-साधारण की भक्तिभावना और उनके उपहारों के फलस्वरूप कुछ धर्म-पीठ और मठ भी बन गए थे। यहां अपने सांसारिक परिवेश से विरक्त लोग आश्रय लेते थे और संयमी का जीवन बिताते हुए धार्मिक क्रियाओं में अपना समय लगाते थे। मठ समाज की भारी सेवा करते थे। वे ग्रामों में आस्था का प्रकाश फैलाते थे। नाना का पूजन विधियां, उपासना और पवित्र जीवन-यापन के तरीके सिखाते थे। वे सुगन्धित धार्मिक आदर्शों और ग्रामों की आवश्यकताओं का समन्वय करते थे। मठ-व्यवस्था के सदस्य उच्च वर्ग के ही लोग होते थे।

यद्यपि आरम्भ में ये तीनों पक्ष स्वाभाविक स्वतन्त्र थे, पर धीमे-धीमे ये एक सामन्तिक ढांचे की व्यवस्था में समन्वित होते गए और राजा उनका केन्द्र बन गया। पर राजा सामन्ती व्यवस्था का अंग नहीं था पर उसमें अन्तर्निहित था।

मध्य-युगीन जीवन में चर्च एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, चर्च उसके लिए नैतिक मान स्थिर करता था और उसके उन विश्वासों का निर्देश देता था, जो उसके जीवन को धार्मिक वातावरण से आवृत कर देते थे। जन्म से मृत्यु तक मानव-जीवन में आनेवाले प्रमुख अवसरों पर पादरी धार्मिक संस्कार आयोजित करते थे। लोगों का दैनिक जीवन भी आत्म-स्वीकृति और प्रायश्चित की प्रथा के माध्यम से पादरियों की सतर्क आँखों के नीचे बीतता था।

चर्च को पवित्र आदेश प्रदान करने का अधिकार था और यही पादरी और सामान्य जन के रूप में जनता का वर्गीकरण करता था। चर्च सबको संयम में बाँधता था और शान्तिपूर्ण देवी उपवास के अवसर प्रदान करता था। उसने रविवारों, त्योहारों और सप्ताह के अन्तिम दिनों को ईश्वरीय कृपा अथवा ईश्वरीय विश्राम के दिन घोषित किया और इस प्रकार अविराम श्रम को रोकने का प्रयत्न किया। पादरी लोग उन अक्खड़ योद्धाओं में आत्मभाव भरते थे जो ईश्वरीय क्रोध और अन्तिम निर्णय के सिवा और किसी से नहीं डरते थे। श्रेष्ठतर जीवन बिताने के उपदेश देकर और आदेश न माननेवालों के लिए पावन सामग्री के द्वार बन्द करा देने की धमकी देकर पादरी कानून और व्यवस्था के प्रयोजन को ठोस बल प्रदान करते थे। इस प्रकार, राजनीतिक और आर्थिक मामलों में चर्च का प्रभाव बढ़ गया था। प्रधान पादरी उच्चतम सामन्तों के समकक्ष गिने जाते थे। बिशपों और ऐबटों के अनुचरों और सैनिकों के अपने दल होते थे जो उनके साथ सामन्ती सूत्रों से बँधे रहते थे। वे राज-कार्यों में हस्तक्षेप करते थे। उनमें से कुछ युद्धों में भाग लेते थे और कितने ही परामर्शदाताओं तथा प्रशासकों के भी रूप में काम करते थे। चर्च आर्थिक विषयों का नियमित करने का भी प्रयत्न करते थे। वह चीजों के उचित मूल्य निर्धारित करने के साथ-साथ सूदखोरी की मनाही करते थे।

अपने मूल और प्रकृति से ही सामन्ती प्रथा का अर्थ था—सत्ता का विकेन्द्रीकरण और प्रभुसत्ता का खण्डीकरण। मध्य-कालीन विधिवेत्ता और सामन्ती कानूनों और प्रथाओं के अधिकारी विद्वान् ब्यूमेनाय का मत है कि प्रत्येक बैरन अपने इलाके में सर्वसत्ता-सम्पन्न है। प्रत्येक सैनिक अनुचर का व्यक्तिगत युद्ध करने का हक था। राजा को बैरन की अनुमति के बिना उसके प्रदेश में आदेश घोषित करने का अधिकार नहीं था। सभी कानून, जिनमें कर लगाना भी सम्मिलित था, एक विधि-सभा अथवा संगठन के माध्यम से बनाए जाने आवश्यक थे और सैनिक अनुचरों की सम्मति से बड़े लार्डों की अदालत में उन पर विचार किया जाता था।

न्याय-व्यवस्था भी विकेन्द्रित थी। केवल वही फौजदारी मुकदमे राजकीय न्यायालयों में सुने जाते थे जिनके लिए मृत्यु अथवा अंग भंग का दण्ड निर्दिष्ट था। छोटे-मोटे मुकदमे स्थानीय लार्ड की अदालत में तय होते थे। जागीरों अथवा ग्रामों की पंचायतें न्याय की स्थानीय संस्थाओं के रूप में काम करती थीं। जागीरी अदालतों का संगठन मुक्त और कमिये सभी असामियों को सम्मिलित करके किया जाता था। छोटे फौजदारी मामले ही नहीं, बल्कि भूमि के पट्टों और मुक्त अथवा अमुक्त सभी अनुचरों की व्यक्तिगत बातों से सम्बन्धित दीवानी अभियोग भी उन्हीं के क्षेत्राधिकार में थे। रैयतों के मामलों में जागीरी अदालतों का निर्णय अन्तिम होता था। लेकिन जहाँ तक मुक्त असामियों का सम्बन्ध था, पट्टेदारी से सम्बद्ध मामलों में लार्ड उनके निर्णय को पलट सकता था और फौजदारी मुकदमों के फैसलों पर राजकीय न्यायालय पुनर्विचार कर सकता था।

सामन्ती अर्थ-व्यवस्था एक रुद्ध व्यवस्था थी। आदिम ढंग की कृषि इसका आधार थी। खेती की उपज बहुत साधारण थी और इसलिए अतिरिक्त अन्न बहुत कम बचता था। इससे मात्र निर्वाह की ही आवश्यकताएं पूरी हो पाती थीं। गांव के लोग ही उसे खा डालते थे। जो बच रहता था, वह जागीरदार और उसके परिवार को दे दिया जाता था। अन्न के अतिरिक्त पटसन, ऊन और चमड़ा भी गांव पैदा करता था। नमक, लोहा, मसाले, कपड़े और धातु के बरतनों को उन्हें अपना अन्न, पटसन और चमड़ा देकर आयात करना पड़ता था। बाजार में माल बहुत कम था और उसका विस्तार बहुत सीमित था।

गांव की प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था में पैसा अथवा पूंजी का बहुत कम उपयोग था। श्रम विभाजन अथवा विशेषीकरण के लिए बहुत थोड़ा अवसर था। इस सामन्ती पद्धति में ऊपरी अथवा खड़ी दोनों ही दिशाओं में गति अवरुद्ध थी। सामन्त और किसान, दोनों ही वर्गों के बीच एक ऐसी खाई थी जिसे पाटा नहीं जा सकता था। सामाजिक स्तर अधिकांशतः जन्म और सम्पत्ति पर निर्भर था। श्रम और उत्पादन करनेवाले आर्थिक व्यक्ति तथा युद्ध और प्रशासन करनेवाले राजनीतिक पुरुष के बीच नौकर और मालिक का रिश्ता था और इसलिए पारस्परिक सौहार्द तथा समझौते की गुंजायश बहुत ही कम थी।

राजनीतिक दृष्टि से सामन्ततन्त्र की इकाइयां एक-दूसरे से बहुत ढीले रूप में जुड़ी थीं। हर इकाई आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर और प्रशासन अर्थात पुलिस और न्याय पालिका की दृष्टि से स्वतन्त्र थी। राजा और केन्द्रीय सरकार का सैनिक अनुचरों और ग्रामों पर बहुत मामूली नियन्त्रण था, क्योंकि बीच के सामन्ती वर्गों ने राज्य के भीतर राज्य स्थापित कर रखा था। हां इंग्लैण्ड इसका अपवाद था। यहां नार्मन शासकों ने सामन्ती उच्च वर्ग के असामियों पर अपना सीधा नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। नए यूरोप के शासक लार्डों की जागीरों में रहनेवाली प्रजा को सीधे आदेश नहीं दे सकते थे।

ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि मध्य-युगीन यूरोपीय देश स्वतन्त्र ग्रामीण राजतन्त्रों के समुच्चय थे और ग्रामों की सारी सक्रियता उनके लार्डों के सैनिक प्रयोजनों और राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक थी। लेकिन हर लघु ग्रामीण राजतन्त्र सुगठित था और जब तक अस्तित्व रखता था तब तक सुचालित यन्त्र की तरह काम करता था। इसके रीति-नीतियां और नियम बहुत सूक्ष्म और व्यापक थे तथा इनका पालन बिना विचार के अनुसरण कर किया जाता था। इनका उल्लंघन करनेवालों को नियमित न्याया-लयों द्वारा दण्ड दिया जाता था। ग्राम की विधि-संस्थाएं—जैसे ग्रामीणों की सभा अथवा लार्ड की सभा—जिनमें मुक्त और अमुक्त अनुचर शामिल होते थे बिना अधिक बाधाओं के ही काम करती थीं। उनके कार्यवाहक दीवान, बेलिफ और अन्य अपना काम ईमानदारी से करते थे। न्यायपालिका व्यक्तिगत पक्षपात से अनुचित रूप में प्रभावित हुए बिना मान्य रीति रिवाजों और नियमों के अनुसार, फौजदारी (छोटे मामलों) और दीवानी मुकदमों का फैसला करती थी।

धर्म के क्षेत्र में व्यक्ति और समाज, दोनों ही चर्च के गहरे प्रभाव में थे। लेकिन यह विशेष सीमाओं में ही सक्रिय था। ईसाई धर्मग्रन्थ, जिनके आधार पर चर्च के नियम और सिद्धान्त निर्मित थे अधिकतर आध्यात्मिक के ग्रन्थ थे। उनका मानव के बाह्याचरण से कम और उसके अन्तर्जीवन से अधिक सम्बन्ध था। वे आचरण सम्बन्धी विवरणों से कम और मानसिक प्रवृत्तियों तथा आत्मिक शक्तियों से अधिक सम्बन्ध रखते थे। उन्होंने

विवाह और उत्तराधिकार के तथा सम्पत्ति और समान-स्तर के वर्गीकरण के लिए कोई नियम नहीं बनाए थे। धार्मिक विधान-द्वारा निर्धारित नियम और कानून चर्च की सत्ता से उद्भूत थे और धर्मलेखों में निहित निषेधाज्ञा का हवाला देकर उनके विरुद्ध अपील की जा सकती थी।

सामन्तवादी प्रशासन की प्रधान विशेषता थी उसका एकाकी होना, लेकिन उसमें विश्ववादी तत्व भी वर्तमान थे जो उसे लचीला बनाते थे। इस विश्ववाद की जड़ें मध्य-युगीन संस्कृति में ही निहित थीं। सार्वदेशिक रोम साम्राज्य का विचार अभी तक जीवित था और महत्वाकांक्षी राजाओं को प्राचीन परम्पराएं पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रेरित करता था। सभी यूरोपियनों का धर्म एक था। वह ईसाई-मात्र के सामाजिक-राजनैतिक संगठन की धारणा को प्रोत्साहन देता था। रोम के चर्च के अधीन पश्चिमी ईसाई राज्य-संघ इस बात का प्रमाण है। एक-सा विचार और सिद्धान्त, एक-सा संस्कार और अनुष्ठान, एक-सा अनुशासन और संगठन—ये सब तत्व एकता के सशक्त प्रेरक थे। एक भाषा, लैटिन के माध्यम से सभी यूरोपीय जातियों की समान शिक्षा पद्धति, अध्ययन का समान पाठ्यक्रम और अन्तरराष्ट्रीय विद्यालय तथा विश्वविद्यालय आदि इन तत्वों को और भी बल देते थे। फिर, आर्थिक अवस्थाएं एक समान थीं और राष्ट्रवादी एकान्तिकता अनुपस्थित थी।

सामन्तवाद की सोपानिक व्यवस्था जो विभिन्न स्तरों पर इकाइयों को स्वायत्तता प्रदान करती थी, विश्ववाद के विचार को प्रशंसनीय रूप से प्रोत्साहन देती थी। लौकिक पक्ष में सर्वसत्ता-सम्पन्न जागीरदार और ताल्लुकेदार उन बड़े लार्डों—काउण्ट, ड्यूक और बैरन—के प्रति समर्पित थे जिनसे वे जागीर प्राप्त करते थे। स्वयं बड़े लार्ड राजाओं के प्रधान असामी और रैयत थे। सभी राजतन्त्र शार्लमेन-द्वारा सन् 800 में पुनरुज्जीवित पवित्र रोम साम्राज्य के, जिसे जर्मन राजाओं ने पुनर्निर्मित किया था, घटक सामन्त समझे जाते थे। यह साम्राज्य सार्वदेशिक प्रभुसत्ता-सम्पन्न कहलाता था पर इसके आदेश कभी भी जर्मनी और इटली की सीमाओं से बाहर नहीं गए।

धार्मिक क्षेत्र में, पुरोहिततन्त्र पोप को अपना अध्यक्ष मानता था। उसके बाद कार्डिनलों, बिशपों और लाट-पादरियों का क्रम था और उनके बाद छोटे पादरी आते थे। इनके पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य सोपानिक तन्त्र का अनुसरण करते थे।

सामन्तवादी पद्धति में दो सर्वोच्च प्रधान माने जाते थे—एक, सामान्य प्रशासन का, और दूसरा धार्मिक व्यवस्था का। इन दोनों में किसे प्राथमिकता मिले, यह लम्बे विवाद का विषय रहा है। तेरहवीं शताब्दी में पोप को सर्वोच्च सत्ताधारी माना जाता था। लेकिन शीघ्र ही स्थिति बदल गई और राजाओं ने उसकी प्रभुसत्ता को मानने से इनकार कर दिया।

नगरों का जीवन

सामन्ती समाज मुख्यतः ग्रामीण था। लेकिन इस समाज में उसके अविकल अंग के रूप में एक रोचक तत्व विकसित हो रहा था, वह था नागरीकरण का विकास। चूंकि यही विकास अन्ततः सामन्ती पद्धति के विनाश, सामन्ती समाज का बदलने और राष्ट्रीय समाजों की उत्पत्ति के लिए रास्ता तैयार करने का उत्तरदायी है और चूंकि ऐसी स्थितियां भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अस्तित्व में नहीं आईं इसलिए इस विकास

के कारणों और यूरोपीय समाजों में महान् परिवर्तन लानेवाली इसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन बहुत रोचक सिद्ध होगा।

राज-साम्राज्य को समाप्त कर देनेवाले बर्बरों के आक्रमण ही रोम के नगरों के विनाश और यूरोप के आदिम कबायली ग्रामवाद की ओर लौट जाने के लिए उत्तरदायी थे। लेकिन जब देश-परिवर्तन और लूटपाट की बाढ़ दब गई और प्रवासी एक जगह स्थिर हो गए, तब नई शक्तियों ने नए आधारों पर नागरिक जीवन का निर्माण आरम्भ किया। आरम्भ में गांव और नगर में शायद ही कोई अन्तर था, क्योंकि व्यापार और उद्योग दोनों ही कृषि के मुखापेक्षी थे और ग्राम आत्मनिर्भर थे क्योंकि गांव का कारीगर ही उनकी ज़रूरत की कुछ मामूली चीज़ें बना दिया करता था।

लेकिन नई आवश्यकताएं प्रकट हुईं जिन्होंने इस आत्मनिर्भरता को प्रभावित किया। दक्षिण में डेनों के आक्रमणों और यूरोप के उत्तरी देशों में उत्तरी जातियों की घुस-पैठ ने लोगों को मजबूर किया कि वे ऐसी किलेबंदियों और दुर्गों के भीतर आश्रय लें जो ऊंची दीवारों और पानी भरी खाइयों से घिरे हों। इस प्रकार बाद में नगरों को जन्म देनेवाले लोगों के इस जमाव का एक कारण रहा—युद्ध और हिंसा। दूसरा कारण बना ईसाई मठों की स्थापना। ये मठ कलाओं और कारीगरियों के केंद्र बन गए, क्योंकि ये शान्ति और स्थिरता का वातावरण प्रदान करते थे। फिर कुछ स्थानों को धार्मिक महत्व प्राप्त हो गया और लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगे जो सैनिक और धार्मिक, दोनों ही स्तरों के बड़े ज़मींदारों के गढ़ थे। भौगोलिक स्थिति—किसी घाट, चौराहे, नदी-तट अथवा समुद्र-तट पर बस जाने—ने भी व्यापार और धंधों के विकास के लिए अनुकूल सुविधाएं उपलब्ध कर दीं।

नगरों का जीवन उनके उद्योग और व्यापार में निहित था। उनका पुनरुद्धार और विकास मध्य-युगीन समाज के इतिहास में सर्वाधिक विस्फोटक तत्व सिद्ध हुआ। ग्यारहवीं सदी में व्यापार के साथ-साथ जागरण का श्रीगणेश हुआ। इंग्लैण्ड और सिसिली पर नार्मन विजय ने, पुर्तगाल में ईसाई शक्ति के उद्भव ने तथा स्पेन में मूरों पर ईसाइयों की विजय ने साहस और महत्वाकांक्षा की लगन को उन्मुक्त कर दिया जिसका वाणिज्य पर बहुत उपयोगी प्रभाव पड़ा। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और भूमध्य-सागर परस्पर जुड़े थे और पश्चिम सिल्क, ऊन, धातु के बरतन, हथियार, बकरी, घोड़े, सन्तरे, बकोतरे, शराब आदि चीज़ों ने नैस व्यापारियों ने इन देशों में चारों ओर घूमना आरम्भ कर दिया।

इसके बाद धर्म-युद्धों का युग आया। इनके कारण यूरोप के अक्खड़ और पिछड़े हुए निवासी पूरब की उच्चतर सभ्यताओं के सम्पर्क में आए। इन धर्म-युद्धों ने भी व्यापार को प्रोत्साहित किया। वेनिस, जेनेवा, पीसा, बार्सिलोना और मार्सिलीज़ के व्यापारी मिस्र के बन्दरगाह पर पूरब की उन विलास-सामग्रियों को खरीदते थे जिन्हें दमिश्क, बगदाद, मिस्र, ईरान, भारत और चीन से आनेवाले कारवां लाते थे। वे उन्हें यूरोप के सभी भागों में वितरित कर देते थे। मेले लगने लगे और व्यापार-मार्गों के साथ अथवा जहां भी किसी प्रबुद्ध सामन्ती लार्ड की शक्ति के कारण अथवा किसी धर्मपीठ की पवित्रता के कारण शान्ति और सुरक्षा सम्भव थी वहीं बाज़ार बन गए थे।

व्यापार में वृद्धि के फलस्वरूप ग्राम और नगर के बीच आवागमन बढ़ गया था। आरम्भिक युगों में तो ग्रामोद्योग ग्रामीण कृषि के सहायक-मात्र थे। ग्रामीण जागीर में अपना घर बना लेता था वहीं वह सूत कातता था, कपड़े बुनता था, जूते बनाता था,

और आगे चल कर तथा अन्य सामान तैयार करता था। राजाओं प्रमुख सामन्तों और पर्वों व विशिष्ट पुरुषों का विशालतर जागीरों में उत्पादन अधिक विस्तृत था। श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध थी। लेकिन ग्यारहवीं शताब्दी के बाद परिस्थितियां बदल गईं। किसानों के पास अतिरिक्त मात्रा में उपज रहने लगी। व्यापार के पुनरुद्धार से नगरों में धन आ गया और गांव की अतिरिक्त कृषि-उपज और कारीगरों की चीजों के बीच अदला-बदली बढ़ गई।

जैसे-जैसे व्यापार-उद्योग विकसित हुए नागरिक क्षेत्रों में सुदूरगामी परिवर्तन हुए। आरम्भिक मध्य-युगों में बहुत-से नगर किलाबन्द शिविर अथवा दुर्ग-मात्र थे। इंग्लैण्ड के कस्बों (बरो) और महाद्वीपीय गढ़ियों का निर्माण वाइकिंग जातियों की लूट-पाट से खेतिहर प्रदेश को बचाने और उनकी सुरक्षा के लिए किया गया था। कुछ समय बाद व्यापारी और कारीगर उनकी ओर आकर्षित हुए। वे दीवारों के बाहर बस गए और वहां उन्होंने अपने घर और व्यापार-केन्द्र बना लिए। व्यापारी यहां आकर इकट्ठे होने लगे। उनकी संख्या बढ़ी और वे सम्पन्न बन गए। बचाव के लिए उन्होंने दीवारें खींच लीं, उपासना के लिए गिरजे बना लिए और अन्य आवश्यक संस्थाएं संगठित कीं।

ग्यारहवीं शताब्दी में जब व्यापार पुनरुज्जीवित हुआ तब यूरोप के आर-पार दो धाराएं बहने लगीं। एक तो उत्तर के स्कैण्डिनेवियन देशों से कुस्तुन्तुनिया की ओर, और दूसरी, भूमध्य-सागरीय देशों और पश्चिम-यूरोप के बीच। इस व्यापारिक पुनरुज्जीवन से इटली के नगरों ने सबसे पहले लाभ उठाया। वे आर्थिक जीवन के सम्पन्न और समुन्नत हुए केन्द्र बन गए। कुस्तुन्तुनिया से टक्कर लेनेवाले एक लाख की आबादी के नगर वहां खड़े हो गए। उनमें पूंजी संचित हो गई। धन्धे और कारीगरियां बहुगुणित हुईं और विशेषज्ञता ने बड़ी तेज प्रगति की। इन नगरों ने व्यवसाय-संगठन के तरीकों और वाणिज्य की तकनीक में भी प्रगति की। इटली के व्यापारी मेलों में जाते थे और इटली के बैंकर यूरोप के राजाओं को आर्थिक सहायता देते थे।

इस प्रकार इटली की नागरिक अर्थ-व्यवस्था का प्रभाव उत्तर तक फैला। इटली के पूंजीपति—आल्पों के मामूली महाजनों से लेकर लम्बार्डी के बड़े-बड़े बैंकरों तक सभी—पूरे यूरोप में कारबार करते थे। इटली की पूंजी उत्तर में नगरीकरण के आन्दोलन को बढ़ावा देती थी। इंग्लैण्ड में, जिसकी आबादी सन् 1370 में मुश्किल से 15,00,000 थी, 100 से ऊपर पट्टा प्राप्त नगर थे। विशेषज्ञता भी इतनी प्रगति कर गई थी कि अकेले पेरिस में डेढ़ सौ से अधिक विभिन्न शिल्प-उद्योग थे।

यह सच है कि उत्तर के नगर आरम्भ में दक्षिणी नगरों की अपेक्षा गरीब और कम आबादीवाले थे। उदाहरण के लिए, तेरहवीं शताब्दी में लन्दन में पच्चीस हजार से भी कम लोग रहते थे। ग्राम और नगर में बहुत स्पष्ट अन्तर नहीं था। दोनों ही सामन्ती शासन के अंग थे और एक-जैसे भारों और अवरोधों से पीड़ित थे। सम्पन्नता और पूंजी के बढ़ते हुए संचरण ने दोनों को ही सामन्ती जंजीरों से छुटकारा दिलाया। ग्राम एवं मुक्त किसानों के निवासस्थान बन गए, जो विशेष पट्टों के अधीन भूमि जोतते थे और व्यापार करने अथवा भूमि पर बंधे रहने के लिए विवश नहीं थे। सामाजिक स्तर का स्थान (स्थिति) ने ले लिया।

नगरों में व्यापारियों के पास पूंजी जमा हो गई और उनकी साख बनाने की क्षमता बढ़ गई। वे भण्डारों में, बैंकों तथा अन्य पूंजीगत इकाइयों में, व्यापार,

विशेषकर नियात को बढ़ाने में जमीनों में और उद्योगों में अपना पैसा लगाने लगे।

इस व्यावसायिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम निकला नगरों में मुक्ति आन्दोलन का उठ खड़ा होना। इंग्लैण्ड में वर्गों और महाद्वीप में कम्यूनों ने लौकिक और धार्मिक दोनों ही वर्गों के सामन्ती लार्डों के जुए को अपने कंधों से उतार फेंका। कभी तो उन्होंने संघर्ष और विद्रोह (ऐसा विशेषकर चर्च की जागीरों में हुआ) के माध्यम से मुक्ति प्राप्त की और कभी अपने शाही अथवा सामन्ती स्वामियों की कृपा और सहयोग से। कभी-कभी उन्होंने उनकी कठिनाइयों से लाभ उठाकर भी अपना काम निकाला।

मूल रूप में ये कस्बे भी जिनमें व्यापारी रहते थे संगठन की दृष्टि से सामन्ती और उद्देश्य की दृष्टि से सामरिक थे। उनके कानून और रिवाज निरंकुश थे। उनका प्रशासन जमींदाराना था। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर अंकुश रखते थे और उनकी सामन्तवादी कर-प्रथा व्यापार के लिए कष्टकर तथा विघ्नमय थी। न्याय की भी व्यवस्था व्यापारिक समाज की जरूरतों के अनुकूल नहीं थी। महाद्वीप में तो व्यापारियों ने व्यापार की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर सामन्ती दायित्वों से मुक्त होने के उद्देश्य से व्यापार-मण्डल और संघ बना लिए थे। वे परस्पर एकत्र हो गए थे और सभी आक्रमणों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की उन्होंने शपथ ले ली थी। इस प्रकार जीवन में कम्यूनों का प्रवेश करा दिया गया।

कम्यून की स्वायत्तता का अर्थ था एक सहयोगी संस्था का निर्माण जिसके देश के सामान्य नियमों से भिन्न अपने विशेष सुविधाप्राप्त प्रादेशिक कानून थे। इन कानूनों को लागू करने के लिए उसकी अपनी अदालत थी। सत्ता और प्रशासन में उसके अपने शासन थे और उसका अपना संविधान था। सार रूप में हर कम्यून एक सामूहिक गणराज्य था।

इंग्लैण्ड की नगरपालिकाओं का इतिहास महाद्वीप के देशों की अपेक्षा कम कौतूहलपूर्ण है। वहाँ परिणाम दोनों के एक-जैसे ही हैं। इंग्लैण्ड के राजाओं ने नार्मन विजय से ही सामन्तों, बैरनों की सत्ता को सीमा में बांधने के प्रयास किए थे। इन बैरनों ने अपनी निजी जागीरों में स्थित कस्बों की मांगों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया था और उन्हें स्वतन्त्रता के अधिकारपत्र प्रदान कर दिए थे। बैरनों की जागीरों के अन्य कस्बों को भी ऐसी सुविधाएं प्राप्त करने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। केवल बिशपों और मठों से सम्बन्धित कस्बों को ही कड़े विरोध से निपटना पड़ा और सुविधाएं प्राप्त करने के लिए एक लम्बे और कठोर संघर्ष में से गुजरना पड़ा।

इंग्लैण्ड के नगरों ने क्रमशः अपने प्रत्यक्ष लार्डों और राजा के स्थानीय प्रतिनिधियों अर्थात् शेरिफों की सत्ता से मुक्ति प्राप्त कर ली। अधिकारपत्रों ने उन्हें कितनी ही सुविधाएं प्रदान कर दीं—उदाहरणार्थ करों के और राजा के अफसरों के हस्तक्षेप के बिना नगरों के राजस्व वसूल करने का अधिकार बशर्ते कि एक निश्चित राशि खजाने में जमा कर दी जाए। न्याय के क्षेत्र में बाहरी अदालतों के अधिकार क्षेत्र से मुक्ति, अपने मजिस्ट्रेट चुनने, अपना प्रशासन चलाने और व्यापारियों तथा दस्तकारों के संघ स्थापित करने का अधिकार।

नगरों के उन्नत विकास का समाज पर गहरा असर पड़ा। यूरोप की आरम्भिक अर्थ-व्यवस्था गाँव पर आश्रित थी। परवर्ती मध्य-युग में सामन्तिक जीवन पर नागरिक अर्थ-व्यवस्था छा गई। पहले गाँव राजनीतिक व्यवस्था की लगभग एक खुदमुख्तार इकाई था। बस्ती उन्मुक्ति का दावा करता हुआ और अपनी स्वायत्तता को प्रयोग में लाता हुआ नगर अब करीब-करीब एक सर्वोच्च प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्य बन गया था। राष्ट्रवादी राजनीतिक संस्थाओं से पृथक होकर नगरपालिकाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सजग रहने लगा। एक ओर यदि ग्रामीण क्षेत्रों में सामन्ती अराजकता फैलती जा रही थी तो दूसरी ओर नगर सामन्ती जागीरों का स्थान ग्रहण कर रहे थे। यूरोप के कुछ भागों में—उदाहरणार्थ इटली में—ये इतने शक्तिशाली हो गए थे कि देश की एकता का भंग करने तक की सामर्थ्य इनमें आ गई थी। अन्य देशों में केन्द्रीय सत्ता ने अर्ध-स्वायत्त नगरपालिकाओं पर अलग-अलग मात्रा में अपना नियन्त्रण बनाए रखा।

नगरों की आन्तरिक सामाजिक पद्धति सामन्ती जागीरों से भिन्न थी। नगरों की अर्थ-व्यवस्था व्यापार मण्डल बनानेवाले व्यापारियों के संघों पर निर्भर थी। नगर के व्यापार का एकाधिकार मण्डल में निहित था और उसके अधिकार अधिकारपत्र-द्वारा संरक्षित थे। मण्डल सहयोग को और सामूहिक मेलभाव को प्रोत्साहन देता था और एक कल्याण-संस्था के कर्तव्य पूरे करता था। इसके विशुद्ध आर्थिक कार्यों में उद्योग और व्यापार का नियन्त्रण तथा नियमन सम्मिलित था। यह कीमतों को स्थिर करने के लिए आदेश जारी करता अथवा मान निर्धारित करता था। बाजारों का नियमन करने के लिए यह समान बाट और गज भी नियत करता था।

लेकिन व्यापार-मण्डलों की सक्रियता आर्थिक मामलों तक ही सीमित नहीं थी। आरम्भ में ये सम्पूर्ण नागरिक समाज के संस्थाओं के रूप में राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग में हिस्सा बटाते थे। अन्ततः ये समस्त राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार रखनेवाले विशेषाधिकार-सम्पन्न समुदाय बन गए। इन्होंने सामान्य लोगों, विशिष्ट लोगों एवं कामगारों को प्रशासन में उनके अधिकार से वंचित कर दिया। यह विशेषाधिकारी व्यवस्था मध्यमवर्गीय बुर्जुआ अर्थात् किसानों और कुलीनों के बीच के वर्ग से निर्मित थी और मण्डल अथवा बुर्जुआ की आम सभा के माध्यम से अपनी सत्ता को कस्बे पर लागू करती थी। इस सभा का प्रमुख काम सार्वजनिक कर्मचारियों अथवा मजिस्ट्रेटों को चुनना था। असली सरकार इन अफसरों से ही बनती थी। इंग्लैण्ड के नगरों में इन्हें 'मेयर' या 'आल्डरमैन' या 'शेरिफ' कहते थे। फ्रांस में ये 'कौंसिलर' अथवा 'जूरर' अथवा 'सिंडिक' कहलाते थे। ये व्यापार को नियमित करने के लिए आदेश जारी करते थे, नगरपालिका की पूँजी का नियमन करते थे, सेना का नेतृत्व करते थे और सुरक्षा के लिए आवश्यक कारवाई करते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि दीवानी और फौजदारी दोनों ही क्षेत्रों में ये नागरिकों का न्यायशासन भी करते थे।

नगर प्रशासकों की दो प्रधान समस्याएँ थीं—भोजन और सुरक्षा का प्रबन्ध करना। दोनों में ही खर्चा आता था। इसने एक ऐसी वित्त-पद्धति का विकास जरूरी बना दिया जो इन भारी खर्चों को उठा सके। हल यह निकला कि नगरपालिका कर लगाए—चाहे नागरिकों की सम्पत्ति पर सीधा कर अथवा नगर में आनेवाले माल पर परोक्ष चुंगी। बाजारों का नियमन करके अन्न के आयात को और उपभोक्ता के लिए उसके

निश्चय मूल्य का नियन्त्रित किया जाता था। सुरक्षा का प्रबंध दीवारें खींच कर खाइयां खोद कर और हथियार धारण कर दिया जाता था।

व्यापार की प्रगति ने व्यापार-मण्डलों के विकास को प्रेरित किया था। उद्योग की उन्नति में शिल्पकार मण्डल कहलानेवाले कारीगरों और कामगारों के संघ बने। इनकी स्थापना निस्सन्देह मध्य-युगीन बुर्जुआ सभ्यता की सबसे रोचक और मौलिक सृष्टि थी। मध्य-युगीन अर्थ-व्यवस्था पर इनका गहरा असर पड़ा।

शिल्पकार मण्डल तीन प्रकार के सदस्यों से मिल कर बनता था—उस्ताद, वेतन भोगी और शिष्य। हर शिल्प का अपना अलग मण्डल था और कोई भी व्यक्ति, जो शिल्प विशेष में काम करना चाहता था, मण्डल का सदस्य बने बिना वैसा नहीं कर सकता था। शिल्पकार बनने का इच्छुक व्यक्ति एक शिष्य के रूप में मण्डल में शामिल होता था और किसी भी व्यक्ति के लिए शिष्य के रूप में काम किए बिना उस्ताद बनना असम्भव था। शिष्य का दाखिला एक सार्वजनिक और पवित्र समझौते के रूप में होता था जो दोनों पक्षों पर पारस्परिक जिम्मेदारियां डालता था। उस्तादों की भावी संख्या को और इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए कि शिल्प विशेष पर उसके साधकों का ही एकाधिकार हो, शिष्यता को सख्ती से सीमित रखा जाता था। ये प्रतिबंध जाति के रूप में रूढ नहीं हो सके क्योंकि उस्ताद के लड़कों को छोड़ कर जहां वंशानुक्रम स्वीकृत था, और सभी वर्गों के लिए दाखिला खुला था।

शिष्यता की अवधि सामान्यतः लम्बी होती थी—सात से लेकर बारह वर्षों तक। उस्ताद का यह कर्तव्य माना जाता था कि वह शिष्य को खाना, कपड़ा और रहने का स्थान तथा कारीगरी की शिक्षा और जो-कुछ भी अन्य आवश्यक चीजें हों दे। उस्ताद शिष्य के आम व्यवहार और उसकी अच्छी तथा कुशल कारीगरी के लिए जिम्मेदार होता था। उसके गलत आचरण पर उसे दण्ड देने का उसे अधिकार था। शिष्य को उस्ताद के प्रति आज्ञाकारी और वफादार रहना पड़ता था। उसे उसके घर का काम करने पड़ते थे और कभी-कभी कुछ फीस भी देनी पड़ती थी।

प्रशिक्षण की अवधि समाप्त होने पर शिष्य वेतन भोगी कारीगर अथवा अनुचर बन जाता था। इस कारीगर को यात्रा करने और दूसरे नगर में अन्य उस्ताद के कारखाने में काम करने की छूट थी। परख की अवधि के बीच, जो एक से तीन वर्ष तक ही होती थी, अपने काम के लिए उसे उस्ताद से वेतन मिलता था। लेकिन दिन में बहुत लम्बे समय तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, उसे जुटे रहना पड़ता था।

शिष्य अथवा कारीगर एक परीक्षा के बाद अथवा अपनी कारीगरी और विद्या के नमूने के रूप में एक बढ़िया चीज बना कर उस्ताद के आरक्षित वर्ग में शामिल हो जाता था। परख-अवधि के बीच उसकी आय इतनी हो जाती थी कि वह एक स्वतन्त्र कारखाना स्थापित करने के लिए पर्याप्त धन जमा कर सके। एक पवित्र समारोह के साथ उम्मीदवार को उस्ताद का पद दे दिया जाता था। समाज के नियम और कानून उसके सामने पढ़े जाते थे और वह उनका पालन करने की शपथ लेता था।

मण्डलों में सम्मिलित कारीगरों के इन तीन वर्गों के बीच भाई-चारे का सच्चा भाव होता था। उस्तादों और कारीगरों को भी शिष्य की तरह ही उसी प्रशिक्षण और अनुशासन में होकर गुजरना पड़ता था। वे अपने छोटे छोटे कारखानों में मिल कर काम करते थे। जीवन के सुख व बांट कर भोगते थे और अपने अच्छे-बुरे दिनों में मिल कर

साथ खड़े होते थे। मण्डल अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करता था। वह माल के भाव निश्चित करता, वेतन तय करता और वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता। वह धार्मिक हितों की भी देखभाल करता था। वह उपासना और धार्मिक समारोह मनाने का प्रबन्ध करता था और गरीब तथा विपत्तिग्रस्त सदस्यों की सहायता करता था। मण्डल सभी प्रकार के झगड़ों में अदालत का भी काम करता था और सदस्यों को कानूनी अदालतों में जाने से रोकता था।

मण्डल का प्रशासन उच्च सदस्यों के हाथ में था। मण्डल की सभाएं निश्चित अवधि के बाद नियमित रूप से होती थीं और अपने कारबारियों के नियमन के लिए कानून बनाती थीं। कुछ मण्डलों ने समितियां भी स्थापित की थीं जो अपराधों का निर्णय करतीं और कानून बनाती थीं। कार्यकारी अधिकार अधिकारियों में निहित थे जिन्हें साधारण-सभा चुनती थी। ये लोग सदस्यों के काम की देखरेख करते थे और चीजों के गुण-स्तर को बनाए रखते थे। ये आदेशों और नियमों का पालन कराते थे।

समस्त शिल्पकार-मण्डलों को नगरपालिका की सत्ता के स्वामी व्यापारियों के विरोध के मुकाबले अपनी स्थिति संगठित करनी पड़ी थी। लेकिन बाद में उन्हें जन-संस्थाओं के रूप में मान्यता दे दी गई। उन्हें सीमित अधिकार भी मिल गए और नागरिक प्रशासन के प्रधान विभागों के रूप में उन्हें देखा जाने लगा। ज्यों ज्यों नगरपालिका प्रशासन के साथ इन मण्डलों का सम्बन्ध दृढ़ होता गया उनका महत्त्व बढ़ता गया। बाद में तो नागरिक चुनाव के लिए और नगरपालिका के दफ्तर में नियुक्ति के लिए शिल्पकार-मण्डल की सदस्यता एक प्रधान साधन बन गई। उदाहरणार्थ मेयर का पद उनके आश्रित हो गया। शिल्पकार-मण्डलों ने व्यापार-मण्डलों को स्थानच्युत कर दिया।

सामन्ती पद्धति ने विशिष्ट और सामान्य के बीच समन्वय का प्रयत्न किया किन्तु उसका सामाजिक-आर्थिक आधार अत्यन्त पृथक्तावादी था और उसकी जड़ें स्थानीयता में बहुत गहरी समाई हुई थीं। सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों में विसंवाद का बहुत कम महत्त्व था। उनकी इकाइयों में एक आन्तरिक सामञ्जस्य और स्थिरता थी जो निरन्तर समग्र के साथ उन्हें भावनात्मक और बौद्धिक सम्बन्ध-सूत्र में ही रखने देती थी।

यद्यपि आरम्भिक मध्य-युग का सामूहिक जीवन एक अत्यन्त परिमाणवत् स्वामी-ग्राम के चतुर्दिक केन्द्रित था तथापि उसकी महत्त्वाकांक्षा ऊपर उठ कर पूरे ईसाई-जगत् की एकता की सिद्धि तक उड़ा करती थी। ये महत्त्वाकांक्षाएं सामाजिक जीवन के सभी पक्षों में अभिव्यक्त होती थीं। ये महत्त्वाकांक्षाएं जनसमुदायगत, जातीय एवं भौगोलिक विभेदों के ऊपर उठे एक विश्व-समाज की राजनीतिक व्यवस्था बन के शिरोबिन्दु एक विश्व राजतन्त्र का, ईश्वर के आदेशों के अनुसार लोगों के आचरण को नियन्त्रित करने वाले एक विश्व-चर्च को, रोम की धर्मसंहिता पर आधारित एक विश्व-न्याय-विधान की धारणा ने विश्वव्यापी नियमों की एक विश्व भाषा अर्थात् लैटिन की धारणाओं को जन्म देती थीं। कला साहित्य दर्शन और धर्म में भी ये अभिव्यक्त होती थीं।

सामन्तवाद का पतन

एक संकीर्ण किन्तु अत्यन्त पृथकतावादी और एक उदार किन्तु कृत्रिम विश्व-वादी धारणाओं के बीच राष्ट्रवादी समाज और राष्ट्रीय राज्य की मध्यमार्गी धारणा

का कोई गुंजाइश न था। सामन्ती सत्ता के दोनों पक्षों—नगरवासी और विश्व वाणिज्य—के पूर्णतया स्थिर होने पर ही उनका उद्भव हो सका।

तेरहवीं शताब्दी में उच्चतम विकास के ठीक बाद ही सामन्तवाद के विघटन का क्रम आरम्भ हो गया। मध्य-युगीन सामन्त प्रणाली के रूपान्तरण के लिए यों तो कितने ही कारण थे पर उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण थे जनसंख्या का उतार-चढ़ाव और पूंजी।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक यूरोप की आबादी लगातार बढ़ती रही। इसके बाद उसका बढ़ना न केवल रुका, बल्कि चौदहवीं शताब्दी में अत्यधिक युद्धों, प्लेग और महामारी के कारण जनसंख्या में कमी आई। इससे कृषि श्रमिकों की सुलभता और ग्रामों की कृषि-आवश्यकताओं के बीच का सन्तुलन बिगड़ गया। काफी कृषि-योग्य भूमि, विशेषकर लार्डों की सीर, अनजुती रह गई। वेतन बढ़ गए, कामगारों को बेगार अखरने लगी और उनकी कुशलता भी घट गई। लार्डों और असामियों के सम्बन्ध बिगड़ गए।

पूंजी के आगमन ने इन प्रवृत्तियों को और बढ़ावा दिया। लार्डों ने इस बात में अधिक लाभ देखा कि वे अपने असामियों को सामन्ती सेवाओं से मुक्त कर दें, जमीनों को काश्त पर उठा दें अथवा उन्हें जोतने के लिए पैसा देकर श्रमिक रख लें। कामगार लार्डों की जमीनों पर बेगार करने से मुक्त हो गए और उन्हें अपने समय तथा शक्ति का अपने खेतों में उपयोग करने का अवसर मिल गया। इससे बाजार में बेचने के लिए उनके पास अतिरिक्त उपज होने लगी और वे नगरों से अपनी जरूरत की चीजें खरीदने के योग्य धन पा गए।

तेरहवीं शताब्दी के बाद क्षणिक उतार-चढ़ावों और सोने के सिक्कों के फिर से चल जाने के फलस्वरूप किसानों की दशा सुधर गई। कीमतें बढ़ गईं और जिन जमींदारों ने लगान नकदी में बदल लिया था उन्हें भारी हानि उठानी पड़ी। लेकिन किसानों को लाभ पहुंचा। आय के घट जाने और खर्चों के बढ़ जाने का परिणाम यह निकला कि लार्डों पर कर्ज चढ़ गया। उन्हें अपनी जमीनें बेचने पर विवश होना पड़ा और किसानों ने या अक्सर नगरों के व्यापारियों ने उन्हें खरीद लिया।

इसके परिणाम बड़े क्रान्तिकारी हुए। ग्रामों में कामगारों का स्थान मुक्त किसानों ने ले लिया और मुक्त श्रमिकों का एक वर्ग बन गया जो जमीनों से बंधा नहीं रहा। ग्रामीण कारीगर को अपना शिल्प छोड़ देना पड़ा क्योंकि गांववालों ने अपनी जरूरतों के लिए अधिक कुशल और ज्यादा प्रवीण नागरिक शिल्पकारों पर निर्भर होना आरम्भ कर दिया। पट्टेदारी और रूढ़ समाज-स्तर पर खड़ा ग्रामीण समाज अब एक मुक्त समझौतों के आधार पर निर्मित होने लगा। जमींदार उन्मुक्त व्यक्ति बन गए। परम्परागत अधिकारों और कर्तव्यों का स्थान रुपए के लेन-देन ने ले लिया। जमींदार-वर्ग ने पैसा कमाने के दूसरे तरीके ढूंढ़ना आरम्भ किया। नगरों में वाणिज्य का विकास ऐसा ही एक रास्ता था। राज्य के नागरिक और सैनिक विभागों में नियुक्तियों का विस्तार दूसरा तरीका बना। जो लोग भूमि पर रह गए वे अपनी जमीनों को संगठित करने लगे और उन पर बाड़ा करके उनमें उद्यान के साथ-साथ भेड़ें पालने लगे। इस प्रकार सामन्ती गांव की मध्ययुगीन अर्थ-व्यवस्था पूरी तरह बदल गई।

मध्य-युगीन नगरों का भी स्वरूप-परिवर्तन हुआ। नागरिक उद्योगों की रूढ़ पद्धति हाथ की कारीगरी थी और उनकी काम प्रणालियों में बहुत कम विभिन्नता थी।

आरम्भ में व्यापारियों के मण्डल ही सामान्यतः उद्योगों का नियन्त्रण करते थे। लेकिन सत्ता के हस्तान्तरण, पूँजी के संचय और प्रगतिपूर्ण बाज़ार-व्यवस्था ने उन्हें कमज़ोर बना दिया तथा नष्ट कर दिया। अब शिल्पकार-मण्डलों ने उनका स्थान ले लिया। उन्होंने एकाधिकार और एकान्तिक पद्धतियों का निर्माण किया और नागरिक प्रशासन पर अधिकार पा लिया।

लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में शिल्पकार-मण्डलों का भी पतन हो गया। सदस्य महत्त्वपूर्ण बन गए कि सम्पन्न शिल्पकार व्यापारी और कारखानेदार बन गए। नागरिक सीमाओं से बाहर रहनेवाले कारीगरों के लिए, जिन पर मण्डलों के नियम लागू नहीं होते थे, इन्होंने माल का निर्माण असम्भव कर दिया। इस प्रकार कारखानेदार अथवा व्यापारी उत्पादन के साधनों का स्वामी बन गया। उसका प्रतिस्पर्धा में कारीगरों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से विशेष दस्तकारों ने 'लिवरी' कम्पनियाँ बनाईं। यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके अनुसार कारीगर अपने श्रम के बदले वेतनभोगी कामगार बन जाते थे और व्यापारी पूँजीपति मालिक। इस प्रणाली को 'घरेलू उत्पादन-व्यवस्था' कहा जाता था। इन कम्पनियों के बनने से नागरिक स्वाधीनता भंग हो गई। शिल्पकार-मण्डलों का एकाधिकार नष्ट हो गया और पश्चिमी यूरोप सीमित एकाधिकारवाद के बन्धनों से मुक्त हो गई।

इन परिवर्तनों के कारण सामन्ती ग्राम और नगर जिस अलगाव में काम करते थे, वह टूट गया। नगर और ग्राम एक व्यवसाय में भागीदार बन गए और एक सामान्य सामाजिक जीवन के रूप में परस्पर-सम्बद्ध हो गए। आत्मनिर्भरता लुप्त हो गई और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ने लगा। फलतः पारस्परिक निर्भरता बढ़ी।

राज्य का उद्भव

जब सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का रूप-परिवर्तन एक नये समाज की नींव रख रहा था, तब उसका ग्राम और नगर नामक इकाइयाँ एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था के रूप में पुनर्गठित हो रही थीं, तब एक केन्द्रीभूत सत्ता के उद्भव ने राजाओं के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण किया और सशक्त बनाया। केन्द्रीकरण पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ, लेकिन सामन्त प्रशासन और न्यायालयों के क्षेत्र में उसका विरोध जोर रहा।

सामन्तवाद अपने राजनीतिक रूप में अराजकतावादी था। राज्य की शक्ति नगण्य था। सामन्तों, लार्डों और चर्च के पास सत्ता का बड़ा भाग था और राजा का अल्प। जनसाधारण प्रजा पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण बहुत कम था। फिर इंग्लैण्ड में नार्मन विजेताओं ने पूरा विजित प्रजा पर अपना भारी शासन आरोपित किया था। इस समाज में किसी व्यवस्था के लिए बहुत कम गुंजाइश थी क्योंकि प्रत्येक स्व-व्यवस्थापक था। न्याय अधिकारहीन किया था क्योंकि अधिकतर अदालतें सामन्तादि-सामन्तों अथवा धार्मिक पीठों और गिरजाघरों के अधिकार-क्षेत्र अन्दर शामिल थीं। केन्द्रीय प्रशासन का यन्त्र आदिम अवस्था था। राजा के पास अधिकारी उसके कुटुम्बी के परिचारक-जन थे। उनमें वे सामन्त सम्मिलित होते थे जिन्हें सामन्तों के सहयोग के साथ इकट्ठा किया जाता था और जो सामन्ती प्रथा के अनुसार मन्त्रणा देने को बाध्य थे। उनका सामान्य अवसर दरबार में उपस्थित रहना

था और राज्य की सीमा से बाहर सत्ता करने की उसकी कोई योग्यता नहीं थी।

इन अन्धकार युगों में जब युद्ध की कला का बहुत कुछ विकास हो चुका था, अपने दुर्ग में बैठा सरदार बहुत आसानी से राजद्रोह कर सकता था, क्योंकि घेराबन्दी समय और धन दोनों ही दृष्टियों से बहुत महंगी पड़ती थी। इस प्रकार अपनी सत्ता के विस्तार के इच्छुक राजाओं और अपनी शक्ति को सुरक्षित रखने के प्रति सतर्क बड़े सामन्तों के बीच एक स्वाभाविक विरोध वर्तमान था। धर्मदेशों से पुष्ट राजभक्ति और अधीनता की आचारिक शपथ भी बार-बार के कलहों और विद्रोहों को रोक नहीं पाता था।

इस बार सर्वोच्चता का संघर्ष सबका सब चलता रहा। भाग्य में उतार चढ़ाव हुए। राजा कभी सफल हुआ और कभी हार गया। पर अन्ततः पन्द्रहवीं शताब्दी में अंत तक परिस्थितियां निश्चित रूप से केन्द्रीय सत्ता के पक्ष में हो गई।

इस संघर्ष में ग्राम और नगर, दोनों ने ही भाग लिया। नगरों ने एक केन्द्रीय शक्ति का पक्ष लिया क्योंकि उनके हित में यही था कि शान्ति और व्यवस्था कायम हो। बैरनों का औद्धत्य उसे बार-बार भंग करता था। नगर दो रूपों में शक्ति के मूल उपलब्ध कराते थे—करों, चुंगियों तथा ऋणों के माध्यम से। इस प्रकार प्राप्त धन ने सामन्ती राजस्व और सेवाओं पर निर्भर रहने से राजाओं को मुक्त कर दिया और उन्हें वेतनिक सेनाएं रखने के योग्य बना दिया। नागरिक अर्थ-व्यवस्था-द्वारा निर्मित मध्यम वर्ग ने भी राजतन्त्र को मजबूत बनाने में सहयोग दिया। ये लोग स्वभावतः ही, सामन्ती उच्च वर्ग के विरोधी थे। फिर व्यापार के फैलाव के लिए सुरक्षित सड़कों और शांतिपूर्ण बाजारों की जरूरत थी। इन्हें प्राप्त करने का लक्ष्य लेकर उन्होंने राजाओं का पक्ष-समर्थन किया। उन्होंने पूंजी का संचय किया और न केवल उच्चतर जीवन-स्तर पा लिया बल्कि संस्कृति के प्रति एक रुचि भी विकसित कर ली। उन्होंने ऐसे स्कूल स्थापित किए जो चर्च के अनुशासन से मुक्त जन-सामान्य के लिए ज्ञान के केन्द्र बन गए। इन स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करके निकले लोगों ने राजकीय प्रशासन विभागों में नौकरियां कर लीं और राजसत्ता के पक्ष को बलवती किया।

महाद्वीप में मध्यम वर्ग के एक अंग ने रोमन कानून का अध्ययन किया। इन लोगों ने कानून, व्यवस्था और सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता से सम्बन्धित रोमन विचारों का मध्य युगीन राजनीति में प्रवेश कराया।

युद्ध प्रणाली में हुए परिवर्तनों ने—उदाहरणस्वरूप बारूद के प्रयोग ने राजाओं की शक्ति को बढ़ा दिया और लड़ाई के किलाबन्दी के तरीकों को व्यर्थ बना दिया। जब राजाओं की शक्ति बढ़ रही थी तब जागीर-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले आर्थिक उलट फेर भी सामन्त वर्ग को कमजोर बना रहे थे। इस सब की परिणति यह हुई कि राजतन्त्र की निरंकुशता ने जोर पकड़ लिया और सामन्तता धुलपुलाकर नष्ट हो गई।

प्रशासन के क्षेत्र में राज्य के अलग-अलग विभाग बन गए और उच्चाधिकारी उनका नियन्त्रण करने लगे। मंत्रियों, अफसरों और क्लर्कों की संख्या बढ़ी और इस प्रकार इन सबके द्वारा मध्यम वर्ग का प्रभाव बढ़ा।

इंग्लैण्ड में राजा प्रशासन-यंत्र का प्रधान था और सीधे अथवा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से वैधानिक, न्यायिक, आर्थिक और प्रशासनीय कार्यों में भाग लेता था। अधिकार की पुष्टि में वह अफसरों का स्थान उसके बाद ही था—संसद कानून और विरा

का अधिकारी न्यायाधिपति अथवा मुख्य मन्त्री और जब यह पद समाप्त कर दिया गया तब चान्सलर, कोषाध्यक्ष, कान्स्टेबल और मार्शल।

तेरहवीं शताब्दी में विधान बनाने और कर लगाने का काम संसद् के हाथ में आ गया। इसमें सामन्त, पादरी और मध्यम वर्गों के प्रतिनिधि शामिल होते थे। अपने उच्च सदन (हाउस आफ लार्ड्स) को इसने कुछ विशेष विषयों का क्षेत्राधिकार दे दिया। संसद् कानून बनाने और राज्य के लिए राजस्व का प्रबन्ध करनेवाली केन्द्रीय संस्था बन गई। इसकी गतिविधियों ने समाज की एकता को बड़ा बढ़ावा दिया क्योंकि इसके निर्माण से ये वर्ग एक सहयोगी संगठन में बंध गए और इसकी सक्रियता राज्य की पूरी प्रजा को सीधे प्रभावित करने लगी। इस प्रकार, राज्य की बढ़ती हुई गतिविधियों ने सामन्ती इकाइयों की पृथकता और आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया।

इसी प्रकार न्याय भी सामन्ती अथवा साम्प्रदायिक अदालतों का निजी मामला न रहा। राज्य की केन्द्रीय अदालत का क्षेत्राधिकार विस्तृत हो गया। यह 'किंग्स बेंच' सामान्य मुकदमों की अदालत और 'एक्सचेकर' के माध्यम से काम करने लगी। 'किंग्स बेंच' का क्षेत्राधिकार फौजी मामलों और उन सब मुकदमों पर था जहां शान्ति भंग की गई हो अथवा शक्ति का अवैध प्रयोग किया गया हो। सामान्य मुकदमों की अदालत में राज्य के लोगों के दीवानी मुकदमों को सुना जाता था। एक्सचेकर शाही राजस्व से और राजस्व के संग्रह और इस्तेमाल से सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों की सुनवाई करता था। राजा की परिषद् और संसद् भी न्याय-यन्त्र के अंग थी।

राजा और उसकी अदालतों-द्वारा न्यायिक अधिकार धारण कर लिए जाने से सामन्ती अदालतों की न्यायिक सत्ता की समाप्ति में सहायता मिली, क्योंकि वे सब मामले जो व्यवहारतः जागीरी अथवा 'बरो' अदालतों के सामने पहुंचा करते थे, अब शाही अफसरों की अदालतों में पेश होने लगे।

यहां एक रोचक बात यह है कि एकीकरण की प्रगति सामन्ती राजस्व पर निर्भरता से राजा की मुक्ति का क्रमिक अनुसरण करती रही। सामन्ती देयों, सहायता-करों, चुंगियों आदि के अतिरिक्त आय के नए स्रोत प्रकट हुए, जैसे कि सभी प्रकार के भूमि पट्टेदारों पर कर, आय और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर, आयात निर्यात पर महसूल, अदालती फीस, जुर्माने तथा विशेषाधिकारों और पदों की बिक्री। जब फिजूलखर्च, महत्वाकांक्षी और लड़ाकू राजाओं के लिए ये भी काफी नहीं होते थे, तब वे मध्यम-वर्गीय महाजनों और बैंकरों से ऋण लेने का मार्ग अपनाते थे।

ऐसी ही एक बात ने सेना को भी प्रभावित किया। सामन्ती प्रथा के अनुसार, राजा की सेना में सामन्तों की सेवा करनेवाले असामी सम्मिलित होते थे। ये वर्ष में चालीस दिन सेवा करने को बाध्य थे और समुद्र-पार जाने से दूर भागते थे। इस प्रथा के दोषों को महसूस करते हुए बारहवीं शताब्दी में सैनिक सेवा के बदले धन देने का तरीका अपनाया गया और सभी मुक्त असामियों को उनकी आय के अनुसार अस्त्र-सज्जित करने के कानून बनाए गए। इस सेना का कर्तव्य था शान्ति स्थापित करना और अपराधों की रोक-थाम करना। राजा-द्वारा नियुक्त अफसर इस सेना को भर्ती करते थे, जिसे स्वयं राजा वेतन देता था और साज-सामान से लैस करता था। राजा ऐसा इसीलिए कर पाता था कि उसका राजस्व बढ़ गया था। वेतनभोगी सेना और बारूद ये दो ऐसे हथियार थे जिन्होंने सामन्तवाद के दुर्ग को उड़ा दिया।

चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के बीच सामन्त-युगीन आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रणाली छिन्न भिन्न हो गई। सामन्ती समाज और चर्च के सोपानिक तन्त्र का आधार था व्यक्तिगत सम्बन्ध जो असामी और जमींदारों, कामगार वर्ग और मुक्त किसानों, सामन्तों और महासामन्तों, महासामन्तों और राजाओं, उस्तादों और कारीगरों के बीच विद्यमान पट्टेदारी और अनिवार्यतापरक सम्बन्धों को भी प्रभावित करता था। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध टूट कर बिखर गया और इसके स्थान पर एक नई प्रणाली आ गई, जिसमें पट्टेदारी और अनिवार्यता से सम्बन्धित रिश्ते अधिक मजबूत बने गए तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध कमजोर पड़ गए। यह प्रणाली अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही।

3 वाणिज्यवादी प्रणाली

सामन्ती पद्धति के छिन्न भिन्न हो जाने के बाद सोलहवीं से अठारहवीं तक की दो शताब्दियाँ यूरोपीय इतिहास में मध्य और आधुनिक युगों के बीच का संक्रान्ति-काल कहलाती हैं। आर्थिक क्षेत्र में हस्तशिल्प पर आधारित मध्य-युगीन नागरिक व्यापार का स्थान वाणिज्यवादी प्रणाली ने ले लिया और राजनीति में सामन्ती लार्डों की अर्द्धस्वायत्त जागीरों के ढीले-ढाले संघ की जगह केन्द्रीभूत और शक्तिशाली राजकीय एकतन्त्रों ने ले ली। बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी एक विस्तृत और विशाल क्रान्ति हो गई, जिसका दिमाग के रचना रचनाओं और कार्य-पद्धतियों पर प्रभाव पड़ा। इसने लोगों के विश्वासों को बहुत गहराई तक झकझोर डाला। इस प्रकार इस तिहरे आन्दोलन ने समाज का रूपान्तरण किया और यूरोप के प्रादेशिक धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीय, आत्मचेता समाजों पर आधारित आधुनिक स्वतन्त्र और स्वभागी राज्यों का युग आ पहुँचा। इन समाजों के सदस्य व्यक्ति और समूह, दोनों ही—राष्ट्रीय भावनाओं और प्रान्तीय अनुराग के सम्बन्ध-सूत्रों से परस्पर बंधे थे।

अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में वाणिज्यवादी प्रणाली ने सामन्ती व्यवस्था का स्थान लिया। वाणिज्यवाद ने नए उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित किया। आर्थिक सहायता, एकाधिकार और कर से मुक्ति देकर विदेशों की प्रतियोगिता को सीमित करके चुंगियों का इस प्रकार ढाँचा बनाकर कि कच्चे माल के आयात और तैयार माल के निर्यात को बल मिले, तथा नियन्त्रण द्वारा उत्पादन-स्तर बनाए रख कर इसने उद्योगों का पोषण किया। कितने ही अन्य तत्वों ने भी इसकी प्रगति में सहयोग दिया—उदाहरण के लिए, व्यक्तिवाद का विकास जो स्वयं मध्य-युगीन प्रणाली के विनाश का एक परिणाम था ग्रामीण संस्थाओं और समुदायों के प्रभाव का लोप व्यक्ति की अपने आर्थिक जीवन में चर्च और मालिक के नियन्त्रण से मुक्ति और बुद्धि तथा आत्मा पर कसी जंजीरों का टूट कर बिखर जाना।

जिन कारणों ने वाणिज्यवाद को जन्म दिया, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था पूंजी का संचय। इसने कृषि, व्यापार और उद्योगों को प्रभावित किया। कृषि-क्षेत्र में खेतों की चकबन्दी और भेड़ पालने के लिए बाड़ों के निर्माण ने उत्पादन की वृद्धि में सहायता पहुँचाई और उद्योगों के लिए श्रमिक उपलब्ध हुए। व्यापारिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण बातें थीं—विदेशी कम्पनियों का विकास जिन्होंने हस्तशिल्पों को व्यापारी उद्योगपतियों के नियन्त्रण में ला दिया नए मार्गों तथा अमरीका एवं भारत जैसे नए देशों की खोज से

फलस्वरूप, नए बाजारों का विकास, और यूरोप के आर्थिक केन्द्र का भूमध्य-सागरीय देशों से हट कर अतलान्तिक समुद्र-तटवर्ती देशों में चला जाना।

भारत और अमेरिका की खोज का बड़ा प्रेरक परिणाम निकला। वाणिज्य और उद्योग आगे बढ़े। सत्रहवीं सदी के अन्त में समुद्रपारीय व्यापार से इंग्लैण्ड को प्राप्त होनेवाली राष्ट्रीय सम्पत्ति यूरोप से होनेवाली आय की तिगुना थी। वाणिज्य ने नौवा-नयन और जहाज-निर्माण को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। अमेरिका से यूरोप में सोने और चांदी की एक बाढ़-सी आ गई। इस प्रकार तरल पूंजी अचानक ही बढ़ गई और इससे व्यावसायिक उद्योगों को बड़ा बल मिला। वाणिज्य और उद्योग की नई-नई प्रणालियों ने व्यापारियों और उद्योगपतियों को लाभ पहुंचाया।

वाणिज्यवादी पद्धति के आने से आर्थिक एकता का भी पक्ष पुष्ट हुआ। इसने सिक्कों, बाटों और गजों में विद्यमान विषमताओं को दूर कर दिया। इसने चुंगी की रुकावटों और नगर-चुंगियों को समाप्त करके स्थानीय प्रथाओं की जगह एक सामान्य नीति लागू की और एक सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित की। इसने राज्य के अधिकारों में वृद्धि की। राज्य के सभी विरोधी—चर्च, कस्बे और सामन्ती जागीरें—इसके बढ़ते हुए नियन्त्रण के आगे झुक गए। वाणिज्यवादी नीतियों के द्वारा राज्य ने धन और शक्ति प्राप्त की, जिसका उपयोग उसने उपनिवेश बसाने, सेनाएं खड़ी करने और विरोधियों के विरुद्ध युद्ध करने में किया।

वाणिज्यवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन के उस तरीके पर आधारित थी, जिसे घरेलू पद्धति कहते हैं। इसके अनुसार कारीगर अपने परिवार के साथ अपने घर पर ही काम करता था। काम के औजार उसके अपने होते थे, लेकिन बिचौलिया अथवा व्यवसायी कच्चा माल उसे देता था और तैयार माल बेचने के लिए ले लेता था। इस प्रकार, व्यापारी खरीदार से सीधा सम्बन्ध रखता था और निर्माता की सक्रियता पर नियन्त्रण रखता था। वाणिज्यवाद ने मध्य-वर्ग और बुर्जुआ पूंजीवाद को विजय दिलाई।

वाणिज्यवाद उस राजनीतिक परिवर्तन क्रम का ही एक हिस्सा था, जिसके अधीन राज्य पूरा प्रभाव और सत्ता अपने पास संचित कर रहा था। सोलहवीं शताब्दी में सामन्ती कुलीनतन्त्र ने राज्य का मुकाबला करना और उसकी सत्ता को सीमित करना छोड़ दिया। लेकिन लोगों की बुद्धि और उनके विश्वासों पर चर्च का प्रभाव अभी तक बाकी था। जिन आन्दोलनों ने मानव-मस्तिष्क को मुक्त किया और रोमन कैथॉलिक चर्च के संगठन और अनुशासन को भंग किया, वे थे नवजागरण और सुधार आन्दोलन।

नवजागरण जो इटली में आरम्भ हुआ, एक संश्लिष्ट प्रक्रिया था। अपने आरम्भिक स्तरों में यह प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुद्धार था। लेकिन यूनानी संस्कृति एक बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति थी। यह सभ्यता मानवतावाद से परिपूर्ण थी और नैसर्गिक जीवन में रस लेती थी। इसमें अति-मानवीय तत्वों को कोई महत्व प्राप्त नहीं था।

दूसरी ओर, सामन्ती यूरोप में धर्म का प्रभाव सर्वव्याप्त था और राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन भी उसके निर्देशन तथा नियन्त्रण से पूरी तरह बाहर नहीं था। चर्च ने उन सीमाओं को भी निर्धारित कर दिया था जिनमें रह कर बुद्धि अथवा तर्क अपना काम करें। वह जीवन के सभी पक्षों में ईसाइयों के आचरण और जीवन को नियमित करता था और उनके लिए व्यवहार के स्तर निर्दिष्ट करता था।

नवजागरण ने इस मध्य-युगीन धर्मतन्त्र को भारी चोट पहुंचाई। लोग अब अपने विचारों के समर्थन के लिए बुद्धि का सहारा लेने लगे। धर्म की सत्ता और परम्परा की मान्यता की उन्होंने छानबीन आरम्भ कर दी। वे प्रकृति और विज्ञान, मानव और उसके सुख-दुख, सौन्दर्य और साहसिक कार्यों में रुचि लेने लगे। व्यक्ति ने साम्प्रदायिक जीवन के उस खोल को फाड़ दिया, जिसमें वह अब तक बन्द था।

इस प्रकार प्राप्त स्वतन्त्रता धर्म के क्षेत्र में भी शीघ्र ही फैल गई। लूथर-जैसे लोगों ने रोमन कैथोलिक चर्च के निर्देशों और सिद्धान्तों की परीक्षा आरम्भ कर दी और अपनी आत्मा को पीटर की चट्टान के सहारे टिकाने के बदले अपने जीवन की सार्थकता व्यक्तिगत विश्वासों में ढूंढना शुरू किया। चर्च की एकता बिखर गई। इंग्लैण्ड के राजाओं ने संसद की सहमति से रोम के साथ अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध तोड़ दिया और इंग्लैण्ड के एंग्लिकन चर्च पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त कर लिया। जर्मनी में कितने ही राजाओं ने लूथर का अनुगमन किया और रोमन कैथोलिक मान्यताओं और पोप की सर्वोच्चता को तिलांजलि दे दी। काल्विन ने स्विटजरलैण्ड में एक ऐसे ही आन्दोलन का नेतृत्व किया। प्रोटेस्टैंट मत यूरोप के दूसरे देशों में फैल गया।

सुधार-आन्दोलन ने हर यूरोपीय देश को रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट इन दो प्रतिद्वन्द्वी दलों में बांट दिया। प्रत्येक मत का लक्ष्य न केवल मानव के संकीर्ण धार्मिक जीवन का नियन्त्रण था बल्कि उसके राजनीतिक, आर्थिक और नागरिक आचरण का निर्देशन भी था। ऐसी परिस्थिति में युद्ध अनिवार्य था। जब विभेद इस सीमा तक पहुंच जाते हैं कि समझौता सम्भव नहीं रहता, तब तलवार निर्णायक बनती है।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक के सौ वर्षों में यूरोप धर्म-युद्धों में उलझा रहा। भयंकर हत्याकाण्डों और विध्वंसक सैनिक-अभियानों के बाद अन्त में यूरोपियनों ने यह सबक सीखा कि एक साथ ही अच्छा रोमन कैथोलिक और अच्छा प्रोटेस्टैंट बनना सम्भव है और इसके साथ ही अपने प्रादेशिक राज्यों के प्रति वफादार भी रहा जा सकता है।

इस प्रकार राजनीति में धर्म-निरपेक्षता आई और धर्म उन विषयों में उलझन से मुक्त हो गया जिनकी जड़ें मानव के निम्न सांसारिक स्वार्थों में थीं। ईसा की सलाह कि 'जो चीजें सीजर की हैं उन्हें सीजर को दे दो, और जो भगवान की हैं उन्हें भगवान को' अन्ततः लागू हुई और शान्तिपूर्ण स्थितियां स्थापित हुई। मत और सम्प्रदाय अपने सम्मान भूल गए और समान उद्देश्यों की स्थिति के लिए समान राष्ट्रीयता के सम्मिलित सदस्य बन गए।

राष्ट्रीय भावनाओं ने आधुनिक यूरोप के निर्माण में तीन आन्दोलनों ने एक साथ योग दिया। वाणिज्यवाद ने राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय शक्ति की आर्थिक नींव रखी। नवजागरण ने राष्ट्रीय भाषाओं और संस्कृतियों को प्रोत्साहित किया और सुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना की। मध्य-युगीन विश्ववाद का स्थान धर्म निरपेक्ष और प्रादेशिक समाजों के पृथकतावाद ने ले लिया।

4 औद्योगिक क्रान्ति और राष्ट्रवाद

राजाओं की सार्वभौम राजनीतिक सत्ता के अधीन यूरोपीय जातियों में राष्ट्रीय एकता की चेतना विकसित हुई। इस चेतना के दो पक्ष थे—एक देश विशेष में

रहनेवाले लोगों की समानता की चेतना, और अन्य देशों के वासियों से उनके भेद की चेतना।

इंग्लैण्ड पहला देश था, जहाँ इस प्रकार का राष्ट्रीय भाव प्रकट हुआ। कारण यह हुआ कि सन् 1688 की अंग्रेजी क्रान्ति के फलस्वरूप सत्ता राजा के हाथ से निकल कर स्वयं प्रजा को मिल गई थी। वफादारी शासक के प्रति न रह कर स्वयं जनता के प्रति उन्मुख हो गई थी। फिर, व्यक्ति एवं समाज ने अपनी एकता अपनी संसद् में पा ली थी। पहला जनप्रिय राष्ट्रीय गीत 'रूल ब्रिटेनिया' सन् 1740 में लिखा गया था।

सन् 1789 में फ्रांस का प्राचीन शासन एक खूनी क्रान्ति की लपटों में जल कर भस्म हो गया। इस विप्लव में राजा के दिव्य अधिकार का सिद्धान्त नष्ट हो गया। चौदहवें लुई की बदनाम घोषणा 'राज्य में हूँ, मैं हूँ राज्य' और उसके प्रपौत्र पन्द्रहवें लुई की गर्वोक्ति 'सर्वोच्च सत्ता सिर्फ मेरे व्यक्तित्व में निहित है, मेरी जनता मुझसे एकरूप होकर ही अस्तित्व रखती है' शून्य में उड़ा दी गई। क्रान्ति के बाद फ्रांस एक राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ और नेपोलियन की विजयों ने उसे यशोद्दीप्त कर दिया।

नेपोलियन की विजयों ने यूरोप में राष्ट्रवाद की मशाल जला दी और अठारहवीं शताब्दी के उपरान्त देशों ने, एक के बाद एक, उसकी चमक का अनुभव किया। यूनान और बेल्जियम, जर्मनी और इटली, पोलैण्ड और हंगरी राष्ट्रवाद की प्रेरणा से प्रेरित हुए और उन्होंने स्वतन्त्रता तथा एकता की कामना की। अब एशिया पर उसका जादू का असर होने लगा। जापान ने नेतृत्व किया। तुर्की, ईरान, चीन और भारत, सभी ने एक हलचल और उत्तेजना अनुभव की। आज राष्ट्रवाद एक विश्वव्यापी परिस्थिति है। यह सभी महाद्वीपों के लोगों को आन्दोलित और अनुप्राणित करता है।

सामन्तवादी अराजकता से राष्ट्रवादी संगठन तक पहुँचने में यूरोप को समय लगने लगा। लेकिन ज्यों ही एक बार राष्ट्रवाद स्थिर हो गया, प्रगति की रफ्तार तेज हो गई।

चूँकि मध्य-वर्ग राष्ट्रवाद का अगुआ था इसलिए स्वभावतः ही उन्हें इसका सर्वप्रथम लाभ भी मिला। राजनीतिक शक्ति उनके हाथों में चली गई और राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था में उनके हित प्रधान बन गए। सत्ता के राजा और एक रूढ़ अल्पतन्त्र के पंजे से निकल कर बुर्जुआ-वर्ग के हाथों में पहुँच जाने का फल हुआ मुक्त समाजों का उद्भव। ये समाज सिर्फ इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं कि विदेशी नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप से मुक्त हैं और न सिर्फ इस कारण कि अपनी शक्तियों के प्रयोग में वे स्वतन्त्र हैं बल्कि इसलिए कि वे उस सत्ता का आदेश मानते हैं जो उनकी अपनी इच्छा में, जनता की इच्छा में, निहित है। इन समाजों में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग मताधिकार के माध्यम से जनता-द्वारा चुने गए जन प्रतिनिधियों-द्वारा किया जाता है। इसका आधार था स्वतन्त्रता होने से व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। चिन्तन, अभिव्यक्ति, धर्म और जीविका के क्षेत्र में व्यक्तिगत रुचि पर लगे बन्धन टूट जाने से व्यक्ति की सांस्कृतिक स्वतन्त्रता निश्चित है।

मध्य-वर्ग के शासन में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास के कारण उत्पादन में अत्यधिक उन्नति हुई है और सम्पत्ति का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। अधिकाधिक लोगों ने वैभव और सत्ता में हिस्सा लिया है और इस प्रकार पूरे समाज के साथ राज्य की एकरूपता का क्रम पूर्ण समानता, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की उपलब्धि की ओर और तेजी से आगे बढ़ा है। इस विकास-क्रम के बीच व्यक्ति, समाज और राज्य के महत्व और

उनकी स्थिति में शान्ति आ गई है और मानवीय मूल्यों एवं उद्देश्यों से सम्बन्धित धारणाओं का पूर्ण रूपान्तरण हो गया है।

यूरोप का विस्तार

यूरोप का पूँजीवादी समाज अपनी प्रकृति में निहित तत्व के द्वारा दुनिया भर में फैल जाने के लिए प्रेरित हुआ जिससे वह अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त कर सके और अपने तैयार माल के लिए नए बाजार ढूंढ सके। इसी दौरान में वह भारत पहुंचा। तब पूँजीवादी यूरोप के सबसे प्रगतिशील देश इंग्लैण्ड ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया और उन शक्तियों को गति दे दी, जिन्होंने इसे बदल डाला। इस प्रकार प्रेरित होकर भारत ने राष्ट्रीयता की ओर जानेवाला मार्ग निश्चित किया और राष्ट्रीय भावना की चेतना के जाग उठने से स्फूर्त और जाग्रत भारतीयों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष किया।

यूरोप के सामाजिक विकास का इतिहास जो प्रकाश डालता है, उससे भारत के अतीत को समझने में सहायता मिलती है। यूरोपियनों के आने से पहले ऐतिहासिक परिवर्तनों का गति और रूपरेखा जिस शैली का अनुसरण कर रही थी, वह भारत की स्थितियों के अनुकूल ही था। इस परिवर्तन का क्रम बहुत धीमा था, क्योंकि जीवन स्थितियां रूढ थीं। या तो जनसंख्या स्थिर थी या उसमें आनेवाला उतार चढ़ाव दैव के विशाल निर्जन प्रदेशों द्वारा सम्भाल लिया जाता था। उत्पादन के तरीके स्थिर और लोगों की मामूली जरूरतों के लिए काफी थे। सामाजिक स्तर विभाग रूढ था और सामाजिक गतिशीलता अनुपस्थित। तब सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत के लोग पश्चिम के एक ऐसे वेगवान समाज की भयानक टक्कर में आ गए, जो सभ्यता के सभी रूपों में उससे भिन्न था। फलत पश्चिमी प्रभाव उग्र गति से अपना काम करने लगे। उन्होंने सामाजिक परिवर्तनों के क्रम को तेज कर दिया और उन समान परिणामों को उत्पन्न किया, जिन्हें यूरोप अनुभव कर चुका था।

भारत में औरंगजेब की मृत्यु के बाद पतन बड़ी तेजी से हुआ। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक केन्द्रीय सत्ता पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। और एक अव्यवस्था तथा अराजकता का युग छा गया था। दुर्भाग्यवश, कोई व्यक्ति या समूह मुगल साम्राज्य का स्थान लेने और शान्ति एवं व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ऊपर नहीं आया। इस प्रकार जो राजनीतिक शून्य बना उसने विदेशी शक्तियों को आमन्त्रित किया। अतीत में, समान परिस्थितियों में मध्य-एशिया के हमलावर इस शून्य को भरते रहे थे। अठारहवीं शताब्दी में भारत के उत्तर-पश्चिमी पड़ोसी घातक पारस्परिक संघर्ष में उलझे हुए थे। यद्यपि सन् 1739 में नादिरशाह ने और 1748 और 1773 के बीच अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किए और दिल्ली साम्राज्य के बिखरते हुए ढांचे को घातक आघात पहुंचाए तथापि ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया की आन्तरिक अवस्थाएं महमूद गजनवी, शहाबुद्दीन गोरी और बाबर की उपलब्धियों को दुहराने में असमर्थ रहीं।

इस प्रकार परिस्थितियां समुद्र पार के विदेशियों को इस बात के लिए प्रेरित करने लगीं कि वे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करें। इनमें से कई एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। अन्त में अंग्रेजों ने अपने सभी यूरोपीय विरोधियों को हरा दिया और भारत के भाग्य के विधाता बन शासन के अन्तर्गत आ गए।

सन् 1757 में प्लासी के युद्ध के साथ पर्दा उठता है और अत्यन्त मानवीय रुचि का एक प्रभावशाली नाटक आरम्भ होता है जिसका अन्तिम दृश्य 15 अगस्त 1947 के दिन खेला गया। यह नाटक स्वयं ही महाकाव्य-सदृश था। इसके परिणाम और उतार-चढ़ाव में दो शताब्दियाँ बीत गईं। जैसा कि प्रायः सभी नाटकों में होता है नैतिक और भौतिक शक्तियों का महत् संघर्ष इसकी कथावस्तु का मूल विषय है। इसकी प्रस्तावना प्राचीन युगों तक जाती है किन्तु इस नाटकीय महाकाव्य की घटनाओं का इतिहास अठारहवीं शताब्दी के उन आरम्भिक वर्षों में प्रारम्भ होता है, जब प्राचीन भारत लुप्त होने लगा और नई शक्तियाँ अपना प्रभाव जमाने लगीं।

इस नाटक का परिपाक तीन अंकों में हुआ है। पहले अंक में भारत, जिसकी सामर्थ्य ने उसे धोखा दे दिया है, स्वतन्त्रता की हानि की दिशा में धीरे-धीरे खिसकता है। दूसरे अंक में एक पूरी तरह विदेशी सभ्यता का आगमन एक नई स्फूर्ति पैदा करता है, जो प्राचीन शक्ति के अवशेषों को एक ताजा जीवन-पद्धति के रूप में विकसित करती है। और, अन्तिम अंक में इस प्रकार पुनर्जीवन प्राप्त भारत स्थिरतापूर्वक आत्मोन्नति और स्वतन्त्रता की ओर बढ़ता है।

पहला अध्याय

मुगल-साम्राज्य का पतन और विनाश

औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारी

पचास वर्षों तक उस साम्राज्य की बागडोर औरंगजेब के हाथों में रही जो आकार, जन-संख्या और वैभव की दृष्टि से समकालीन विश्व के राज्यों में अतुलनीय था। अपने अत्यन्त दुर्वह कर्तव्य का पालन करने में उसने अनुराग, मनोयोग, साहस और धैर्य के उन गुणों का परिचय दिया जो उसे मानवों का एक विलक्षण शासक बना देते हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह एक आदर्श व्यक्ति था। वह उन सब बुराइयों से मुक्त था जो रसियों के राजाओं और शासकों में सामान्यतः थीं। वह सरल जीवन नहीं, तपस्वी का-सा जीवन बिताता था। खाने-पीने, वेश-भूषा और जीवन की अन्य सभी सुख-सुविधाओं में वह संयम बरतता था। साम्राज्य के प्रशासन के सारे काम में व्यस्त रहते हुए भी वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए कुरान की नकल करके और टोपियाँ सीकर कुछ पैसा कमाने का समय निकाल लेता था। उसकी अन्तिम वसीयत में अपने दफनाए जाने के खर्चों के सम्बन्ध में उसके आदेश इस प्रकार थे: 'मेरी सिली हुई टोपियों के मूल्य में से चार रुपये दो आने महालदार आया बेग के पास हैं। वह पैसा ले लेना और उसे इस गरीब के कफन डालने में खर्च कर देना। कुरान की नकल करके कमाए गए तीन सौ पाँच रुपये मेरे व्यक्तिगत खर्चों के लिए मेरी थैली में पड़े हैं। मेरी मृत्यु के दिन उन्हें फकीरों में बाँट देना।'[1] उसकी दिनचर्या बड़ी कठोर थी। चौबीस घण्टों में से केवल तीन घण्टे वह सोता था।[2] वह बहुत ही सख्त काम लेनेवाला था, अपने से भी और दूसरों से भी। अपने विशाल प्रशासन के एक-एक विवरण की वह देखभाल करता था और हर सैनिक अभियान का स्वयं निर्देशन करता था। उसमें अपार स्फूर्ति और प्रबल इच्छा शक्ति थी।

फिर भी इतनी मेहनत, सतर्क देखभाल, निष्ठायुक्त पवित्र जीवन तथा प्रशासक, कूटनीतिज्ञ और सेनापति के रूप में उसकी असन्दिग्ध योग्यता के बावजूद उसका शासन असफल रहा। वह स्वयं भी इस बात को जानता था। अपने द्वितीय पुत्र आजम को लिखे अन्तिम पत्र में उसने स्वीकार किया था: 'मैं सल्तनत की सच्ची हुकूमत और रियाया की भलाई एकदम नहीं कर सका हूँ। इतनी बेशकीमती जिन्दगी बेकार गई।'[3]

अपनी मृत्यु से ठीक पहले औरंगजेब ने अपने साम्राज्य को अपने तीन बेटों मुअज्जम, आजम और कामबख्श के बीच बाँट दिया था। लेकिन अभी उसकी आँखें मुँद ही रही थीं कि गद्दी पर अधिकार पाने के लिए उनके बीच झगड़े आरम्भ हो गए। भाइयों के बीच हुए इस समर में मुअज्जम विजयी रहा और वह बहादुर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। किन्तु उसका शासन-काल अत्यल्प रहा— चार ही वर्ष शासन करके वह सन 1712 में मर गया।

---

1 जदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ औरंगजेब', खंड 5, पृष्ठ 264

2 जदुनाथ सरकार, 'स्टडीज इन औरंगजेब्स रेन', पृष्ठ 38

3 जदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ औरंगजेब', खंड 5, पृष्ठ 259

तब उत्तराधिकार के लिए पुनः युद्ध आरम्भ हो गया।

उसके चारों बेटों ने गद्दी पाने के लिए इतने बेहूदा ढंग से जल्दबाजी की कि बेचारे बहादुर शाह की लाश को लगभग एक महीने तक दफनाया भी नहीं जा सका। अन्त में यह युद्ध बादशाह के द्वितीय और योग्यतम बेटे अजीमुश्शान तथा दूसरी ओर विलासी जहांदार शाह के बीच द्वन्द्व में परिणत हो गया। लेकिन युद्ध-संचालन में अजीमुश्शान की असफलता और कोताही तथा ईरानी दल के एक प्रमुख नेता जुल्फिकार खां और शाही सेना के प्रथम दर्जा का सेनापतित्व के कारण गद्दी जहांदार शाह को मिल गई।

जहांदार शाह के गद्दी पर बैठने से साम्राज्य की राजनीति में एक नए किन्तु मनहूस तत्त्व ने प्रवेश किया। अभी तक उत्तराधिकार-युद्ध में राजकुमार स्वयं ही प्रधान प्रतिद्वन्द्वी रहा करते थे। अब वे पीछे चले गए और उनके स्थान पर महत्त्वाकांक्षी सामन्त, बड़े पदाधिकारी तथा सेना के नेता शक्ति के असली प्रतियोगी बन गए। उन्होंने राजकुमारों को नाम-मात्र के नेताओं और दिखावटी प्रमुखों के रूप में इस्तेमाल किया, क्योंकि इन नामों के साथ सम्मान जुड़ा था और शाही मुहर से आदेशों और निर्देशों को कानूनी रूप मिल जाता था। ये शक्तिशाली सामन्त राजाओं को बनानेवाले बन गए। उन्होंने सत्ता और संरक्षण का प्रयोग किया और वैभव संचित कर लिया। आपस के घातक संघर्ष शुरू कर आरम्भ हो गए और उन्होंने साम्राज्य के विशाल आकार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

जहांदार शाह लापरवाह, लम्पट और 'पागलपन की हद तक नशेबाज' था। उसने दुराचार और स्त्रैण दरबारी जीवन का एक दुष्ट नमूना सामने रखा और शासक-वर्ग की नैतिकता को कलुषित कर दिया। उसके प्रभाव ने न केवल प्राचीन शाही गौरव का पुनरुद्धार असम्भव कर दिया, बल्कि मामूली सीमाओं में एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में बचे रहने की उसकी सम्भावनाओं को भी धूल में मिला दिया।

बादशाह एक कठपुतली बन कर रह गया और सारी सत्ता वजीर तथा अन्य मन्त्रियों के हाथों में चली गई। फिर उन्होंने अपने कर्तव्य अपने सहायकों के हाथों में सौंप दिए। इस प्रकार, उत्तरदायित्व बंट गया और पद सत्तासीन मन्त्री की इच्छा और सनक के अनुसार एक से दूसरे व्यक्ति के हाथों में जाने लगे। अस्थायी पदाधिकारियों ने इन अवसरों का उपयोग शीघ्रातिशीघ्र लाभ कमाने के लिए किया। परिणामतः प्रशासन में लापरवाही होने लगी और अराजकता फैल गई। गद्दी के लिए बहुत-से उम्मीदवार प्रकट होने लगे और सम्राटों के जल्दी-जल्दी बदलने से राजभक्ति की भावना लुप्त हो गई।

अपने ग्यारह महीने के शासन में जहांदार शाह ने अपने पूर्वजों-द्वारा संचित खजाने का अधिकांश भाग लुटा दिया। सोना, चांदी और जवाहर के रूप में इकट्ठा की गई अन्य मूल्यवान चीजें उड़ा दी गईं।

तब बंगाल के सैयदों ने फर्रुखसियर को सम्राट के विरुद्ध खड़ा कर दिया। जहांदार सम्राट सेना को छोड़ कर अपनी प्रिय बेगम लाल कुंवर के साथ युद्ध के मैदान से कायरतापूर्वक भाग निकला।

दुर्भाग्यवश, फर्रुखसियर एक घृणास्पद चरित्र का व्यक्ति सिद्ध हुआ। वह अपने वादों का झूठा, अपने हितैषियों के प्रति कृतघ्न, षड्यन्त्रों-द्वारा दरबारी अस्थिर चित्त, कायर और क्रूर था। वह अपने प्रिय व्यक्तिगत अनुचरों में से जुनता और दान

दोरा था के कहने पर चलता था। उसने सैयद-बंधुओं से झगड़ा आरम्भ कर दिया और वास्तविक शक्ति-प्रयोग का प्रयत्न किया। अब, स्वभावतः ही सैयद-बंधु जिन्होंने अपनी असंदिग्ध योग्यता और विशाल साम्राज्य को उसके हवाले कर दिया था, शासन पर विशेषकर नियुक्तियों पर, और विजयों से होनेवाले लाभ के बटवारे पर अपना पूरा नियन्त्रण चाहने लगे।

मतभेद दिन पर दिन कटुतर होता गया। सैयदों के नियंत्रण को तोड़ फेंकने की इच्छा से फर्रुखसियर ने अत्यन्त गर्हित ढंग से द्रोह और षड्यन्त्र का सहारा लिया। हुसन अली को राजपूताने के विद्रोहियों को दबाने के लिए जानेवाली सेना का सेनापति नियुक्त किया गया। साथ ही विद्रोही जोधपुर-नरेश अजित सिंह राठौर को गुप्त पत्र लिखा गया कि यदि उसने हुसैन अली को समाप्त करा दिया तो उसे भारी इनाम दिए जाएंगे। योजना विफल रही। अजित सिंह ने घुटने टेक दिए और इससे भी बड़ी बात यह कि सम्राट के पत्र उसने हुसैन अली को सौंप दिए। अब एक दूसरा षड्यन्त्र रचा गया। दक्कन के सूबेदार निजामुल्मुल्क को वापस बुला लिया गया और उस सूबे को हुसैन अली के सुपुर्द कर दिया गया। जब वह दक्कन जाने के रास्ते में था, तब दक्कन के सहायक सूबेदार दाऊद खां को गुप्त रूप से भड़काया गया कि वह उसे मार दे। यह षड्यन्त्र भी व्यर्थ रहा। दाऊद हार गया और मारा गया।

तीन वर्षों तक ऐसे ही दावपेंच चलते रहे। बादशाह ने एक के बाद एक विश्वस्त सरदारों को अब्दुल्ला को कुचलने का काम उस समय सौंपा जब उसका भाई दक्कन में था। पर किसी में भी यह काम करने का साहस न था। अब उसने अपने ससुर राजा अजित सिंह को सहायता के लिए बुलाया। लेकिन जोधपुर का वह चतुर वृद्ध शासक अपने दामाद के चरित्र को जानता था। वह दिल्ली आया पर उसने सैयद अब्दुल्ला का साथ दिया। तूरानी दल के नेता निजामुल्मुल्क और उसके भतीजे मुहम्मद अमीन खां जैसे मुगल कुलीनतन्त्र के ठोस स्तम्भ भी ढिलमिल और अविश्वसनीय बादशाह के विरोधी बन गए।

जब इन षड्यन्त्रों की कहानी हुसैन अली तक पहुंची तब उसने उत्तर की ओर यात्रा में शीघ्रता की। सन 1719 में वह दिल्ली पहुंचा और इस दुःखपूर्ण स्थिति को सदा के लिए तत्काल समाप्त कर देने का उसने निश्चय किया। उसकी सेना के साथ पेशवा बालाजी विश्वनाथ, सेनापति खांडेराव दभाडे, संताजी भोंसले और अन्य लोगों के नेतृत्व में दस हजार मराठे भी थे। किले के भीतर और महल में षड्यन्त्रियों के सहायकों को समाप्त कर दिया गया। बादशाह जो कायरतापूर्वक स्त्रियों के महल में जा छिपा था खींच कर बाहर लाया गया। उसे ऊंचा करके एक उजाड़ अंधेरा और बिना किसी साज-सामानवाली छोटी-सी कोठरी में बंदी बना लिया गया। फिर उसे बुरी तरह अपमानित किया गया, भूखा रखा गया, पीटा गया, अन्धा कर दिया गया और अन्त में कुछ दिनों बाद बड़े ही अपमानजनक ढंग से उसका वध कर दिया गया।

फर्रुखसियर के पतन के गिने-चुने वर्षों में साम्राज्य ने विघटन की ओर लम्बे लम्बे डग भरे। हर कहीं भयानक अव्यवस्था फैल गई। सरदारों, जमींदारों और नवाबों ने विद्रोह या स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करना आरम्भ कर दिया। दिल्ली की गलियों में बड़े सरदारों के अनुचर आपस में लड़ाइयां करने लगे। सम्राट चारों ओर शत्रुओं से भर

गई। फर्रुख़सियर ने ख़ालसा से शाही ख़ज़ाने में लाए जानेवाले राजस्व को मार्ग में ही गड़बड़ करा देने का उदाहरण प्रस्तुत किया था। यह ऐसा उदाहरण था, जिसका लाभ उठाने से वे महत्वाकांक्षी साहसिक लोग नहीं चूके, जो स्वतन्त्र सामन्त राज्य स्थापित करने के इच्छुक थे। शाही आदेशों का खुले रूप में तोड़ा जाने लगा और पदाधिकारी बिना अनुमति के ही अपने पद छोड़ कर चले जाने लगे। जिन नियमों और आदेशों का औरंगज़ेब के समय सख्ती से पालन किया जाता था उनकी अब उपेक्षा होने लगी। भ्रष्टाचार और अव्यवस्था फैल गई। आय कम हो गई और संचित सम्पत्ति चुक गई। वेतन बकाया पड़ गए और भूखी सेना विद्रोही बन गई।

जो सबसे भयानक बात हुई, वह थी विभिन्न दलों से सम्बन्ध रखनेवाले सरदारों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या-द्वेष। इनमें चार दल महत्वपूर्ण थे तूरानी, ईरानी, अफ़ग़ान और हिन्दुस्तानी। इनमें पहले तीन मध्य-एशिया, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से आए उन विदेशियों के वंशज थे, जिन्हें भारत आने पर नागरिक और सैनिक विभागों में नियुक्त किया गया था। इनमें से बहुत-से परिवार औरंगज़ेब के शासन-काल में ही भारत पहुँचे थे और ऊँचे पदों पर आसीन हो गए थे। ट्रांस-आक्सियाना से आए तूरानी सुन्नी मतावलम्बी थे। ईरानियों ने ईरान के पूर्वी और पश्चिमी प्रान्तों, ख़ुरासान और फ़ारस से स्थानान्तरण किया था। ये शिया थे। अफ़ग़ान सिन्धु-पार के सीमावर्ती पहाड़ी प्रदेशों से आए थे। इनमें बहुत-से रुहेले क़बीले के थे। ये अधिकतर सुन्नी थे। इन्होंने उत्तर भारत के कितने ही स्थानों में, विशेषकर बरेली और फ़र्रुख़ाबाद में अपनी स्थायी बस्तियाँ बसा ली थीं। हिन्दुस्तानी सरदारों में वे मुस्लिम परिवार सम्मिलित थे, जो इस देश में पीढ़ियों से रह रहे थे। स्वभावतः ही वे नए आनेवालों से ईर्ष्या करते थे।

जब तक केन्द्रीय सत्ता मज़बूत रही ये दल नियन्त्रण में रहे। लेकिन बहादुरशाह की मृत्यु के बाद इनका महत्व और प्रभाव बढ़ गया क्योंकि विरोधी दावेदारों ने गद्दी प्राप्त करने के लिए इनसे सहायता माँगना आरम्भ कर दिया। अठारहवीं शताब्दी का इतिहास इनके षड्यन्त्रों और बेहद नीची से वफ़ादारी बदलने की कथाओं से भरा पड़ा है।

हर दल ने सम्राट के व्यक्तित्व पर नियन्त्रण पाकर अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश की। इसके लिए वे कैसे भी तरीके इस्तेमाल करने और क़ीमत की परवाह न करते हुए जहाँ से भी मिले वहीं से सहायता लेने में नहीं चूकते थे। यही कारण है कि जब हुसैन अली ने फ़र्रुख़सियर को सिंहासनच्युत करने का निर्णय किया था तब वह मराठों को ले आया था और सम्राट् को उसने मजबूर किया था कि वह शिवाजी की विजयों के आधार पर माँग गए उनके स्वराज्य की न केवल पुष्टि करे बल्कि दक्कन में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की अनुमति भी उन्हें दे दे। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रान्तीय राजस्व का पैंतीस प्रतिशत, जो अठारह करोड़ रुपये की विशाल राशि बनता था उनके पास चला गया। इस समझौते से 'मराठा राज्य का शासक नाम से सम्राट का एक अधीनस्थ और आज्ञाकारी सेवक तो बन गया', पर राजस्व में उसकी हिस्सेदारी हो गई और साम्राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने का उसे बहाना मिल गया।

पर सैयद-बन्धु लम्बे समय तक अपनी विजय का आनन्द नहीं ले सके। मुहम्मद शाह ने, जिसे उन्होंने गद्दी पर बिठाया था उनकी अधीनता का विरोध किया। तूरानी दल के नेता दक्कन का सूबेदार निज़ामुल्मुल्क, मुग़ल सेना का सेनापति मीर मुहम्मद अमीन उसका भतीजा तथा लाहौर का सूबेदार अब्दुस्समद खाँ आदि और

उराना ग्न र गम्नार भी मयन्त के शासन में तंग आ गए थे। इन सबने उन्हें समाप्त कर देने का निश्चय किया। उचित सुयोग मिलने पर सयन्त न उन्हें उनके पदों से हटा देने के लिए कदम उठाए। लेकिन जो सेना उन्होंने निजामुल्मुल्क के विरुद्ध भेजी वह हार गई और उसका सेनापति मारा गया। इस पर हुसन अली मुहम्मद शाह के साथ लेकर निजामुल्मुल्क को कुचलने के लिए स्वयं चला। मुहम्मद अमीन खां ने जो सहायक के रूप में उसके साथ गया था सयन्द को मारने का जाल रचा। जब सेना फतहपुर सीकरी से आगे बढ़ी तब षडयन्त्र का काम किया गया और हुसैन अली को मार डाला गया (सन 1720)। इससे अब्दुल्ला बहुत रुष्ट हो गया और भाई की मृत्यु का बदला लेने के उद्देश्य से उसने मुहम्मद शाह को हटा देने का निर्णय किया तथा उसे युद्ध के लिए ललकारा। लेकिन वह हार गया और बन्दी बना लिया गया। दो साल बाद उस बंदी को जहर दे दिया गया। इस प्रकार फर्रुखसियर के सिंहासनच्युत होने के इक्कीस महीने के भीतर ही राजा बनानेवालों की किस्मत का फैसला हो गया।

युवक मुहम्मदशाह को प्रशासन में कोई रुचि नहीं थी। वह निम्न कोटि के लोगों से घिरा रहता था और तुच्छ कामों में अपना समय बिताता था। उसने सब-कुछ मीर मुहम्मद अमीन खां के बेटे और अपने वजीर कमरुद्दीन खां के हाथों में छोड़ दिया। लेकिन वजीर काहिल सुस्त और विलासप्रिय व्यक्ति साबित हुआ। दिल्ली में कोई शासन न रहा। प्रान्तीय सूबेदार को विपत्ति पड़ने पर सहायता न मिल पाती। जब नादिर शाह अफगानिस्तान पर चढ़ आया और काबुल के सूबेदार ने सैनिक सहायता तथा बकाया वेतन अदा करने के लिए धन मांगा, तब उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

इधर प्रमुख सरदार कमरुद्दीन की बढ़ी हुई ताकत से ईर्ष्या करने लगे थे और साम्राज्य के विरुद्ध उनके सतुओं के साथ राजद्रोहपूर्ण षडयन्त्र रच रहे थे। वे इतने मस्त हो गए थे कि ऐसे सभी सैनिक कार्यों से बचते थे जिनमें संकट की सम्भावना थी। उनमें से कोई भी मराठों से लड़ने को तैयार नहीं था और जब उन्हें जिद्दी जोधपुर नरेश के विरुद्ध अभियान का आदेश दिया गया तब उन्होंने बहाने बना दिए। सम्राट और सरदारों के उदाहरण से सब ओर अनैतिकता फैल रही थी।

इसके परिणाम घातक हुए। साम्राज्य बिखरने लगा। कितने ही प्रांत लगभग स्वतन्त्र हो गए। बिहार, बंगाल और उड़ीसा में मुर्शिदकुली खां और अवध में सआदत खां दिल्ली के नाम-मात्र के राजभक्त रह गए। काबुल और लाहौर के सूबेदारों को उनके अपने साधनों पर छोड़ दिया गया। मराठों ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। दोआब में रुहेले अपनी खुदमुख्तार रियासतें स्थापित करने में जुट गए।

राजपूताने में तीन प्रमुख राजवंश थे। इनमें मेवाड़ के सीसोदिया मुगल राजनीति में कम रुचि लेते थे—क्योंकि सम्राट का संरक्षण उन्हें मान्य था। यशवन्त सिंह की मृत्यु के समय से जोधपुर के राठौर औरंगजेब के विरोधी रहे थे पर उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने संधि कर ली थी। यद्यपि उन्होंने उच्च पद भी ग्रहण किए तथापि उनकी राजभक्ति अस्थिर रही। जयपुर के कछवाहे भी जो अधिक स्थायी रूप में राजभक्त रहे थे सामान्य नैतिक पतन के शिकार हो गए। राजा जय सिंह को जिसने चूड़ामन के नेतृत्व में हुए जाट-विद्रोह को दबाया था मराठों के वार्षिक हमलों का सामना करने के लिए मालवा

का सूबेदार नियुक्त किया गया। लेकिन शाही हितों का ध्यान रखने के स्थान पर उसने मराठों से साठ-गाठ करना शुरू किया। परिणामस्वरूप वह सूबा हाथ से निकल गया।

यहा तक कि दिल्ली के आसपास के इलाकों का भी खतरा पैदा हो गया। सिख, जाट, रुहेले और मराठे चारों ओर मडरा रहे थे। सन 1737 में बाजी राव राजधानी में घुस आया और उसने साम्राज्य की निरीहावस्था का पर्दाफाश कर दिया। शाही राजधानी के अन्दर और बाहर अव्यवस्था फैल गई।

2 नादिर शाह का आक्रमण

लेकिन तभी एक बहुत बडा दुर्भाग्य साम्राज्य पर टूटा। दिल्ली पर बाजी राव के आक्रमण के एक वर्ष बाद ही ईरान का राजा नादिर शाह उत्तरी अफगानिस्तान में घुस आया। तैयारी न होने और लापरवाही के कारण काबुल में घुसना उसके लिए आसान हो गया। उसने खैबर दर्रा पार किया और तेजी से लाहौर की ओर बढा। मार्ग में उसे बहुत थोडे विरोध का सामना करना पडा। जब संकट दिल्ली पर आ गया तब मुगलों में हलचल पैदा हुई और मुहम्मद शाह अपनी सेना लेकर करनाल में आ जमा। लेकिन सेनापतियों की अयोग्यता और आपसी सहयोग की कमी के कारण उन्हें करारी हार खानी पडी। हार से अनतिकर्तव्य। सन्देह, भय और चिन्ताओं से प्रेरित होकर सेनापति आत्मरक्षा के प्रयास में एक-दूसरे के विरुद्ध जाल रचने लगे। राजदरबार बट गया। अवध का सूबेदार सआदत खा जिसे युद्ध में बन्दी बना लिया गया था एक ईरानी था। वह तूरानियों से विशेषकर निजामुलमुल्क से जिसे सम्राट का प्रधान परामर्शदाता नियुक्त किया गया था बहुत जलता था। बदले की भावना से अंधा होकर उसने नादिर शाह की धन लिप्सा का लाभ उठाया और उसे दिल्ली जाने के लिए उकसाया। उसने कहा कि वहा उसे कल्पनातीत परिमाण में धन मिलेगा।

नादिर की तृष्णा उद्दीप्त हो गई। उसने सम्राट को बन्दी बना लिया और दिल्ली की ओर कूच किया। उसने जामा मस्जिद के मच से स्वय को भारत का सम्राट घोषित करवाया। उसके नाम के सिक्के ढाले गए। दिल्ली इस आपत्ति से आतकित हो उठा। जब नादिर और उसके अफसरों ने प्रमुख और धनी नागरिकों को नियमित रूप से लूटना और लोगों को अपमानित करके, उनको सता कर, उनसे पैसे चूसना आरम्भ किया तब चारों ओर रोष फैल गया। एक छोटी-सी घटना ने तूफान मचा दिया और नादिर ने कत्लेआम के आदेश जारी कर दिए। गलियों में खून की नदिया बहने लगी। बाजार-के-बाजार आग की भेंट हो गए। नादिर ने लूट में भारी सम्पत्ति इकट्ठी की। सोने और चादी की सिल्लियाँ, हीरे, मयूरासन और बादशाहों द्वारा पीढ़ियों से सचित कीमती खजाने उसके अधिकार में चले गए। वह अनगिनत हाथी, घोडे, ऊट और लगभग पन्द्रह करोड रुपये नगद लूट ले गया।

विजेता की भारत में ठहरने की कोई योजना नहीं थी। उसने मुहम्मद शाह को उसका ताज सौंपा और अपनी विशाल सम्पत्ति के साथ वापस चल पडा। नादिर शाह के आक्रमण ने साम्राज्य को वह धक्का पहुचाया जिससे वह कभी नहीं उबर सका। काबुल का प्रान्त हाथ से निकल गया। भारत की सीमा सिंध नद पीछे हट आई। खैबर का दर्रा और पेशावर शत्रुओं के हाथों में चले गए।

पंजाब अराजकता और आक्रमणों का शिकार बन गया। जब नादिर ने पंजाब को

जाता था लाहौर का सूबेदार जकरिया खां था। वह सन् 1745 में मर गया। तब उसके बेटों में सूबेदारी के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। उनमें से एक ने काबुल की गद्दी पर नादिर शाह के उत्तराधिकारी अहमद शाह अब्दाली को निमन्त्रित किया। तब से 1773 में अपनी मृत्यु तक अब्दाली पंजाब को रौंदता और लूटता रहा।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का भारत हॉब्सियन परिस्थितियों का एक जीता-जागता नमूना था। वह उस जगत के समान था जिसमें हिंसक पशुओं की प्रवृत्तिवाले मनुष्य चारों ओर घूमते थे। आत्यन्तिक स्वार्थ और शक्ति की असाधारण रूप में संकीर्ण वासना उनकी प्रेरणा थी। कोई नैतिक विचार और कोई दूरदृष्टिपरक लक्ष्य उन्हें बाँध नहीं पाता था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जालसाजी और धोखाधड़ी, अपने तात्कालिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए बल प्रयोग और छल-कपट का आश्रय लेने में वे मैकियावेली को भी लज्जित करते थे। प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियों और दलों के मूर्खतापूर्ण घातक संघर्षों में भारत खोखला और बर्बाद हो गया। वह एक भी ऐसा नेता तैयार न कर सका जो पर्याप्त प्रभुत्व-सम्पन्न हो और अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था स्थापित करता।

इस राजनीतिक और नैतिक पतन के बावजूद अठारहवीं शताब्दी में ऐसे बलवान शरीर और बड़प्रतिभा लोगों का अभाव नहीं था, जो शक्ति और साधनों से भरपूर थे। कितने ही ऐसे ओजस्वी जोशीले और दुस्साहसी लोग थे, जो अपनी जिन्दगी को दाव पर लगा देना खिलवाड़ समझते थे उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। बस अभाव एक उपयुक्त लक्ष्य का था जो उनकी कार्रवाइयों को उपयोगी दिशाओं में मोड़ सकता और उनके जीवन को सार्थक कर सकता। वे तूफानी समुद्र पर इधर उधर भटकनेवाली बिना चप्पू की नाव के समान थे।

उनकी अनियन्त्रित महत्त्वाकांक्षाओं से साम्राज्य में अराजकता फैल गई। रुहेलखण्ड में रुहेलों ने शाही अधिकारियों को निकाल बाहर किया, उनकी जागीरें छीन लीं और स्वतन्त्र रियासतें कायम कर लीं। रुहेलखण्ड से आगे अवध बिहार बंगाल और उड़ीसा पहले ही लगभग पूरी तरह स्वतन्त्र हो चुके थे। यमुना के दक्षिण में पश्चिम की ओर राजपूताना तक और दक्षिण की ओर चम्बल नदी तक जाटों का राज्य था। उससे परे गंगा-यमुना दोआब और भारत के पूर्वी प्रान्तों में मराठे अपना मनचाहा कर रहे थे। गुजरात और मालवा उनके अधिकार में थे। राजपूत रियासतें उनकी दया पर आश्रित थीं और स्थान उन्हें कर देता था।

मुगल-सम्राट का वास्तविक शासन दिल्ली और आगरा के आसपास तक सीमित हो गया था। वह भारत के अधिकांश भाग पर वह अब भी अपनी विधिसम्मत सत्ता का दावा करता था और खिताब देना तथा नियुक्तियों को पुष्ट करता था।

प्रशासन की ढील-ढाल ने साम्राज्य की आन्तरिक शक्ति को खोखला कर डाला। जागीरदारी में जिस लापरवाही से काम लिया गया उससे सम्राट की निजी आय के लिए सुरक्षित खालसा भूमि का क्षेत्र बहुत घट गया। खजाना खाली हो गया और राजस्व घट जाने से नियमित सेनाएं रखना और उन्हें सुसज्जित कर सकना असम्भव हो गया। गृह-युद्धों में उच्च और निम्न वर्ग के सामन्त बड़ी संख्या में मारे गए थे। इसलिए नागरिक और सैनिक पदों के लिए योग्य व्यक्ति मिलने कठिन हो गए। एक समर्थ सेना के बिना सम्राट पूरी तरह निस्सहाय हो गया। इस प्रकार, सन् 1739 में करनाल में मुहम्मद शाह की पराजय के बाद से दिल्ली एक संगठित साम्राज्य का केन्द्र न रहा।

3 अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण

जब दिल्ली की मस्जिदों में जुम्मे की नमाज के बाद नादिर शाह को भारत का सम्राट् घोषित किया गया था तब लगा था कि इतिहास को दुहराया गया है। दो बार पहले अर्थात् बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में और फिर सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में समान परिस्थितियों में एक विदेशी शक्ति ने भारत का पतन आधिपत्य में ले लिया था। भारत के ये विजेता स्थल शक्तियां थे और स्थल-मार्गों से भारत आए थे।

लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में समुद्र-मार्ग से एक भिन्न प्रकार की शक्ति समुद्री मार्गों को पार करती हुई आई और उसने भारत के तटीय प्रदेशों पर अपने पैर जमा कर अपने अस्तित्व का पता दिया। उस समय इस बात का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था कि मुगल-साम्राज्य के विनाश से उत्पन्न शून्य को कौन भरेगा—कोई स्वदेशी तत्व अथवा उत्तर-पश्चिम से आई कोई स्थल शक्ति अथवा अज्ञात प्रदेशों से आनेवाली कोई ताकत एक बिल्कुल नए रूप से ही उठ सकेगी। लेकिन शीघ्र ही भवितव्य ने एक निश्चित रूप लेना आरम्भ कर दिया और अठारहवीं सदी के अन्त तक भविष्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रहा।

सन् 1739 में करनाल में नादिर शाह की विजय और सन् 1803 में दिल्ली पर लेक के अधिकार के बीच की अवधि में भारत को इतिहास के सबसे अधिक अपमानजनक और दुखद काल से होकर गुजरना पड़ा। दिल्ली का ऐतिहासिक गौरव और उसकी शाही ताकत बर्बाद हो चुकी थी। लेकिन उसका जादूभरा नाम अब भी लोगों के मन को और महामारी की तरह देश को उजाड़ने वाले चतुर्मुखी संघर्षों को प्रभावित करने में समर्थ था। दिल्ली वह केंद्र बना रहा जहां सभी महत्वाकांक्षाएं आकर मिलती थीं। हां शाही ताज का पहननेवाला बादशाह एक खिलौना-मात्र रहा। उसने इन सब हलचलों में बहुत ही हीन और नितान्त गौरवशून्य भाग लिया।

दिल्ली के सिंहासन पर बैठनेवाली इन कठपुतलियों की कहानी अब संक्षेप में कह दी जाए। नादिर शाह आया और चला गया पर साम्राज्य के सरदारों ने उससे कोई पाठ नहीं सीखा। तूरानियों और ईरानियों की प्रतिद्वन्द्विता में कोई कमी नहीं आई। वे लड़ते झगड़ते रहे। सन् 1739 में मुहम्मद शाह था और उसका सलाहकार निजामुल्मुल्क कमरुद्दीन वजीर (प्रधान मन्त्री) और मीर बख्शी (वित्त मन्त्री) थे। अवध के सूबेदार सफदर जंग के नेतृत्व में ईरानी उनका विरोध करते थे और हिन्दुस्तानी दल उनका साथ देता था। बादशाह के दुश्मनियों के बीच भी एकता नहीं थी। मुहम्मद शाह के विश्वासपात्र तूरानियों से अपना पीछा छुड़ाना चाहते थे। सन् 1740 में दरबार की हालत से और वजीर के व्यवहार से ऊबकर निजामुल्मुल्क दिल्ली छोड़ कर दक्खन चला गया था। कमरुद्दीन वजीर बना रहा। लेकिन शक्ति सफदरजंग और उसके अनुयायियों के हाथ में चली गई।

सन् 1748 में अहमद शाह अब्दाली का पहला हमला हुआ। नादिर शाह की हत्या के बाद वह हिरात कंधार और काबुल के प्रान्तों का स्वामी बन गया था। लाहौर और मुल्तान के सूबेदार जकरिया खां के दोनों बेटों के परस्पर-युद्ध और उनके छोटे भाई शाहनवाज खां के राजद्रोहपूर्ण साम्राज्य-विरोधी निमन्त्रण ने अहमद शाह के सामने भारत-अभियान का बहाना प्रस्तुत कर दिया। लाहौर पर अधिकार करके वह सरहिन्द की तरफ बढ़ा और

उसने नगर के निकटवर्ती एक गाँव में एकत्र शाहजादा अहमद की शाही सेनाओं को घेर लिया। युद्ध हुआ। यद्यपि वजीर कमरुद्दीन मारा गया तथापि मुगल-सेना ने अब्दाली की टुकड़ियों के पैर उखाड़ दिए और उसे वापस अपने देश लौटने को विवश होना पड़ा।

इस अप्रत्याशित विजय का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि 26 अप्रैल, 1748 को मुहम्मद शाह की मृत्यु के बाद अहमद शाह शान्ति-पूर्वक गद्दी पर बैठ गया। नया सम्राट एक अच्छी प्रकृति का युवक था जिसने युद्ध अथवा प्रशासन की कोई शिक्षा नहीं ली था। शैशव से इक्कीस वर्ष की अवस्था तक उसका पालन-पोषण हरम की औरतों के बीच लापरवाही और गरीबी में हुआ था। जबकि अपने पिता की डाँट उसकी खास पूँजी थी।' स्वभावतः ही राज्य के काम विश्वासपात्रों, 'राजा के मित्रों' 'हिजड़ों और स्त्रियों के एक गुट' के हाथों में पड़ गए। इस गुट की प्रधान थी राजमाता ऊधम बाई जो मुहम्मद शाह से विवाह करने से पूर्व एक मामूली नर्तकी थी। उसने हर नियुक्ति के बदले उपहार के रूप में भारी रकम वसूल करके बेकार आदमियों को ऊँचे पद दे दिए। प्रशासन की चिन्ता किसी को नहीं थी। सूबेदार और सरदार शाही राजस्व का दुरुपयोग करते थे। उनका उदाहरण शक्तिशाली जमींदार अपनाते थे और अपने कमजोर पड़ोसियों की जमीन हथिया लेते थे।

सफदरजंग के नेता और अवध के सूबेदार सफदरजंग के वजीर बन जाने पर इस दल का प्रभाव बढ़ गया। लेकिन इसे भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तूरानी सरदार उसके विरुद्ध थे। राजा के विश्वासपात्र उसकी नीतियों को काटते थे और कमजोर अहमद शाह को उसके विरुद्ध कर रहे थे। वजीर भी दिल्ली के कामों में एकान्तिक रूप से रुचि नहीं ले पाता था, क्योंकि उसे अपने प्रान्त पर भी काफी ध्यान देना पड़ता था। रुहेले उसके घोर शत्रु थे और प्रान्त के आन्तरिक शासन में ढील-ढाल चल रही थी।

ऐसी परिस्थितियों में अहमद शाह अब्दाली और उसके अफगान मित्रों ने उत्तर से और मराठों ने दक्षिण की ओर से संकट उपस्थित कर दिया। आगे जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घटीं और जिनका परिणाम अन्ततः भारतीय स्वतन्त्रता का विनाश हुआ उनमें इन्हीं दोनों दलों के नेताओं ने मुख्य हिस्सा लिया। मुगल-सम्राट् और उसके सरदार शतरंज के मोहरे भर रहे और दूसरे प्रमुख नेताओं ने भी बहुत तुच्छ और हीन भूमिका अदा की।

सन् 1748 की पराजय के बाद अब्दाली ने सन 1749 की हेमन्त ऋतु में पंजाब पर आक्रमण किया। इसका सूबेदार मुइनुलमुल्क मृत वजीर कमरुद्दीन का बेटा था। लेकिन जिस दल के हाथ में दिल्ली की शक्ति थी उसका वह विश्वासपात्र नहीं था। फलतः उसे कोई सहायता नहीं दी गई। उसे अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा और अब्दाली के सेनापति को हर्जाने के रूप में भारी धन देना पड़ा। फिर सरहिन्द ने अब्दाली को मुख्य भेंट कर दी। सन 1751 में उसने भारत पर तीसरी बार हमला किया। केन्द्रीय सरकार से किसी प्रकार की सहायता न पाकर भी मुईन ने यथासम्भव उसका विरोध किया पर उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। पंजाब और मुलतान के सूबे अफगान शासकों के हाथों में चले गए और दिल्ली का सीधा खतरा हो गया।

जब अफगान पंजाब को रौंद रहे थे तब वजीर सफदरजंग अपनी 'दिल्ली भाग के रुहेला' रुहेला को कुचलने में व्यस्त था। लेकिन रुहेला-सरदार अहमद खाँ बंगश चौकन्ना भी था और फुर्तीला भी। उसने विलासप्रिय ईरानी सरदार को पराजित और अपमानित किया। फलतः सफदरजंग को रुहेलों के मार्ग में अपनी रक्षा के लिए मराठों से एक

अस्थायी सन्धि करनी पड़ी और जाटों की सहायता के लिए सौदा करना पड़ा। मल्हार राव होल्कर और जयापा सिंधिया को उनकी सेनाओं के लिए प्रतिदिन 25 000 रुपये और सूरजमल जाट को 15 000 रुपये देने के लिए उसे वचनबद्ध होना पड़ा। उन्होंने दोआब को साफ कर लिया और रुहेलों को हिमालय की तलहटी तक पीछे खदेड़ दिया। फिर, उन्होंने उनके साथ एक शान्ति-सन्धि कर ली, जिसके अनुसार इस अभियान का खर्चा सफदरजंग के दल्ल उनके मत्थे मढ़ा गया।

मराठा-सरदार पहले ही मालवा व गुजरात को रौंद चुके थे और बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा पर हमला कर उन्हें लूट चुके थे। वे राजपूताने में प्रवेश कर चुके थे और अब (1752) उन्होंने दोआब में भी अपनी चौथिया स्थापित कर ली थी, अर्थात साम्राज्य के अन्तरंग में उन्होंने अपने पैर जमा लिए थे। मार्च 1752 की अस्थायी सन्धि के अनुसार उन्होंने साम्राज्य के संरक्षक की भूमिका ग्रहण कर ली थी और दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर पा लिया था। इस प्रकार, सर्वोच्चता के लिए अफगान और मराठे ये दो प्रतिद्वन्द्वी आमने-सामने आ जमे।

शीघ्र ही उन्हें सीधे टकराना पड़ा। लेकिन ऐसा होने से पहले दिल्ली और शाही दरबार को अनेक विपत्तियों और अपमानों का सामना करना पड़ा। सफदरजंग के लालच और घमण्ड ने सरदारों को अपना शत्रु बना लिया था और सम्राट को रुष्ट कर दिया था। राजमाता ने उसे हटाने के लिए एक षड्यन्त्र रचना आरम्भ किया। उसके कारिन्दों को किले से निकाल दिया गया। उसके त्यागपत्र को, जो उसने यह सोच कर दिया था कि बादशाह डर कर दब जाएगा, स्वीकार कर लिया गया। अब आपे से बाहर होकर वज़ीर ने अपने स्वामी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। उसके साथी जाटों ने दिल्ली को लूट लिया।

इसी बीच तूरानी सरदारों ने ईरानी आधिपत्य के विरुद्ध अपना पूरा ज़ोर लगा दिया। कमरुद्दीन का एक बेटा इन्तिज़ामुद्दौला वज़ीर बन गया और निज़ामुल्मुल्क आसफ़ शाह प्रथम का पोता इमादुल्मुल्क मीर बख्शी। उन्होंने नजीब खां (नजीबुद्दौला) के नेतृत्व में रुहेलों को और अन्ताजी मनकेश्वर की अधीनता में मराठों को सहायता के लिए बुला लिया। किले पर अधिकार करने का सफदरजंग का प्रयास विफल रहा लेकिन धन की कमी, सेना का वेतन चुकाने में असमर्थता और वज़ीर तथा मीर बख्शी में मतभेदों के कारण सम्राट को सन्धि करनी पड़ी। सफदरजंग अपने प्रान्त अवध को वापस लौट गया (1753)।

गृह-युद्ध ने सरकार को भारी आर्थिक कठिनाइयों में डाल दिया था। सेना बकाया वेतन के लिए बेचैन हो उठी। दिल्ली की गलियों में प्रतिदिन झगड़ों और उपद्रवों के दृश्य देखने में आने लगे। उपद्रवी सेनाओं एवं मराठों तथा रुहेला लुटेरों से जीवन और सम्पत्ति की रक्षा का कोई उपाय नहीं था। सफदरजंग के चले जाने के बाद वज़ीर और मीर बख्शी में मतभेद बढ़ गए। चूंकि सम्राट वज़ीर की ओर झुका था, इसलिए मीर बख्शी ने मराठों की मदद लेकर सम्राट को हटाने का निश्चय किया। विद्रोही मीर बख्शी और उसके साथियों ने इसे विवश किया कि वह इतिमाद को हटा कर इमाद को वज़ीर बना दे। वज़ीर बन कर इमाद ने पहला काम यह किया कि बेचारे निस्सहाय अहमद शाह को सिंहासनच्युत कर दिया। उसने बावन-वर्षीय राजकुमार अज़ीज़ुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठाया। इसके पांच वर्ष बाद (सन 1759) कैद से छूटने का प्रयत्न करने पर उसने उसकी हत्या करा दी।

इस अयोग्य पर महत्वाकांक्षी और अविवेकी वजीर के शासन के ये पांच वर्ष अत्यधिक अव्यवस्था, दिवालियापन और यातना के वर्ष थे। बादशाह, मंत्री और जनता सभी को लज्जा और अपमान भुगतना पड़ा।

इमाद और सफदरजंग, दोनों ने ही मराठों को सहायता के लिए बुलाया था। पेशवा ने रघुनाथ राव को उत्तर की ओर भेजा पर जब तक वह वहां पहुंच सका, दोनों अपना झगड़ा समाप्त कर चुके थे। लूट का माल न पाकर मराठे जाटों और राजपूतों के विरुद्ध हो गए, क्योंकि सन् 1752 की सहायता-संधि के अधीन दिए गए आगरा और अजमेर के प्रान्तों पर अधिकार करने से उन्होंने उन्हें रोक दिया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रघुनाथ राव और मल्हार राव होल्कर ने दोआब को रौंदा तथा लूटा और जयाप्पा सिंधिया तथा उसके भाई दत्ताजी ने राजपूताने पर छापा मारा। तब लूट का माल लेकर ये सरदार पूना लौट गए और दो वर्षों का लम्बा अभियान (1753-56) बिना किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि के समाप्त हो गया। रघुनाथ राव के आचरण से उत्तर के सभी लोगों में भय, क्रोध और घृणा के भाव भर गए जिसका घातक परिणाम निकला।

सन् 1752 में पंजाब अफगानों की अधीनता में चला गया था। लेकिन अहमद शाह ने उसका शासन मुईनुल्मुल्क के हाथों में ही सौंप दिया था। सन् 1753 में उसकी मृत्यु के बाद हालत बड़ी तेजी से खराब होती गई और अराजकता फैल गई। इस विषम स्थिति में मुइन की विधवा मुगलानी बेगम ने व्यवस्था स्थापित करने के लिए अहमद शाह और इमादुल्मुल्क से प्रार्थना की। अहमद शाह के कोई कार्रवाई करने से पहले ही इमाद लाहौर पहुंच गया और उसने अपना सूबेदार तथा सहायक सूबेदार नियुक्त कर दिया। यह एक अतिक्रमण था, जिसे अफगान बादशाह सहन नहीं कर सकता था। उसने आगे-आगे तो अपने एक सेनापति को भेजा जिसने लाहौर पर अधिकार कर लिया और पीछे-पीछे एक बड़ी सेना लेकर स्वयं भी सन् 1757 में आ धमका।

अब तो उत्तर के लोगों पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। पंजाब हिंसा और अव्यवस्था का गढ़ बन गया, जिसमें सिक्ख, मुगल और मराठा एक-दूसरे के प्रतियोगी थे। आक्रमणकारी लाहौर और सरहिन्द पर अधिकार करके दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली उसके मुकाबले के लिए एकदम तैयार नहीं थी। रुहेलों का नेता नजीबुद्दौला अपने स्वामी का साथ छोड़ कर अफगानों से मिल गया। इमाद ने जाटों, मराठों और राजपूतों की सहायता के लिए इकट्ठा करने का अन्तिम प्रयत्न किया पर विफल रहा। बिना किसी मुकाबले के ही कायर वजीर ने राजधानी आक्रमणकारी को सौंप दी। लूटपाट और क्रूरता का राज्य चारों ओर फैल गया और दिल्ली श्मशान हो गई। अमीर-गरीब, सरदार-साधारणजन, स्त्री-पुरुष, सभी को बिना किसी भेदभाव के यातना और अपमान सहना पड़ा।

किन्तु दिल्ली की यातनाएं उनकी तुलना में एकदम नगण्य हैं जिन्हें मथुरा, गोकुल और वृन्दावन के पवित्र तीर्थों को सहना पड़ा। अफगान सेना दिल्ली को रौंदने के बाद जलते हुए गांवों की कतारें छोड़ती हुई लाशों और बर्बादी को पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ी। मार्ग में जाटों को कुचलते हुए वे लोग मथुरा वृन्दावन

और गोकुल की ओर बढ़े। इन पवित्र नगरों में जिस नरसंहार और विनाश का खेल खेला गया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जनसंहार के कारण 'सात दिनों तक यमुना का पानी खून-जैसा लाल बन कर बहता रहा'—ऐसा मथुरा नगर के उस मुसलमान जौहरी का कहना था जिसका सब-कुछ लूट लिया गया था और जो कुछ दिनों से भूखा मर रहा था। मन्दिरों को अपवित्र किया गया, स्त्रियों का अपमान किया गया और बच्चों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया गया। कोई भी ऐसी नृशंसता नहीं थी जो बाकी रही हो।

लेकिन इस दुखद घटना का सबसे लज्जाजनक पक्ष था इन स्थानों के तथाकथित संरक्षकों और अभिभावकों का उपेक्षा भाव। जिन मराठों ने हिन्दवी स्वराज्य का झण्डा ऊंचा किया था और डींग हांकी थी कि वह कन्याकुमारी से अटक तक लहराएगा, जिन्होंने साम्राज्य को विदेशी आक्रमण से बचाने का प्रण लिया था और अभी-अभी आगरा प्रान्त की सूबेदारी ग्रहण की थी, जो धर्म के नाम पर पवित्र हिन्दू तीर्थों पर अपने अधिकार का दावा करते थे और इसलिए जिनका नैतिक कर्तव्य था कि वे ब्रज-मण्डल की रक्षा करते, उन्होंने विपत्ति के समय बड़ी निर्लज्जतापूर्वक हिन्दुत्व का छोड़ दिया। जाटों ने थोड़ा विरोध किया, क्योंकि अफ़गान उनके अपने प्रदेश को रौंद रहे थे। लेकिन आरम्भिक मुकाबले में ही हार कर वे अपने घावों की मरहम-पट्टी करने के लिए अलग हट गए और लोगों को उन्होंने अपने क्रूर भाग्य पर छोड़ दिया। राजपूत अपने तुच्छ आपसी झगड़ों में डूबे थे और उन्हें एकदम पता नहीं था कि शेष भारत में क्या हो रहा है। दिल्ली का सम्राट, भारत का कानूनी शासक और जनता का संरक्षक धूल में लोट रहा था और एक विदेशी विजेता के हाथों में बन्दी था।

इस प्रकार दिल्ली, मथुरा, आगरा और उत्तर भारत के हजारों नगरों और गांवों से पीड़ा की जो कराह उठी, वह शेष भारत में सुना नहीं जा सका। लेकिन जो काम आदमी नहीं कर सका वह प्रकृति ने किया। अफ़गान सेना की भयंकर कार्रवाइयों को हैजे की बीमारी ने रोका। सिपाही घर जाने के लिए व्याकुल हो उठे। अब्दाली को वापसी के लिए मजबूर होना पड़ा। पर अनुमानतः तीन से बारह करोड़ रुपये के बीच की लूट का माल और तैमूर के वंश का अकथनीय अपमान करने के बाद ही वह लौटा। सम्राट को विवश किया गया कि वह मुहम्मद शाह की सोलह वर्षीय लड़की का विवाह "इस खूंखार और डरावनी सूरत वाले अफ़गान से कर दे, जिसके दोनों कान कटे हुए थे और जिसकी नाक एक कोढ़-जैसे नासूर से सड़ रही थी।"[1] यह एक बड़ा ही कड़वा मूल्य था, लेकिन राजनीति दया नहीं जानती और शासकों की मूर्खता, असमर्थता और उनके अपराधों का दण्ड मासूम प्रजा को भुगतना ही पड़ता है।

अहमद शाह नजीबुद्दौला को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करके कन्धार लौट गया। उसे मीर बख्शी का पद दिया गया और शासन के सभी अधिकार उसे

1 यदुनाथ सरकार, 'फाल ऑफ़ द मुगल एम्पायर', खण्ड 2, पृष्ठ 128 (सरकार ने 'बदसूरत' शब्द इस्तेमाल किया है। लेकिन यह कुछ गलत है, क्योंकि सन 1757 में अब्दाली लगभग 35 वर्ष का था।)

सौंप दिए गए। बूढ़े वज़ीर इमाद को सत्ता से रहित कर दिया गया लेकिन वकीले-मुतलक का उत्तरदायित्वहीन किन्तु सम्मानित पद उसे मिला।

अहमद शाह की वापसी के कुछ दिन बाद पुराना खेल फिर शुरू हो गया। इमाद ने नजीब को हटाने के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। अब्दाली की आँधी के गुज़र जाने के बाद मराठे भी उत्तर में प्रकट हो गए। उन्होंने बड़ी तेज़ी से अपनी जागीरों, ज़िलों और चौकियों को ले लिया और उन्हें हड़पनेवालों को निकाल बाहर किया। उन्होंने दोआब पर फिर से अपना नियन्त्रण स्थापित किया और अपने कर उगाहना आरम्भ कर दिया।

सम्राट और इमाद ने नजीब को निकालने के लिए मराठों से साठ-गाँठ की। नजीब ने उनसे लड़ना चाहा लेकिन प्रतिद्वन्द्वियों से हार कर इमाद के घर की स्त्रियों पर अपना गुस्सा उतारा। तब विरोध को बेकार देख कर उसने बिना शर्त घुटने टेक दिए। मराठों के लिए दिल्ली और साम्राज्य का स्वामी बनने का मार्ग खुल गया।

दिल्ली से मराठा सेनाएं रघुनाथ राव और मल्हार राव होल्कर के सेनापतित्व में पंजाब में घुस आईं और अप्रैल सन 1758 में उन्होंने लाहौर पर अधिकार कर लिया। उन्होंने अहमद शाह के प्रतिनिधियों को निकाल बाहर किया और अदीना बेग को अपना मुख्तार नियुक्त किया।

दिल्ली से निकाले जाने के बाद नजीब अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने अब्दाली से पत्र-व्यवहार किया और अपने खोए हुए प्रदेशों को फिर से प्राप्त करने के लिए उसे भारत आने को फुसलाया। दत्ताजी सिंधिया के सेनापतित्व में नजीब को दण्ड देने के लिए मराठे आगे बढ़े पर उसने मुज़फ्फरनगर के पास एक मोर्चा बंद और किलाबंद चौकी के पीछे से उनकी प्रगति रोक दी। घिरा हुआ रुहेला सरदार वहां महीनों मराठों को रोके रहा—तब तक, जब तक अवध के नवाब-द्वारा भेजा गया गोसाईं हिन्दुओं का एक रिसाला उसकी सहायता के लिए वहां पहुंच गया। दूसरी दिशा में किए गए उसके प्रयासों का भी फल निकला। अब्दाली काबुल से चला और उसने सिंधु घाटी पार की। मराठी टुकड़ियों का खदेड़ना हुआ, तेज़ी से पंजाब पार करके वह दिल्ली की ओर बढ़ा। दत्ताजी ने उसे थानेश्वर पर रोकने का विफल प्रयास किया। इसमें असफल रह कर यमुना को पार करने के रास्ते की रक्षा के लिए वह पीछे हटा। पर उसकी सेना को फिर हार खानी पड़ी। दत्ताजी स्वयं मारा गया। मल्हार राव ने अब्दाली को तंग करने की कोशिश की लेकिन उसे हानि उठानी पड़ी और वह राजपूताने की ओर पीछे हट गया।

उत्तर में मिली इन पराजयों के समाचारों ने पूना में बेचैनी पैदा की और स्थिति को सम्भालने के लिए पेशवा-परिवार के एक सदस्य के सेनापतित्व में एक शक्तिशाली सेना भेजने का निर्णय किया गया। बालाजी बाजी राव के भतीजे सदाशिव राव भाऊ को सेनापतित्व के लिए चुना गया। पेशवा का पुत्र विश्वास राव सेना का नाम-मात्र का प्रधान बनाया गया। 22 000 मराठा सैनिकों और फ्रांसीसी जनरल बुसी से तालीम पाए हुए इब्राहिम खां गार्दी के नेतृत्व में 8,000 अनुशासित सिपाहियों की सेना ने उत्तर की ओर कूच किया। उत्तर में

मराठा सनाएं, जो होल्कर, सिंधिया और अन्य दलपतियों के नेतृत्व में दिल्ली के चारों ओर पड़ाव डाले पड़ी थीं, भाऊ की सेनाओं से साथ मिल गईं।

मराठों को आशा थी कि उनका पुराना साथी, अवध का नवाब, उनका साथ देगा और राजपूत तथा जाट भी उन्हें सक्रिय सहायता देंगे। लेकिन रुहेलों और नवाब के बीच चली आ रही लम्बी और कटु शत्रुता के बावजूद नवाब ने अब्दाली का साथ दिया, हालांकि उसने साथ दिया दर्द-दर्द ही। उसे इस तथ्य ने प्रेरित किया कि नजीब और अब्दाली अपनी सेनाओं के साथ दोआब में उपस्थित थे और उसके प्रदेशों को बड़ी सरलता से रौंद सकते थे। मराठे उसकी सीमाओं से बहुत दूर यमुना के उस पार थे, और वे अफगानों तथा रुहेला की सम्मिलित सेनाओं को पार करके ही उस तक पहुंच सकते थे। मराठों की सफलता का उसके लिए अर्थ था, स्थायी आधिपत्य। लेकिन यह सर्वविदित था कि अब्दाली की भारत में टिकने की कोई इच्छा नहीं थी। मराठों ने उसके पिता को धोखा दिया था और उनके वचन पर विश्वास नहीं किया जा सकता था।

राजपूत राजा भी अभी हाल में ही मराठा-द्वारा की गई उनके प्रदेशों की लूटपाट को भूल नहीं सके थे और वे किसी भी पक्ष का साथ देने को तैयार नहीं थे। अन्तत: जो भी जीत जाए उसी के पक्ष में खड़े हो जाने की उन्होंने सोची थी। जाट शासक सूरजमल भी मराठों के प्रति सन्दिग्ध था, क्योंकि उसे उनके वादों पर बहुत थोड़ा विश्वास था। उसके रुख को प्रदेश के मराठा सूबेदार गोविन्द बल्लाल बुंदेला के दुष्ट इरादों ने भी पक्का किया था, जो अलीगढ़ के नए जाट-किले को हड़पना चाहता था[1]।

स्पष्ट ही उत्तर में मराठों का एक भी मित्र अथवा साथी नहीं था और उनके अपने सेनापतियों में इस बात पर मतभेद था कि अब्दाली के विरुद्ध किन युद्ध नीतियों का प्रयोग किया जाए। उनकी सेनाओं की सफलता सिर्फ दिल्ली में प्रवेश कर लेने में थी, क्योंकि अहमद शाह दोआब में था और दिल्ली में एक छोटी-सी टुकड़ी थी जो शक्तिशाली मराठों को नहीं रोक सकती थी।

लेकिन दिल्ली एक फन्दा सिद्ध हुआ। पेशवा के पास फालतू धन नहीं था। जागीरों और रियासतों से उन गड़बड़ हालतों में कर वसूल करना कठिन था और लूट-मार से प्राप्त भी बहुत थोड़ा हुआ था। आदमियों के साथ-साथ घोड़ों के लिए भी रसद की कमी थी। रसद थोड़ी पड़ रही थी और खाद्य, चारा आदि महंगे रहे थे। स्थिति की गम्भीरता ने भाऊ को दिल्ली से बाहर जाने पर विवश कर दिया। अब्दाली का भी हाल भाऊ की तुलना में, कुछ ही अच्छा था, क्योंकि वह भी धन की कमी का अनुभव कर रहा था और घर लौटने के लिए उत्सुक था। लेकिन नजीब द्वारा धन और सामान का दिया जाना तथा भाऊ का जिद्दी रुख उसके लिए इस बात के शक्तिशाली कारण बन गए कि वह ठहरे और झगड़े को चरम सीमा तक ले जाए।

दोनों विरोधी पानीपत में आमने-सामने आए। युद्ध में मराठा सेनापति ने

[1] यदुनाथ सरकार, 'फाल आफ द मुगल एम्पायर', खण्ड 2 (1934 का संस्करण,) पृष्ठ 256

दा घातक भूल की। उसने अपने सवार-साधना को बट जाने दिया और मराठा-युद्ध के परम्परागत तरीकों को छोड़ दिया। अपनी प्रशिक्षित टुकड़ी की बन्दूकों पर निर्भर रहते हुए उसने मनिकों की विशाल जमात को और अपने शिविर के साथियों को चौड़ी और गहरी खाइयों की एक पंक्ति के पीछे जमा दिया। अफगान सेना दक्षिण की ओर जानेवाली एक सड़क पर जमा थी। अब्दाली ने अपने सनिक चारों ओर फैला दिए और रसद आदि जाने के मराठा-सवार-मार्गों को काट लिया। 'चारों ओर का प्रदेश मराठा का शत्रु था और अतीत में उनके द्वारा ढाई गई भीषण बर्बादियों का बदला लेने के लिए उबल रहा था।"[1] इसलिए भाऊ के शिविर को कोई सहायता नहीं मिली और घोर भुखमरी उसके सामने मुँह बाए खड़ी हो गई। भूख से निराश और विवश होकर भाऊ ने युद्ध का खतरा उठाने का निर्णय लिया। 14 जनवरी 1761 को वह शिविर से बाहर निकला और दोनों विरोधी भीषण संघर्ष में गुत्थम-गुत्था हो गए।

भारतीय युद्धों में निर्णय मुख्यतः नेता के गुणों पर ही निर्भर करता रहा है। पानीपत में एक साधन-सम्पन्न कुशल और मध्य एशिया तथा भारत में युद्धों के लम्बे अनुभव वाला एक सेनापति अपेक्षाकृत एक युवक सेनापति के सामने खड़ा था, जिसने सिर्फ कर्नाटक में दक्षिण भारतीय सेनाओं के विरुद्ध ही कुछ युद्ध लड़े थे। मराठों की अपेक्षा अब्दाली के पास अधिक सैनिक अधिक तोपें अधिक जिरहबख्तर और अधिक बढ़िया घुड़सवार थे। अफगान सेनापति और उसके कप्तानों का मराठों की अपेक्षा अधिक योग्य होना उनका अधिक उत्साही तथा अनुशासित होना अफगान सेना की विजय का कारण बना। मराठों ने जोरदार धावे बोले और वे एक महान जाति के अनुकूल दृढ़ता और वीरता के साथ लड़े। पर भूख ने उन्हें कमजोर बना दिया था और दोपहर बाद तक वे थक गए। अब्दाली के बन्दूकचियों ने उनके केन्द्र को छलनी बना दिया। नोंकझोंक और हाँफती हुई भीड़ के रूप में पीछे हटे। इब्राहिम गार्दी के अधीन उनकी बाईं भुजा ने अब्दाली की सेना की दाहिनी भुजा वाले रुहेलों पर आक्रमण किया, लेकिन एक सख्त और खूंखार लड़ाई के बाद जिसमें उसके अस्सी प्रतिशत बन्दूकची मारे गए उसे मैदान छोड़ देने को विवश होना पड़ा। मराठों की दाहिनी भुजा में स्थित सिंधिया और होल्कर नजीब और शुजाउद्दौला के सामने खड़े थे। लेकिन उन्होंने लड़ाई में बहुत थोड़ा भाग लिया। जब उन्होंने देखा कि केन्द्र और बाईं भुजा नष्ट कर दी गई है तब होल्कर भागा और सिंधिया की टुकड़ियाँ उसके पीछे भागीं। पराजय एक सर्वनाश में बदल गई। भयंकर कत्लेआम आरम्भ हो गया। अट्ठाइस हजार लोगों की लाशें मैदान में बिखर गईं। अधिकतर सैनिक अफसर मारे गए। विश्वास राव और भाऊ दोनों ही वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आए।

पानीपत की पराजय एक प्रथम कोटि का विनाश सिद्ध हुई। लेकिन यह निर्णायक किसी दशा में नहीं थी। अब्दाली के लिए यह एक बेकार का विजय थी। जैसे ही उसने पीठ मोड़ी, उसकी विजय खण्ड-खण्ड हो गई। घर पर वह और उसके उत्तराधिकारी विद्रोहियों में लगे थे और उत्तर तथा पश्चिम से उजबेग

---

[1] जी०एस० सरदेसाई 'न्यू हिस्टरी आफ द मराठाज़' खण्ड 2 पृष्ठ 430

और ईरानियों का मुकुट सिर पर था। वे भारत-स्थित अपने प्रतिनिधियों को भाव सहायता देने में असमर्थ थे। सिख अपने गढ़ों से निकल कर चारों ओर फैल गए। उन्होंने अफगान अफसरों को निकाल बाहर किया और चारों ओर लूट-मार के धावे बोले। कुछ ही वर्षों में सिन्धु के इस पार अब्दाली की विजयों का चिह्न भी बाकी नहीं बचा। मराठों को बड़ी करारी चोट लगी थी। लेकिन दस ही वर्ष में वे उत्तर में वापस लौट आए और मुगल-सम्राट् शाह आलम के संरक्षक बन कर उसे सन 1771 में इलाहाबाद से दिल्ली लिवा लाए।

यह बात संदिग्ध है कि यदि पानीपत में मराठे जीत जाते तो भारत के परवर्ती इतिहास में उससे कुछ विशेष अन्तर पड़ता। सच यह है कि सन 1761 से पहले ही मराठा राजनीति में टूट-फूट के असन्दिग्ध चिह्न प्रकट हो चले थे। उनके घरेलू प्रशासन का आधार दुर्बल था। मराठा-स्वराज का प्रदेश गरीब था। एक साम्राज्य को शासन के लिए पर्याप्त राजस्व के साधन वहां नहीं थे और इसीलिए पेशवा की सरकार को लूट और बलात वसूली पर अपनी सेनाएं खड़ी करने की नीति अपनानी पड़ी थी। स्वराज अथवा मराठा प्रदेश से बाहर का भारत कुछ सरदारों में बंटा हुआ था जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे उनके और केन्द्रीय सरकार के पोषण के लिए धन देंगे। लेकिन केन्द्रीय सरकार के पास इतनी काफी सेनाएं नहीं थीं कि वे सरदारों के दुराग्रह को कुचल सकती। कोई ऐसा सिद्धान्त भी उन्होंने विकसित नहीं किया था जो उन सबको जोड़ कर रख सकता। शिवाजी के वंश के राजा के प्रति स्वामिभक्ति पेशवा के सत्तासीन हो जाने के कारण नष्ट हो गई थी। पेशवा मैदान में बहुत देर से पहुंचा था और मन्त्री एवं सेनापति जो कुछ ही समय पहले तक उसके समकक्ष थे उसकी सत्ता के प्रति ईर्ष्यालु थे। इन परिस्थितियों में फूट और आन्तरिक झगड़े अनिवार्य थे। सन 1738 जैसे आरम्भिक वर्ष में ही जब राघोजी भोंसले मुगल-साम्राज्य के पूर्वी भागों से चौथ वसूल कर रहा था वह पेशवा बाजीराव प्रथम से झगड़ बैठा था। मामला इस सीमा तक पहुंचा था कि अगला पेशवा बालाजी राव मुगल-सम्राट के कहने पर सन 1743 में भोंसले को दण्ड देने के अभियान में बंगाल के नवाब अलीवर्दी खां का साथ देने पर राजी हो गया था। होल्कर और सिन्धिया का विरोध तो सुलगता ही रहता था। दामाजी गायकवाड़ पेशवा का मुकाबला कर बैठा था और होल्कर का रुख दबी-दबी शत्रुता का था। पानीपत के बाद के दिनों में पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकार भी दावेदारों के पारस्परिक युद्ध के संकट से मुक्त नहीं रहा था।

मराठा राजनीति ने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया था जिसके अनुसार बड़े जागीरदारों और सरदारों के कुछ परिवार स्वतन्त्र रियासतें स्थापित करने की ताक में थे। राजनीतिक मामलों में जनता का अथवा वर्गों का कोई हिस्सा नहीं था। मराठा नेताओं ने उच्च कोटि की राजनीतिज्ञता का भी परिचय नहीं दिया। वे नाचा और छीन-झपट करनेवाले थे। उन्होंने किसानों को पीस दिया और अपनी प्रजा अथवा अधीन हिन्दू की सहानुभूति प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने स्वयं अपने राज्य के हितों और उनकी सांस्कृतिक उन्नति में भी कोई रुचि नहीं दिखाई।

दी थी तब भी उनकी पराजय अन्तिम नहीं थी। जो युद्ध वास्तव में निर्णायक हुआ युद्ध के सबसे दूरगामी परिणाम निकले वह पानीपत से चार वर्ष पहले ही प्लासी पर निर्णायक रूप से बंगाल में लड़ा जा चुका था।
भारत से जाने से पहले अहमद शाह अब्दाली अली गौहर को शाह आलम द्वितीय के नाम से सम्राट घोषित कर गया था। लेकिन चूंकि शाह आलम राजधानी से बाहर था इसलिए नजीबुद्दौला दिल्ली का प्रधान प्रशासक और राज्य प्रतिनिधि बना। शहजादा जवानबख्त को युवराज-पद दिया गया। इस प्रकार, 1761 से 1770 तक नजीबुद्दौला शासन के केंद्र में रहा। वह केवल सम्राट का ही नहीं, बल्कि अहमद शाह अब्दाली का भी प्रतिनिधि था। उसे दिल्ली के चारों ओर के मुगल प्रदेश में व्यवस्था कायम करनी थी और जाटों तथा सिखों की लूट-खसोट का रोकना था। जाटों के विरुद्ध तो वह सफल रहा। सूरजमल को उसने लड़ाई में मार डाला और उसके बेटे को विरोध के अयोग्य बना दिया। लेकिन सिखों के विरुद्ध वह विफल रहा और उन्हें काबू में नहीं कर सका। हां फलकिया सिख सतलज-पार के सरदारों से कट गए।

4 मराठों के झगड़े और दिल्ली का पतन

सन् 1770 तक पानीपत के धक्के से मराठे इतना काफी उभर चुके थे कि उत्तर में फिर से प्रकट हो सकें और अपनी सत्ता को फिर से स्थापित कर सकें। इसी अवसर पर नजीब की मृत्यु ने शाह आलम को मजबूर किया कि वह एक चीज चुन ले—या तो अंग्रेजों के संरक्षण में इलाहाबाद में रहे, या मराठों की सहायता लेकर दिल्ली की गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न करे। सम्राट् की राजधानी लौटने की चिन्ता का मराठा सरदारों ने पूरा लाभ उठाया। उन्होंने उसके साथ एक संधि कर ली और उसे दिल्ली लिवा ले जाने और पुनः गद्दी पर बिठाने का वचन दिया। इस प्रकार बारह वर्षों के निष्कासन के बाद शाह आलम शाही शक्ति के प्रतीक और उसके केन्द्र राजधानी में लौट गया।

बाहर रहते हुए भी शाह आलम ने बिहार और बंगाल पर अपनी सत्ता फिर से स्थापित करने के लिए कुछ प्रयास किए थे, पर बंगाल के नवाब के हाथों उसे मुंह की खानी पड़ी थी। यह एक अजीब संयोग है कि पानीपत के युद्ध के अगले ही दिन साम्राज्य के भाग्य के प्रति अचेत शाह आलम ने बिहार के एक नगर के पास एक अंग्रेजी सेना से लड़ाई की थी किन्तु उसे हार कर संधि करनी पड़ी थी। फिर, तीन वर्ष बाद (1764) जब सम्राट और अवध के नवाब ने गद्दी से हटा दिए गए नवाब कासिम अली खां (मीर कासिम) का पक्ष ग्रहण किया था तब उनकी सम्मिलित सेनाओं को बक्सर में पराजित होना पड़ा था। इस प्रकार शाह आलम अंग्रेजों से पेंशन पाने लगा था और शुजाउद्दौला उनके अधीन हो गया था। एक विदेशी शक्ति पर निर्भर रहने की इस अपमानजनक स्थिति को समाप्त करने के लिए ही शाह आलम ने मराठों का संरक्षण स्वीकार किया था और इलाहाबाद छोड़ दिया था।

मराठे अब दिल्ली के मामलों पर नियन्त्रण करने की स्थिति में आ गए थे। लेकिन युवा पेशवा माधव राव की सन् 1772 में मृत्यु के बाद पूना उत्तराधिकार सम्बन्धी अनिर्णय झगड़ों में उलझ गए थे। पेशवा के चाचा रघुनाथ राव ने नारायण राव को हटाने के लिए मार डाला। उसे बड़ी सरदारों से असन्तुष्ट तत्वों की सहायता प्राप्त हो गई।

पेशवा के परामर्शदाता अपने स्वामी के भाग्य के सम्बन्ध में कमोबेश उपेक्षा का भाव धारण किए हुए थे। महल के रक्षक नदियों का फुसला लिया गया। पेशवा ने पूरी मतदाता नहीं बरती और पदारूढ़ होने के नौ मास के भीतर ही उनकी हत्या कर दी गई।

एक गृह-युद्ध आरम्भ हो गया और रघुनाथ राव (राघोबा) ने अंग्रेजों से सैनिक सहायता की बातचीत की। अब जले पलीली आग पर चढ़ा दी गई थी। सभी मराठा सरदार झगड़े में शामिल हो गए। उनके दक्षिण के पड़ोसियों—हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदर अली—ने अपने-अपने हितों के अनुसार पक्ष ग्रहण कर लिए। फ्रांसीसी तक संघर्ष में शामिल हुए। अन्त में सन 1782 की सालबाई की संधि ने इस लम्बे युद्ध का अन्त किया।

विप्लव और संघर्ष के इन वर्षों में मराठा सरदारों को उत्तर के मामलों की ओर ध्यान देने का बहुत कम अवसर मिला। दिल्ली को उसके हाल पर छोड़ दिया गया। नजफ खां, जिसने बंगाल में अंग्रेजों के सम्पर्क में रह कर सैनिक विद्या सीखी थी और जिसे उनका विश्वास तथा सहयोग प्राप्त था, दिल्ली का प्रभावशाली शासक बन गया। यद्यपि उसमें नागरिक प्रशासन को ठीक रखने की आवश्यक योग्यता नहीं थी तथापि वह चारों ओर से उमड़ते हुए शत्रुओं के आक्रमणों से साम्राज्य के बचे-खुचे हिस्सों को बचाए रख सका।

सन 1782 में नजफ खां मर गया। उसके सहायकों के बीच राज्य प्रतिनिधित्व के लिए एक गन्दा संघर्ष आरम्भ हुआ। इसमें उन लोगों ने अपने को नष्ट कर लिया और मराठों के लिए मार्ग खोल दिया। मराठों का नेता महादजी सिंधिया दक्षिण के युद्धों से मुक्त होकर अब उत्तर के मामलों की देखरेख करने की स्थिति में आ गया था। उत्तराधिकार-युद्ध ने मराठा-संगठन की जड़ को हिला दिया था और एक संघ के केन्द्र के रूप में पेशवा की सत्ता कमजोर पड़ गई थी। सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसले-जैसे सरदार दक्षिण, बंगाल और अवध के मुगल सूबेदारों की तरह ही स्वायत्त प्रान्तीय शासक बन गए। महादजी की महत्वाकांक्षा थी कि वह दिल्ली के मुगल-महासाम्राज्य की स्थिति प्राप्त करे। नजफ खां के सहायकों के षड्यन्त्रों और झगड़ों से सम्राट मुक्ति पाना चाहता था। उसने प्रशासन का कारोबार हाथ में लेने के लिए महादजी को दिल्ली बुलाया।

अंग्रेज दिल्ली के मामलों को बहुत बारीकी से जांच-परख रहे थे और इस बारे में उनके अपने इरादे थे, पर अभी वे उन तूफानी लहरों में कूद पड़ने को तैयार नहीं थे। लेकिन सम्राट् पर नियन्त्रण पाने के लिए मराठों और अंग्रेजों में संघर्ष अनिवार्य था। अंग्रेज मराठों की अपेक्षा अधिक चतुर और साधन-सम्पन्न थे। अपनी योजना के आर्थिक, सैनिक और कूटनीतिक पहलुओं के बारे में आश्वस्त हुए बिना वे आगे नहीं बढ़े। दूसरी ओर, मराठे व्यय, उपलब्ध सेनाओं की योग्यता और साथियों की विश्वस्तता का विचार किए बिना ही दिल्ली के झगड़ों में कूद पड़े। वे केवल नाम का चमत्कार से आकर्षित हुए।

इस प्रकार, महादजी ने सम्राट् का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसने फतहपुर सीकरी के निकट एक शिविर में सम्राट के सामने अपने को प्रस्तुत किया, उसके पैरों पर अपना सिर रखा और सोने की 101 मोहरें उसको नजर कीं। सम्राट ने राज्य प्रतिनिधि (वकील-ए-मुतलक) का पद, जिसमें प्रधान मन्त्री (वजीर) और प्रधान सेनापति

(मीर बख्शी) के कर्तव्य सम्मिलित थे, उसे प्रदान किया[1]। पेशवा के अधिक बड़े दावे को ठुकरा दिया गया। महादजी की महत्वाकांक्षा पूरी हो गई। मुगल-साम्राज्य का सर्वोच्च पद उसने प्राप्त कर लिया था। प्रान्तीय सूबेदारों और सर्वोच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति और बर्खास्ति करना तथा जागीर प्रदान करना और कर लगाना उसके अधिकार में आ गया था। वह सम्राट का प्रतिनिधि और राज्य में उसके बाद सर्वप्रमुख व्यक्ति बन गया था।

लेकिन वास्तव में बहुत ऊंची कीमत देकर महादजी ने एक बेकार का खिलौना लिया था। उसे दस लाख रुपया मासिक व्यय करके एक बड़ी सेना रखनी पड़ती थी और इसके लिए उसे उस संकुचित साम्राज्य में से पैसा खींचना पड़ता था, जिसे कितनी ही बार रौंदा और लूटा जा चुका था। शाही आदेश दिल्ली और आगरा के जिलों में आगे कठिनाई से ही असर रखते थे और यहां भी शाही क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग या तो दे डाला गया था या उस पर उन लोगों ने कब्जा कर लिया था, जो बल प्रयोग के बिना कानूनी कर देने से भी इनकार करते थे। और भी बुरी बात यह थी कि हर दिशा से और अन्दर से भी शत्रु उस पर दबाव डाल रहे थे। मुगल-सरदार उसके विरुद्ध जाल रचते और विद्रोह करते थे। अस्थिर चित्त और अविश्वस्त सम्राट ने स्थायी सहयोग नहीं दिया। पेशवा के दरबार में नाना फड़नवीस का प्रभाव उसके विरुद्ध काम कर रहा था और घरेलू सरकार के पास जिसे मैदान में पहुंचे हुए अपने सेनापति को पूरी सहायता करनी चाहिए थी, विपत्ति के समय महादजी की मदद करने के लिए न धन था और न वैसी इच्छा।[2] जयपुर के राजा ने निश्चित नजराना देने से इनकार कर दिया और अंग्रेजों की सहायता प्राप्त करने के लिए अपने दूत को लखनऊ भेजा। महादजी उसके विरुद्ध कार्रवाई करने पर विवश हो गया। लेकिन वेतन का बहुत पुराना बकाया और भुखमरी के भय के कारण मुगल-टुकड़ियों के साथ छोड़ जाने से उसकी स्थिति विडम्बनाजनक बन गई। वह राजा को दबाने में विफल रहा।

मुगल अमीर गुलाम कादिर रुहेला ने महादजी के संकट का लाभ उठाया। दिन मिल शाह आलम को गद्दी से उतार दिया गया। उसे यातनाएं दी गई और अन्धा बना दिया गया। लेकिन इसी बीच महादजी लालसर की अपनी हार से उभर आया था। उसने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। उसने अन्धे सम्राट् को फिर से गद्दी पर बिठाया और प्रशासन-तन्त्र का पुनर्निर्माण करने तथा सेनाओं एवं पेशवा-सरकार की लगातार मांगों को पूरा करने के उद्देश्य से विद्रोही सामन्तों और जमींदारों को वश में करने का निर्णय किया ताकि राजस्व और धन इकट्ठा हो सके।

लेकिन कितने ही ऐसे शत्रु थे जिन्होंने उसके मार्ग में रुकावट डाली थी। ये थे अशान्त रुहेले मुगल-सरदार राजस्थान के राजा और भाड़े के अव्यवस्थित सिपाही जो बिगड़ी हुई हालतों का लाभ उठाने की ताक में रहते थे। मराठा-सरदारों में होल्कर उसका प्रतिद्वन्द्वी था और नाना फड़नवीस उसके बढ़ते हुए सम्मान तथा प्रभाव के प्रति ईर्ष्यालु था। नाना फड़नवीस ने महादजी को सीमित करने के लिए एक चाणक्यवादी

---

[1] जब सिन्धिया ने कहा कि वह तो पेशवा के अनुचर के रूप में ही सब-कुछ कर रहा था तब पेशवा की सभा में बहुत हर्ष प्रकट किया गया।

[2] यदुनाथ सरकार 'फाल आफ द मुगल एम्पायर' खण्ड 3 पृष्ठ 282

जाल रचा। उसने नजराने इकट्ठे करने के लिए उत्तरी प्रदेशों को सिंधिया, होल्कर और पेशवा के प्रतिनिधि अली बहादुर के बीच बाँट लिया। जान बूझ कर प्रत्येक के लिए नजराने की राशि इतनी ऊँची रखी गई कि कोई अपना हिस्सा पूरी तरह वसूल न कर सके और इस प्रकार तीनों लगातार आपसी कलह में उलझे रहें।

अपने शत्रुओं और उनके षड्यन्त्रों के विरुद्ध महादजी की प्रतिक्रिया थी एक अत्यन्त विशाल सेना इकट्ठी करना जो शान्ति और व्यवस्था कायम रखने तथा नजराने एवं भूमि-कर एकत्र करने में समर्थ हो। यह सेना डि बोयन ने जो सन् 1784 में उसकी नौकरी में आया तैयार की। उसने जो सेना खड़ी की, उसकी सदस्य-संख्या अन्ततः 39 000 तक पहुँच गई। यह मुख्यतः पैदल सेना थी जिसे फ्रांसीसी पद्धति से प्रशिक्षित किया गया था। इसके साथ तोपची टुकड़ियाँ थीं, जिन्हें यूरोपीय देखरेख में काम करनेवाले कारखानों में तैयार तोपों और बन्दूकों से सुसज्जित किया गया था।

इस नई सेना के कारण महादजी शत्रुओं पर छा गया और अपने प्रतिद्वन्द्वी होल्कर समेत सभी शत्रुओं पर उसने निर्णायक विजय प्राप्त कर ली। सन् 1793 तक वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उसका नाम और यश मराठों में अद्वितीय बन गया, लेकिन उसकी विजय अल्पजीवी रही क्योंकि दो वर्षों के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई और इसके साथ ही मराठे अपने अन्तिम महान सैनिक कूटनीतिज्ञ से वंचित हो गए।

इसके बाद घोर अव्यवस्था का समय आया। चारों ओर झगड़े आरम्भ हो गए। महादजी का गोद लिया बेटा, दौलत राव और उसकी सौतेली माताएँ आपस में झगड़ने लगीं। सिंधिया के नागरिक और सैनिक अधिकारी, जो विभिन्न ब्राह्मण-उपजातियों के सदस्य और सेणवी से सम्बन्ध रखते थे एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे। तुकोजी होल्कर के बेटे अपने पिता की विरासत के लिए एक-दूसरे से प्राणघातक युद्ध में उलझ गए। युवक पेशवा माधव राव द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार के झगड़े आरम्भ हो गए जिनमें मराठा-सरदारों ने विरोधी पक्ष ग्रहण किए।

जो गृह-युद्ध अब आरम्भ हुआ उसमें प्रमुख भाग लेनेवाले थे, यशवन्त राव होल्कर और दौलत राव सिंधिया। नाना फड़नवीस ने काफी हुल्लड़ करने और अपने घोर शत्रु राघोबा के बेटे को दूर रखने के विफल प्रयासों के बाद अन्ततः उसी का पक्ष-समर्थन किया। कोल्हापुर के राजा छत्रपति शिवाजी और पटवर्धन-सरदार परशुराम भाऊ के बीच युद्ध छिड़ जाने से भी अधिक उलझनें पैदा हो गईं। प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं ने अभियानों में देश को तबाह कर दिया। गाँव-के-गाँव उनके घोड़ों की टापों से रौंद डाले गए। नगरों को लूटा और बरबाद किया गया। धनिकों को कटघरों में यन्त्रणाएँ दी गईं और गरीबों ने असह्य कष्ट सहे। मराठा प्रदेश में चारों ओर अराजकता फैल गई।

यह युद्ध जिसमें सब एक-दूसरे से लड़े अंग्रेजों के लिए दैवी वरदान सिद्ध हुआ। उस समय वे नेपोलियन के साथ जीवन-मरण के संघर्ष में उलझे थे, जिसने भूमध्य-सागर को पार कर लिया था पिरामिडों की छाया में तुर्कों को हरा दिया था और जो सीरिया तक घुस आया था। उसके दूत भारत और पूर्वी देशों को अंग्रेजों के विरुद्ध उभार रहे थे और प्रसिद्ध था कि टीपू सुलतान उसके साथ पत्र-व्यवहार कर रहा है। इस समय अपने हितों की रक्षा के लिए अंग्रेजी सरकार ने वेल्जली-बन्धुओं को भारत भेजा।

कलकत्ते में पदग्रहण करने के तुरन्त बाद वेल्जली ने मराठों को सहायक संधियों के जाल में खींच लाने के लिए उनसे बातचीत आरम्भ की। पेशवा ने प्रथम तो उसके दो प्रयासों

की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, लेकिन जब यशवन्त राव होल्कर ने उसे हरा दिया (1802) और पूना से बाहर खदेड़ दिया, तब उसे ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। वह बसई भाग गया और वहां उसने एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके अनुसार वह अंग्रेजों के अधीन हो गया।

इस प्रकार केन्द्रीय मराठा राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया। लेकिन मराठा सरदार अब भी शक्तिशाली थे। अंग्रेजों के सौभाग्य से अपने घोर संकट के दिनों में भी मराठे अपनी अवशिष्ट शक्ति की रक्षा के लिए एक नहीं हो सके। ऐसी मूढ़ता को भाग्य ने क्षमा नहीं किया। सिंधिया और होल्कर अंग्रेजों से अलग-अलग लड़े और दोनों को बारी-बारी से करारी हार खानी पड़ी।

महादजी सिंधिया ने दक्षिण के लिए कूच करने से पहले साम्राज्य के प्रशासन का उचित प्रबन्ध कर दिया था। उसने दिल्ली के चिश्तिया के सरदार शाह निजामुद्दीन को राज प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया था और दिल्ली के प्रदेशों का कर उगाहने के उद्देश्य से छः जिलों में बांट दिया था। दुर्भाग्यवश, दिल्ली से सिंधिया की लम्बी अनुपस्थिति, यूरोपीय सेनापतियों की गद्दारी, राज प्रतिनिधि की क्रूरता और उसके बालचीपन, तथा साहसिक लोगों की लूटपाट ने सम्राट एवं लोगों के जीवन को इतना दुखी बना दिया कि वर्णन नहीं किया जा सकता।

जब वेल्सली ने दौलतराव के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तब ब्रिटिश सेनाओं ने उत्तर और दक्षिण में स्थित मराठा फौजों को बहुत तेजी से घेर लिया। उत्तरी पक्ष का सेनापति लेक अलीगढ़ पहुंचा और उसने पेरन के अधीनस्थ सिंधिया की सेनाओं को उखाड़ डाला। फिर उसने दिल्ली की ओर कूच किया। 16 सितम्बर, 1803 को उसने दिल्ली में प्रवेश किया। सम्राट शाह आलम ब्रिटिश संरक्षण में चला गया और मुगल साम्राज्य का अस्तित्व वस्तुतः समाप्त हो गया।

दक्षिण में आर्थर वेल्सली (भविष्य के ड्यूक आफ वेलिंगटन) ने सिंधिया और भोंसले की सेनाओं को क्रमशः असई और अरगांव में नष्ट कर डाला और तब गाविलगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। देवगांव और सुर्जी अर्जनगांव की संधियों पर हस्ताक्षर करके भोंसले और सिंधिया ने अपनी स्वतंत्रता समाप्त कर दी। इस प्रकार शिवाजी का 'हिन्दू पाद पादशाही' का सपना नष्ट हो गया।

दूसरा अध्याय

अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक संगठन

1 भारतीय इतिहास की विशेषताएं

बाबर ने सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल-साम्राज्य की नींव रखी। उसके योग्य और सबल उत्तराधिकारियों ने एक विशाल क्षेत्र में उसे फैलाया—इतना कि औरंगजेब की मृत्यु तक उसकी सीमाएं उत्तर में कराकोरम पर्वत तथा आक्सस नदी तक और दक्षिण में कावेरी नदी तक फैल गईं। पश्चिम से पूरब तक यह साम्राज्य ईरान और बर्मा के राज्यों के बीच स्थित था। इस प्रकार, मुगल अपने से पहले अथवा बाद के किसी भी साम्राज्य से अधिक विस्तृत प्रदेशों पर राज करते थे।

इस विशाल साम्राज्य ने अपने समय में अतुलनीय धूमधाम, शानशौकत तथा वैभव और संस्कृति से भरपूर होने की प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रशासन और राज्य प्रबंध की इसकी प्रणाली ने विशाल भूभागों में शान्ति और व्यवस्था कायम की। कला और साहित्य की प्रगति के लिए भी अद्वितीय अवसर उपलब्ध हुए। विश्व-सभ्यताओं के इतिहास में इसकी उपलब्धियां एक शानदार अध्याय जोड़ती हैं। लेकिन यह अद्भुत प्रासाद अधिक समय तक कायम नहीं रह सका। सन् 1526 में पानीपत में नींव रखी जाने से लेकर सन् 1739 में नादिर शाह के आक्रमण तक की 213 वर्ष की अवधि में ही यह साम्राज्य समाप्त हो गया। मुगल-साम्राज्य की अवधि लम्बी नहीं थी, पर भारतीय साम्राज्य साधारणतः अल्पजीवी ही रहे थे। मौर्य-साम्राज्य का डेढ़ शताब्दी से भी कम समय में अन्त हो गया। सातवाहनों ने अपना साम्राज्य पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य स्थापित किया और दक्षिण पर समुद्र से समुद्र तक अपना प्रभुत्व विस्तृत किया। पर उनके शासन की कुल अवधि तीन शताब्दी से भी कम है। गुप्त-वंश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज किया। दक्षिण के चोल और बंगाल के पाल-जैसे प्रादेशिक राज्य अधिक दिनों तक कायम रहे—शायद इस कारण कि उनकी स्थिति सुरक्षित थी। अन्यथा, साधारणतः प्राचीन और मध्य-युगीन सभी भारतीय राज्य और साम्राज्य अल्पजीवी ही रहे।

वैदिक युग से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत ने इतिहास में एक समय पर दो शताब्दियों से अधिक की अविकल राजनीतिक एकता का लाभ भारत ने कभी नहीं उठाया। अशोक का अखिल भारतीय साम्राज्य उसकी मृत्यु के तत्काल एकदम बाद ही बिखर गया। चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त-द्वारा जीते गए प्रदेश पांचवीं शताब्दी के अन्त में बुद्धगुप्त के समय तक हाथ से निकल गए, जब उत्तर-पश्चिम के हूण हमलावरों ने गुप्तों की सत्ता को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। खिलजियों का साम्राज्य कठिनाई से तीस वर्ष (सन् 1290-1320 तक) टिका। तुगलकों की सत्ता को मुहम्मद तुगलक की मृत्यु (1351) से पहले ही बंगाल और दक्कन में चुनौती दी जाने लगी थी। मुगलों के साम्राज्य का ढांचा औरंगजेब की मृत्यु के बाद आधी शताब्दी के भीतर ही खण्ड-खण्ड होकर बिखर गया। इस प्रकार भारत का इतिहास साम्राज्यों के उत्थान और पतन तथा एक के पतन और अन्य की स्थापना के बीच की अराजकता की कहानी है।

भारत के इतिहास के विषय में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि साम्राज्यों की राजधानियां और राजनीतिक प्रणालियों के प्रभाव-केन्द्र स्थायी नहीं रहे। मौर्यों और गुप्तों की राजधानी पूर्वी भारत में थी। सातवाहनों ने दक्खन से राज किया। गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज थी। चोल दक्षिण भारत के थे और मध्य-युगीन सुल्तानों तथा मुगलों ने दिल्ली अथवा आगरे से अपना प्रभुत्व विस्तृत किया। यूरोपीय स्थितियों के मुकाबले में केन्द्रिकता का यह अभाव दर्शनीय है। उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली के राज्यों ने लन्दन, पेरिस और रोम के विशिष्ट केन्द्रों में ही अपना रूप विकास किया था।

यद्यपि भारत के किसी भी एक हिस्से ने केन्द्रीकरण में एक प्रधान भूमिका निरन्तर अदा नहीं की, तथापि यह सच है कि भारत का मध्य-देश (अथवा मध्य-देश) अर्थात् सरस्वती तथा सदानीरा के और हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश का राजनीतिक सांस्कृतिक जीवन में युग-युग से एक विशिष्ट सम्मानित स्थान रहा है। कारण, यह प्रदेश प्राचीन युगों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं राम, भरत और जनक के राज-कुलों का तथा मध्य-युगों में तुर्क और मुगल-साम्राज्यों का गढ़ रहा। गंगा, यमुना और सरस्वती जैसी पवित्र नदियां और हरिद्वार, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग तथा काशी-जैसे तीर्थस्थानों की भूमि भी यही है। यहां कुछ महान भारतीय भाषाओं—संस्कृत, पाली, ब्रज और उर्दू—ने जन्म लिया और वे फली-फूलीं। यहीं बुद्ध और महावीर के धर्मों का तथा भक्ति और सूफी-आन्दोलनों का विकास हुआ।

मध्य-देश वह केन्द्र रहा जहां से सांस्कृतिक प्रभाव भारत के सभी प्रदेशों में पहुंचते थे। लेकिन यह सांस्कृतिक केन्द्र भारत के लोगों को एक संगठित सामाजिक राजनीतिक इकाई के रूप में बांधे रखने और इस उद्देश्य की ओर उन्हें आकर्षित करने में विफल रहा।

भारत ऐसे इकाई सामाजिक संगठन का विकास करने में असफल क्यों रहा और इसका राजनीतिक ढांचा अस्थिर क्यों रहा—ये वे समस्याएं हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। इन्हें समझे बिना अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजों-द्वारा भारत की विजय को और इसके लगभग 200 वर्ष बाद भारत-द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति को स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता। इसलिए यह जरूरी है कि विजय के अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को सरल बनानेवाली जो विशिष्ट अवस्थाएं भारत में वर्तमान थीं उनका विश्लेषण किया जाए।

अब सभ्यता के निर्माण और उसके विनाश दोनों में ही मानव और प्रकृति को एक भूमिका अदा करनी पड़ती है। इन दोनों में प्रकृति की भूमिका मानव की भूमिका से कमजोर होती है। प्रकृति अवसर प्रदान करती है लेकिन यह मानव का काम है कि वह उनसे लाभ उठाए। वह चुनौतियां प्रस्तुत करती है जिन्हें यथोचित प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा रहती है। जब मनुष्य प्रकृति की देन का उपयोग करता है तब वह अपना कदम आगे रखता है और फिर से दूसरा कदम पर बढ़ता जाता है। इसके विपरीत अवस्था में या तो वह गतिहीन स्थिति में पड़ा रहता है या इतिहास क्रम के बीच जो-कुछ उसने श्रम पूर्वक बना कर खड़ा किया, वह टूट जाता है और अन्त में बिखर जाता है। लेकिन समाजों और सभ्यताओं का उत्थान और पतन आवश्यकता के किसी सख्त नियम का परिणाम नहीं होता। जहां तक विचार जाता है मानव अपने भाग्य का निर्माण स्वयं

ही करना है प्राकृतिक कारण उसकी शक्तियों को चाहे कितना ही सीमित कर दें। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियां मानव-द्वारा प्राकृतिक साधनों के सृजनात्मक उपयोग की ही परिणति है।

यद्यपि ज्ञान की वर्तमान अवस्था में संश्लिष्ट कार्य-कारणवाद के उलझे हुए जाल को वैज्ञानिक पद्धति से सुलझाना असम्भव है, तथापि अतीत की घटनाओं का मात्र वर्णन करके और उनकी शृंखला की अथवा उनमें उपस्थित कार्य-कारण सम्बन्धों की उपेक्षा करके सन्तोष कर लेना सम्भव नहीं है। इतिहास का समझने की दिशा में आगे बढ़ने के लिए इन कारणों के प्रभाव का मूल्यांकन आवश्यक है।

यदि सभी इतिहासों की तरह भारत का भी इतिहास मन और प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का एक लेखा है, तो जिन विभिन्न तत्वों ने अठारहवीं शताब्दी की घटनाओं को रूप-आकार दिया उनके योगदान का मूल्यांकन जरूरी हो जाता है। और, आरम्भ उस प्राकृतिक वातावरण से ही किया जा सकता है, जो मानवीय प्रयासों को प्रेरणा और अवरोध दोनों ही प्रदान करता है।

2 भूमि

भारत उन्नीसवीं शताब्दीवाले ज्यों भूमि का हो रहा है। आकार की दृष्टि से यह उस वर्ग में पड़ता है जिसमें सोवियत रूस चीन आस्ट्रेलिया कनाडा और अमेरिका हैं। जनसंख्या की दृष्टि से यह चीन के बाद संसार का सबसे बड़ा देश है।

इसकी भौगोलिक विशेषताएं इसे विश्व का एक निचोड़ अथवा प्रतीक बना देती हैं। कारण सभी प्रकार की जलवायु, लगभग हर ढंग की भूमि और जल, पशुओं और पौधों की अधिकतर जातियां कितने ही प्रकार के खनिज पदार्थ और कितनी ही मानवीय जातियां इसके विभिन्न क्षेत्रों में पाई जाती हैं।

यह देश प्राकृतिक दृष्टि से चार भागों में बंटा है। हिमालय प्रदेश उत्तरी मैदानों का प्रदेश, मध्यवर्ती उच्चभूमि, और पूर्वी पश्चिमी तथा दक्षिणी समुद्रतटों-सहित दक्कन।

हिमालय का प्रदेश हिम का अविच्छिन्न आवास है। इसी की गोद में कश्मीर की सर्वोत्तम घाटी अवस्थित है, जिसे मुगलों ने 'धरती का स्वर्ग' बनाया था। यहीं अनगिनत पर्वतीय राज्य [illegible] जिनमें से कुछ बहुत छोटे और विस्मय हैं, और सिक्किम, भूटान तथा नेपाल-जैसे अन्य राज्य हैं जिनमें बसनेवाली मजबूत और लड़ाकू जातियां पर्वतराशि की उत्तम निवासी प्रजा है।

उत्तरी मैदानों का प्रदेश जो उत्तर-भारत से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत है उन महान् नदियों की देन है जिनके उद्गम-स्थल हिमाच्छादित हिमालय में हैं। उपजाऊ पंजाब को सिन्धु और उसकी सहायक नदियां सींचती हैं। जाड़ों में ठंडी और गर्मियों में गर्म इसकी स्वस्थ और स्फूर्तिदायक जलवायु तथा नगण्य से लेकर साधारण तक वर्षा इसे परिश्रमी किसानों और प्रचुर कृषि-उपज की भूमि बना देती है। राजस्थान का एक बहुत बड़ा भाग रेगिस्तान है। यह पीली रेत का एक अट्टहासता समुद्र है, जहां जल बहुत कम है और जीविका कमाना बहुत कठिन। लेकिन राजस्थान ने उस गर्वीली राजपूत-जाति को जन्म दिया है जो आत्मविश्वास और वंशगौरव के सम्मान की रक्षा के प्रति बहुत स्पष्ट आतिथ्य भाव से आक्रान्त, देश की सीमा तक उग्र अपने सरदारों के प्रति

वफादार प्रमाद की हद तक वीर और साहसी लेकिन सुस्त और संगठित कार्रवाई करने में उदास रही है।

मध्य भूमि अरावली और राजमहल की पहाड़ियों के बीच अवस्थित नदियों से भरा प्रदेश है। यह वह तल भूमि है जिसमें हिमालय का फालतू जल उत्तर से और विन्ध्याचल का जल दक्षिण से आकर बहता है। ये नदियां अपने साथ उपजाऊ मिट्टी लाती हैं जिसने मध्य भूमि की नाद को भर दिया है और उसे हजारों फुट गहरी मिट्टी की पर्तें प्रदान की हैं। धीमे धीमे बहनेवाली गंगा हिमालय की घाटियों से बाहर निकल कर उपजाऊ मिट्टी की मोटी पर्त के बीच बहती हुई दाहिनी और बाईं, दोनों ओर से सहायक नदियों को ग्रहण करती हुई बड़ी शान से तब तक आगे बढ़ती चली जाती है जब तक बंगाल की खाड़ी के विशाल विस्तार का आलिंगन करने के लिए दक्षिण की ओर नहीं मुड़ जाती। यह एक गर्म प्रदेश है। यद्यपि जाड़ा हल्का पड़ता है, तथापि ग्रीष्म के महीनों में पपड़ी जमी धरती पर सूर्य की किरणें क्रूरतापूर्वक दहकती हैं। तब जून मास में दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम से काले बादल घिरने लगते हैं तथा धरती की प्यास बुझाने और उसे समृद्ध हरियाली से ढक देने के लिए बरसात आ पहुंचती है।

यह मध्य भूमि प्राचीन और मध्य, दोनों ही युगों में भारतीय संस्कृति की पीठस्थली रही है। इसकी भाषाओं को सर्वाधिक व्यापक भाव से मान्यता मिली है। यह साहित्य और कला के लिए प्रसिद्ध रही है। इसके राजाओं के वीरतापूर्ण कार्य और पवित्र पुरुषों के पावन कृत्य उन किंवदन्तियों, कहानियों तथा वीर-गीतों में निहित हैं, जो पूरे भारत की मूल्यवान धरोहर बन गए हैं। इसकी नदियों के तटों के साथ-साथ ये नगर बसे जो शक्ति के केन्द्र बन गए, और वे आश्रम बने, जिन्होंने ज्ञान तथा सत्य के अन्वेषकों को आश्रय दिया।

जहां गंगा राजमहल पहाड़ियों के पास में मोड़ कर आगे निकलती है वह बंगाल डेल्टानुमा मैदान में प्रवेश करती है। गंगा, ब्रह्मपुत्र और मेघना जो इस भूमि पर धीमे धीमे बहती हैं उस मिट्टी से लदी चलती हैं जिसे वे अपने साथ खींच लाती हैं। यह विशाल दलदली तटों पर जमा होती चलती है और नदी पथ की तरह फैलती जाती है। इसकी शाखाएं कभी-कभी नया रूप धारण कर लेती हैं। बंगाल एक वाष्पमय मैदान है जो प्रचुर वर्षा, अनगिनत जल धाराओं और जलाशयों के कारण गर्म और नम रहता है। यहां उपज बहुत घनी है और जीवन सहज। 'स्वर्णमय बंगाल' को भारत के अधिकतर भागों से बढ़ कर प्रकृति के वरदान मिले हैं।

गंगा के मैदानी मध्य भाग के दक्षिणी छोर में भूमि ऊंची होने लगती है यहां तक कि वह क्रमशः विन्ध्य श्रेणियों के उभार तक पहुंच जाती है। यह उठा हुआ प्रदेश मध्य भारत की उच्च भूमि है। पश्चिम से पूर्व तक मालवा, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड के प्रदेश इसमें सम्मिलित हैं। पूर्व में कैमूर-भाण्डेर की पर्वत-श्रेणी इस प्रदेश को छोटानागपुर और उड़ीसा से अलग करती है और पश्चिम में चम्बल नदी और अरावली पहाड़ियां इसे राजपूताना और गुजरात से काटती हैं। विन्ध्याचल जो गंगा के मैदान से आरम्भ होकर हल्के उभार के साथ अपनी चोटी की ओर उठता है, अब मुंह के बल नीचे दक्षिण की ओर मुड़ जाता है। ढलान के पाद-प्रदेश में नर्मदा का संकरा तट प्रदेश है। इस नदी में अमरकण्टक से धारा का जल आता है। यह जबलपुर की निकटवर्ती संगमरमरी चट्टानों की गहरी

घाटियों में से गुजरती है और तब समतल और पहाड़ियों में से होकर शान्तिपूर्वक समुद्र की ओर बह जाती है। नर्मदा बड़े ही चित्ताकर्षक दृश्यों के बीच मार्ग बनाती हुई चलती है। प्राचीन काल में इसके तटों पर अनगिनत आश्रम, मन्दिर और पूजा-स्थल बनाए गए थे। पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों तक पहुंचने के लिए उत्तर भारत के यात्री पाटलिपुत्र से विन्ध्य-पर्वत-श्रेणियों के साथ चल कर चित्रकूट, भिलसा और उज्जैन होते हुए भड़ौंच पहुंचा करते थे। जो दक्कन में प्रवेश करना चाहते थे वे पहले दर्रों में से गुजरते थे और तब नदी के उस पार चले जाते थे। नर्मदा को किंवदन्ती ने लगभग पवित्र गंगा-जैसी श्रेष्ठ पावनता के आवरण में उसे लपेट लिया है।

नर्मदा दक्कन के उस पठार की उत्तरी सीमा है जो सुदूर दक्षिण तक एक कोण की तरह गड़ा चला गया है। इसके दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं। पूर्वी घाट अव्यवस्थित रूप में फैली कम ऊंची पहाड़ियों की एक श्रेणी है जिसके बीच-बीच में रिक्त स्थान हैं। बंगाल की खाड़ी और इस घाट के बीच का चौड़ा मैदान उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु की समुद्र-तटवर्ती भूमि है। तट चमरस से ढकी दलदलों और रेत के टीलों से भरा है। इनके बीच-बीच में वे डेल्टे बिखरे हैं, जिन्हें उन नदियों ने बनाया है जो घाट में यहां-वहां पड़ी दरारों में अपना गाद-भरा जल लिए घुसी चली आती हैं। इनमें प्रमुख हैं—महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के डेल्टे। इन डेल्टा-मैदानों में कुछ खाड़ियां हैं अन्यथा यह समुद्र-तट बंगाल की खाड़ी से सामान्यतः आनेवाले मानसूनों और अंधड़ों के आघातों के सामने उन्मुक्त पड़ा है। समुद्र-तट छिछला है। वह बन्दरगाहों और बड़े-बड़े जलयानों की सुरक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है। लेकिन समुद्र-तटवर्ती मैदान उपजाऊ है। वर्षा और नदियों दोनों से इतना काफी जल प्राप्त हो जाता है कि यह क्षेत्र—विशेषकर उत्तर में उड़ीसा का और आन्ध्र के उत्तरी जिलों का इलाका—धान की दृष्टि से बहुत सम्पन्न बन गया है। दक्षिण की ओर के प्रदेशों में मानसून बहुत देर से पहुंचते हैं और वर्षा की मात्रा बहुत कम हो जाती है। यहां सिंचाई के लिए तालाबों और स्रोतों का जल प्रयोग में लाया जाता है। यहां की रेतीली मिट्टी और समुद्र-तट की नमकीन हवा में ताड़, पल्मिरा, खजूर और कैसुरिना के वृक्ष बहुत होते हैं।

जब कि उड़ीसा भारत के अतीत की मुख्य हलचलों से शताब्दियों तक अलग-थलग रहा है, आन्ध्र और तमिलनाडु देश के इतिहास की गतिविधियों में बराबर जोरदार हिस्सा लेते रहे हैं। ये प्रदेश सातवाहनों, चालुक्यों, चोलों, काकतियों, विजयनगर-साम्राज्य और बहमनी राज्यों की कारवाइयों के केन्द्र रहे हैं। इस समुद्र-तट के दक्षिण भाग में वे मंडियां थीं, जहां पूर्व और पश्चिम के बीच का विश्व-व्यापार होता था और जहां एक दिशा से दूसरी दिशा की यात्राओं पर जानेवाले रोम, अरब, ईरान, मलाया और चीन के व्यापारी आपस में मिलते थे।

पश्चिमी समुद्र-तट बहुत संकरा है। इसकी रक्षा-पंक्ति पर्वत-श्रेणी सह्याद्रि है जो सतत नीलगिरि और उससे भी आगे तक लगभग अविरल रूप से फैला हुआ है। इसमें पांच हजार फुट तक ऊंची चोटियां हैं। नीलगिरि-पर्वत-श्रेणी में डोडाबेटा की ऊंचाई तो आठ हजार सात सौ फुट से भी अधिक है। पश्चिमी समुद्र-तट में कच्छ और काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, कनारा, केरल आदि कितने ही प्रदेश सम्मिलित हैं। कच्छ समुद्र से घिरा एक द्वीप है और काठियावाड़ एक प्रायद्वीप है जिसे एक संकरी पट्टी मुख्य भूमि से जोड़ती है। गुजरात मालवा के पठार का ही एक विस्तार है, मानो सिंधु-गंगा के मैदान

की अवस्थाएं प्रायद्वीप पर बढ़ आई हों। कारण एक तटवर्ती तल भूमि है जो तीस से पचास मील तक चौड़ी है और खानदेश से गोआ तक फैली है। पहाड़ियों ने यत्र-तत्र इसे काटा है और पश्चिमी घाट की खड़ी चट्टान इस पर छाई हुई हैं। पश्चिमी घाट चपटा चोटियोंवाले पर्वतों की एक अस्त-व्यस्त श्रेणी है जिसे गहरी पतली घाटियां विभक्त करती हैं। ये पर्वत प्राकृतिक दुर्ग हैं। मुगलों के साथ अपने संघर्ष में मराठों ने इनका उपयोग किया था।

कोंकण और केरल के बीच कनारा का तटीय पट्टी है। घाट से समुद्र की ओर तेज बहनेवाली जल धाराओं ने इसे बुरी तरह काट छांट डाला है। इन नदियों की घाटियां ही खेती के लिए अवसर प्रदान करती हैं अन्यथा प्रचुर वर्षा से पनपे हुए और मलेरिया से ओतप्रोत जंगल इन पहाड़ियों पर छाए हुए हैं। लेकिन इन जंगलों में सागवान और चन्दन की सबसे प्रचुरता से पाई जाती है।

केरल पश्चिमी समुद्र-तट का सुदूरतम दक्षिणी भाग है। उत्तर में नीलगिरि और दक्षिण में अनामलाई तथा कार्डेमम पहाड़ियां ऐसे अवरोध हैं जो केरल को शेष देश से अलग करती हैं। इन्हें नीलगिरि और अनामलाई पर्वतों के बीच स्थित पालघाट की रिक्त भूमि ही विच्छिन्न करती है। इन पहाड़ियों से निकल कर छोटी छोटी नदियां समुद्र की ओर बहती हैं और अपने मुहानों पर छोटे छोटे बंदर बना कर सामुद्रिक नौकानयन के लिए मार्ग प्रदान करती हैं। अन्यथा कच्छ और समुद्र-ताल सारे तट पर फैले हैं और जल मार्ग ही संचार का एकमात्र साधन है।

पश्चिमी समुद्र-तट विशेषकर पश्चिमी घाट अगम के कारण भारत का सबसे तर प्रदेश है। इसके पूरे विस्तार में अनगिनत छोटे और बड़े बंदरगाह हैं। ईरान की खाड़ी और लाल सागर की प्राचीन सभ्यताओं के केन्द्र पश्चिम में इसके सम्मुख हैं और अधिक आधुनिक समय के अफ्रीका के दक्षिणी छोर का चक्कर काट कर आनेवाले यूरोपीय जन मार्ग भी इसी के सम्मुख पड़ता है।

पूर्वी और पश्चिमी घाटों के बीच और सतपुड़ा, मैकल तथा हजारीबाग की पर्वत श्रेणियों के दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप का भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन वह भूखण्ड है जिसे दक्कन कहा जाता है। यह प्रायद्वीप आकार में तिकोना है। इसका आधार वह चौड़ा उत्तरी पठार है जिसे एक खड़ी रेखा पश्चिम में मराठी बोलनेवाले लोगों, मध्य में हिन्दी बोलनेवालों और पूर्व में तेलुगु भाषियों के बीच बांट देती है। नीचे पठार का मध्य भाग है। इसमें कन्नड़, तेलुगु और तमिल भाषाओं के क्षेत्र सम्मिलित हैं। दक्षिणी भाग के फिर दो हिस्से हो जाते हैं जिनमें से पश्चिम की भाषा मलयालम है और पूर्व की तमिल।

महाराष्ट्र प्रदेश में इसका पठार, पश्चिमी घाट और कोंकण समुद्र-तट के अंश सम्मिलित हैं। मिट्टी, जलवायु और उपज की दृष्टि से इनमें प्रत्येक की निजी विशेषताएं हैं। पठार की मिट्टी मुख्यतः गहरी-काली है। मानसून पश्चिमी घाटों पर ही अपना अधिकांश भाग खाली कर डालता है और दक्कन के हिस्से में वर्ष भर में बीस से तीस इंच तक वर्षा होती है। मोटे अनाज—बाजरा, कोदों और मक्का—यहां परम अधिक होता है तथा ज्वार-बाजरा ही परिश्रमी तथा मितव्ययी मराठा किसानों का प्रमुख भोजन है।

पठार का आभ्र अथवा तलगानाशाला भाग बिल्कुल भिन्न है। इसकी विशेषताएं हैं—ऊसर भूमि, नोंकदार और गुनी घाटियां, चट्टानें और पाषाण-खण्डों के समान समजल

रेतीली मिट्टी और मामूली वर्षा। मराठवाड़ा की तुलना में तेलंगाना बहुत थोड़ी हरियालीवाला प्रदेश है। यहां पेड़ बहुत थोड़े हैं, घास भी घटिया और बहुत कम है।

उत्तरी दक्कन के हिन्दी भाषा प्रदेश में प्राचीन दक्षिण-कोशल अथवा गोंडवाना—जैसे उड़ीसा की सीमा पर स्थित दुर्गम पहाड़ियों और जंगलों का प्रदेश है।

दक्कन की बीच की पट्टी में मैसूर का पठार, दक्षिणी आंध्र और उत्तरी तमिलनाडु हैं। मैसूर का पठार समुद्र की सतह से 1 500 से 4 000 फुट तक ऊंचा है, और तुंगभद्रा एवं कावेरी नदियां तथा उनकी अनेक सहायक नदियों के प्रमुख जल-स्रोत इसी में अवस्थित हैं। वर्षा मामूली है—वर्ष में 25 से 35 इंच तक और खेती तालाबों से सिंचाई पर ही अधिकांशतः निर्भर करती है।

मैसूर से नीचे तिकोने प्रायद्वीप का शीर्ष बहुत तेजी से संकरा हो जाता है। केरल और तमिलनाडु के कछारी मिट्टी के मैदान इसकी दो भुजाएं हैं और नीलगिरि, अन्नामलाई, कार्डेमम तथा पालनी पहाड़ियों की उच्च भूमियां इनके बीच में हैं। पहाड़ियों पर वर्षा बड़े जोर की होती है। ये निसर्गतया ही उष्ण-कटिबंधीय जंगलों से ढकी हैं। नीलगिरि में यूकेलिप्टस के नाले घने सघनता में होते हैं और इन्हीं को देख कर इन पहाड़ियों को यह नाम दिया गया है।

दक्कन के पठार तथा उत्तर की ओर पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रतटों की उपजाऊ निम्न भूमियों के बीच भारी विषमता है। प्रदेश की पहाड़ी प्रकृति, कमजोर मिट्टी, वर्षा का तटों तक सीमित रहना, कुछ भागों में वनों की प्रचुरता तथा कुछ में वनस्पति की कमी, ये सब दक्षिण भारत की विशिष्टताएं हैं। ये आराम और प्रचुरता के जीवन को अवसर नहीं देतीं। इसीलिए भारत की सभ्यताएं दक्कन के चारों ओर की निम्न भूमियों सिन्धु-गंगा के मैदानों, बंगाल की खाड़ी अथवा खंभात की खाड़ी में गिरनेवाली नदियों के डेल्टा तथा समुद्र-तटवर्ती मालाबार और कोरोमंडल में पनपी हैं। संस्कृति के इन केन्द्रों से चल कर ही लोग दक्कन की उच्च भूमियों में घुस आए हैं और उनके कुछ हिस्सों को अपनी विशिष्ट संस्कृतियों के क्षेत्र में खींच लाए हैं। इन्होंने मूल निवासियों को घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ों की ओर धकेल दिया जहां वे आज भी रहते हैं।

भारत की भौगोलिक स्थितियों में विद्यमान विषमता चौंकानेवाली है। जलवायु, मिट्टी, वर्षा, तापक्रम तथा स्थल और जल की विभिन्न विशेषताओंवाले बहुत-से प्रदेशों में देश बंटा है। देश की विशालता, आवागमन और संचार-साधनों की पुरातनता, अपेक्षाकृत कम सघन जन-संख्या—ये सब ऐसे तत्व थे जिन्होंने अतीत में प्रदेशों के पृथक्करण को बढ़ावा दिया। जब तक ऐसी अवस्थाएं रहीं, तब तक सामाजिक समुदाय की चेतना का प्रकट होना बहुत कठिन था।

किन्तु इन सब विषमताओं के पीछे कुछ समताएं भी हैं। ये उन पहाड़ों और समुद्रों की देन हैं जो देश को घेरे हुए हैं। सम्पूर्ण भारत को एक अर्धोष्ण-कटिबंधीय मानसूनी जलवायु देश में—जिसमें जाड़ा, गर्मी और वर्षा की ऋतुएं क्रमशः इस तरह आता है कि इनकी अवधि सुनिश्चित हो गई है और इनके बारे में पूर्वघोषणा की जा सकती है—हिमालय एक शक्तिशाली घटक है। समुद्र और उत्तर में पहाड़ों की एक अर्द्धवृत्ताकार दीवार एक ऐसा ढांचा खड़ा कर देती है, जिसके बीच जीवन विशेष बाहरी हस्तक्षेप के बिना ही आगे बढ़ता चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य और समाज में यद्यपि एक

समन्वयात्मक एकता उत्पन्न नहीं हुई, तथापि संस्कृति के क्षेत्र में सामान्य रीतियां और मनोवृत्तियां विकसित हुई और सामान्य विशेषताएं पनपीं।

प्रकृति पर विज्ञान और अन्वेषणों की विजय के द्वारा भूगोल की चुनौतियों का सामना किया गया है। मनुष्य अब भौतिक अवरोधों पर, यहां तक कि आकाश के ग्रहों पर भी काबू पाने में समर्थ हो गया है। प्रकृति का ज्ञान मानवीय प्रयोजनों के लिए प्राकृतिक शक्तियों को वशीभूत करने में सहायक बना है। पहाड़ों, नदियों, जंगलों और जलवायुओं के द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयों को समाप्त कर दिया गया है और भौगोलिक विविधताओं ने मानव की ऐक्य भावना के सामने घुटने टेक दिए हैं।

लेकिन ये सब सरगर्मियां बहुत आधुनिक हैं और उन्नीसवीं सदी तक पहुंच कर ही भारत का इनका लाभ मिल सका है। इससे पहले भौगोलिक विषमताएं देशवासियों पर और उनकी अवस्थाओं पर हावी थीं और उन्होंने साथ रहना और एक होना कठिन बना दिया था तथा केन्द्रोपसारी शक्तियों का लगभग अबाध रूप से जोर था।

आज विज्ञान ने मानव की सेवा में एक विराट शक्ति नियुक्त कर दी है। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मानव को मात्र उतनी ही शक्ति उपलब्ध थी, जितना मानव अथवा पशु से सम्भव था। कृषि और उद्योगों में मानव की उत्पादन सामर्थ्य उन्हीं पर निर्भर थी। प्रादेशिक विभागों के बीच सम्पर्क तथा केन्द्र-द्वारा प्रशासनिक नियन्त्रण सीमित था।

इसीलिए पृथक्तावाद, स्थानीयतावाद और प्रदेशवाद राष्ट्रवाद अथवा विश्ववाद से प्रबल थे। यद्यपि प्रकृति ने एक ऐसा भौतिक ढांचा दे रखा था, जो एक विशिष्ट संस्कृति और एक समग्र सामाजिक संगठन की सुविधा प्रदान कर सकता था और दरअसल उसकी ओर संकेत भी करता था, तथापि विभेदक भौगोलिक शक्तियों पर काबू पाने के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान के अभाव ने सामाजिक और राजनीतिक एकता के विकास को स्थगित कर रखा था।

जो विशाल अवरोध भारत को उसके पड़ोसियों से अलग करते थे, वे ऐसे शक्तिशाली तत्व थे जो एक विशिष्ट व्यक्तित्व के विकास में सहायक थे और अन्य देशों की संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति को अलग करते थे। लेकिन प्रादेशिक विषमताओं ने अखिल भारतीय सांस्कृतिक एकता और सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक समन्वय प्रक्रिया को रोक दिया।

3 निवासी

किसी भी जाति के इतिहास में भौगोलिक तत्व का बड़ा महत्व होता है, पर मानवीय तत्व का उससे भी अधिक महत्व है। मनोवृत्ति, विचार, भाव, चरित्र और तौर-तरीके संस्थाओं का स्वरूप देते हैं और विभिन्न कालों में जातीय प्रगति की दिशा प्रदान करते हैं। भारतीयों की आज की भाषाओं, उनके धर्मों, विश्वासों और पूजा विधियों, उनके सामाजिक संगठन और सौन्दर्याभिव्यक्ति इन सब पर उनकी परम्पराओं की छाप अंकित है। उदाहरणार्थ सातवीं सदी ईसा-पूर्व में उपनिषदों के वाक्यों से लेकर बीसवीं शताब्दी में गांधीजी की शिक्षाओं तक मनोवृत्तियों और नैतिक धाराओं की एक अटूट शृंखला चली आ रही है। लेकिन इस एकता और एकरूपता के ऊपर विभिन्नता की पर्त है, क्योंकि भारत भाषाओं,

जातियों, धर्मों और प्रथाओं के बहुगुणन का आगार है। विषमता उतनी ही सुस्पष्ट और आकर्षक है, जितनी संस्कृति के कुछ गुणों में विद्यमान समानता। इस विविधता का एक स्रोत है, भारतीय आबादी का स्वरूप।

भारत के निवासियों में कई जातियों का मिश्रण है। इन जातियों में से कुछ इस देश में इतने लम्बे समय से रह रही हैं कि इन्हें स्थानीय समझा जा सकता है। अन्य जातियाँ ऐतिहासिक कालों में बाहर से यहाँ आईं। ये आपस में घुल मिल गई और इन्होंने कितनी ही विभिन्न किस्मों को जन्म दे दिया। जातियों के भारत में आगमन और उनके यूरोप में आव्रजनों के बीच एक शिक्षाप्रद अन्तर है। दोनों में समानता मात्र आर्य भाषा भाषी जातियों के आवागमन की है। यूरोप में ये देशान्तरण तीन धाराओं में हुए। प्रारम्भिक आव्रजक बल्कान और इटली तथा पश्चिमी, मध्यवर्ती एवं पूर्वी प्रदेशों में, वहाँ पहले से रहनेवाले लोगों को हटा कर अथवा उन्हें अपने में समाहित कर बस गए। लेकिन पाँचवीं शताब्दी में रोम-साम्राज्य की सीमाओं के पार से आव्रजकों की एक दूसरी लहर दबाव डालने लगी और विसी-गाथ, ट्यूटन, वंडाल, फ्रैंक तथा अन्य लड़ाकू जातियों ने रोम की किलाबन्द सीमाओं से टकराना आरम्भ कर दिया। अन्ततः किलाबन्दी टूट गई और बर्बरों का बाढ़ महान साम्राज्य पर छा गई।

यूरोप के विभिन्न प्रदेशों में इन जातियों के बस जाने से उन प्रदेशों में जहाँ पूर्ववर्ती आर्य-जातियों ने अड्डा जमाया था, नए समाजों का जन्म हुआ। इन जातियों ने कबायली सरदारवाले राज्य स्थापित किए और अपने उन कुलीन साथियों की सहायता से, जो व्यक्तिगत वफादारी की भावना से सम्बद्ध थे उस भूक्षेत्र पर शासन किया। उनके संगठन का स्वरूप ही ऐसा था कि वे युद्ध विजय और विस्तार की ओर प्रवृत्त हुए।

इस देशान्तरण ने हर प्रदेश को प्रभावित किया। इंग्लैण्ड में ऐंगल और सैक्सन फ्रांस में फैंक, स्पेन में विसी-गाथ, उत्तरी इटली में लम्बाड, नीदरलैण्ड में बेल्गे तथा बल्कान देशों में आस्ट्रो-गाथ आकर बसे। इनके बस जाने से एक नया यूरोप सामने आया—वह यूरोप, जिसमें पवित्र रोमन शान्ति का स्थान निरन्तर चलनेवाले कबायली युद्धों ने ले लिया।

लेकिन छठी शताब्दी से शान्ति का क्षेत्र विकसित होने लगा। कबीले बस गए और संगठित हुए। ईसाई धर्म और लैटिन संस्कृति फैली। आठवीं शताब्दी में चार्ल्स महान ने एक साम्राज्य की स्थापना की, जिसने रोमन साम्राज्य की स्मृतियों को हरा कर दिया। पूरब में कुस्तुन्तुनिया उस अन्य साम्राज्य की राजधानी बना जिसने एशिया माइनर के एक बहुत बड़े भाग को अपने अधिराज्य में ले लिया।

तब, इस दूसरे यूरोप को एक विध्वंसात्मक शक्ति का सामना करना पड़ा। जंगली, भयानक और असभ्य उत्तरी जातियाँ स्कैण्डिनेवियन देशों से, सगर्व मगियार खानाबदोश पूरब से और सभ्य मुसलमान उत्तरी अफ्रीका से आकर प्रकट हुए।

उत्तरी जातियाँ—नार्वेजियन स्वीड और डेन लोगों ने ब्रिटेन और फ्रैंक साम्राज्यों पर विजय-अभियान किए। ये लोग साहसी और निपुण मल्लाह थे। नदियों के मुहानों में प्रवेश करके जल मार्गों पर चलते हुए वे राज्यों के केन्द्र तक घुस आए। मगियारों ने—जिनके तेज घोड़ा और अचूक धनुर्विद्या न जो भी सामने आया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया—कारपेथियन पहाड़ों को पार करके मध्य-जर्मनी और उत्तरी इटली को तहस-नहस कर डाला। अन्ततः ये पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्यों के बीच एक भाग घेर कर हंगरी में बस गए।

मुसलमान, जो पूरे उत्तरी अफ्रीका को खलीफा के आधिपत्य में ले आए थे आठवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पेन को पार करके प्रायद्वीप को रौंदते हुए दक्षिणी फ्रांस तक घुस आए। इन्होंने बाइजन्टाइन साम्राज्य के देशों पर भी दबाव डाला।

नौवीं और दसवीं शताब्दियों का इन घुसपैठों और देशान्तरणों ने यूरोप पर बहुत गहरा असर डाला। ब्रिटेन में एंग्लो-सैक्सन और यूरोप में कारोलिंजियन सरकारों के नष्ट हो जाने से जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा की समस्याएं बहुत उग्र हो उठीं। सैनिक भूमि-पट्टों तथा सामन्ती समझौता एवं कनिष्ठों से परस्पर-बंधे संरक्षकों और संरक्षितों, लार्डों और कामगारों का एक द्विमुखी समाज दूसरे यूरोप के खंडहरों पर उठ खड़ा हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी तक तीसरा यूरोप अस्तित्व में आया। इसका निरन्तर अविच्छिन्न विकास तब तक होता रहा, जब तक राष्ट्र राज्यों का आधुनिक यूरोप पल्लवित नहीं हो गया।

भारत का इतिहास इससे भिन्न रहा है। आर्यों के भारत-आगमन से पहले यह देश बहुत छितरा कर बसा हुआ था और उसके मैदानों तथा पठारों के विशाल क्षेत्र घने जंगलों से ढके थे। इन प्रदेशों के निवासी विभिन्न भाषाएं बोलते थे और उनकी शारीरिक विशेषताएं भी विभिन्न थीं। उनकी भाषाएं मंगोल, आस्ट्रेलायड और द्रविड-परिवारों से सम्बन्ध रखती थीं।

आर्यों के देशान्तरण ईसा-पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी में घटित हुए। आर्य कहां से आए, यह पूरी तरह निश्चित नहीं है। डेन्यूब के निचले भाग से लेकर आक्सस के ऊपरी हिस्सों के बीच के विशाल प्रदेशों के विभिन्न अंश उनका मूल निवास-स्थान होने का दावा करते हैं। अपनी यात्रा में उन्होंने किन मार्गों का अनुसरण किया, यह भी निश्चित रूप से बता सकना सम्भव नहीं है।

जो नदियां पश्चिम से बह कर सिन्धु में गिरती हैं, उनकी घाटियों में से होकर वे भारत में प्रविष्ट हुए। बहुत लम्बे समय तक वे सरस्वती के तटों पर टिके रहे। उनके पवित्र साहित्य में इस नदी को एक विशेष पावनता प्राप्त है। वे ज्यों-ज्यों उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी प्रदेशों से आगे बढ़े, उनके कबीलों और दलों ने सिन्धु-गंगा के मैदानों में छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिए। लेकिन जैसे-जैसे वे अपने मूल स्थान से आगे बढ़ते गए, वैसे-वैसे उनकी संख्या कम होती गई और सामूहिक देशान्तरण छोटे-छोटे दलों के नेतृत्व में किए जानेवाले विजय-अभियानों में बदल गया। अन्ततः आर्य-संस्कृति की सर्वोच्चता पूरे भारत पर स्थापित हो गई।

हर प्रदेश में आर्य और मूल निवासियों के सम्मिश्रण ने एक विशेष रूप धारण किया। सिन्धु-गंगा के मैदानों में पंजाब और राजस्थान पंजाबी और राजस्थानी बोलियां बोलनेवाले तथा समान शारीरिक विशेषतावाले लोगों के निवास-स्थान बन गए। मध्य देश और बिहार की उच्च जातियों का शारीरिक विन्यास एक समान है पर निम्न जातियां भिन्न हैं। इस प्रदेश में बोली जानेवाली भाषाएं हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी) की ही विभिन्न बोलियां हैं।

बंगाल में लोगों की शारीरिक विशेषताओं से पता चलता है कि उनमें मंगोल जाति का मिश्रण हुआ है किन्तु उनकी भाषा—बंगला—आर्य-परिवार की है।

प्रायद्वीप के उच्च भूमि गुजरात, मालवा, बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड में मिश्रित जातियों और निम्न जातियों के लोग रहते हैं। गुजरात की भाषा राजस्थानी से मिलती है, लेकिन

मध्यवर्ती भाग में हिन्दी की बोलियाँ मालवी, बुन्देली और बघेली बोली जाती हैं। छोटा नागपुर एक ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी प्रदेश है, जिसमें गहरी घाटियाँ बहुतायत से हैं। यह जंगलों से ढका है और अनार्य कबीलों के लोग बहुत बड़ी संख्या में यहाँ रहते हैं। इनका अपना कबायली संगठन और भाषाएँ हैं। इनमें संथाल, मुंडा, उराँव, हो और गोंड प्रमुख हैं। इनकी कुछ भाषाएँ द्रविड़ हैं और कुछ आस्ट्रेलायड अथवा मुंडा बोलियाँ हैं। इन कबायली लोगों की शारीरिक विशेषताएँ हैं, मध्याकारी सिर और चौड़ी नाक।

दक्खन का पूर्वी भाग तीन प्रदेशों में बँटा है—उड़ीसा, आन्ध्र और तमिलनाडु। उड़ीसा के लोगों की भाषा बंगला से मिलती-जुलती है। आन्ध्र के लोग तेलुगु बोलते हैं, जो द्रविड़ भाषा है। तमिल लोग, जो प्रायद्वीप के दक्षिणी भागों में रहते हैं, दो विशिष्ट किस्मों में बँटे हैं। सिर का आकार और विन्यास तथा चेहरे के नक्श इस विभाजन के आधार हैं। लेकिन दोनों ही तमिल भाषा बोलते हैं।

दक्खन के पश्चिमी भाग में महाराष्ट्र, कर्नाटक (कुर्ग, मैसूर, कनारा) और मालाबार का समुद्र-तट सम्मिलित हैं। महाराष्ट्रियों की भाषा आर्य है, लेकिन अपने शरीर विन्यास में ये पंजाब और राजस्थान से भिन्न हैं।

कन्नड़ भाषी लोग महाराष्ट्रियों से मिलते-जुलते हैं। उनमें भी उच्च और निम्न जातियों के बीच अन्तर है। कन्नड़ भाषा द्रविड़ है पर आर्य शब्द उनमें बड़ी संख्या में मिलते हैं।

मालाबार के निवासी लम्बे सिरवाले हैं और अपनी शारीरिक विशेषताओं में तमिल लोगों के अनुरूप हैं। उच्च जातियाँ नम्बूद्री ब्राह्मण और नायर निम्न जातियों और कबीलों की अपेक्षा अधिक लम्बी तथा गोरी हैं।

तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम द्रविड़-परिवार की भाषाओं की शाखाएँ हैं। इनके बोलनेवाले आर्य भाषाएँ बोलनेवालों के बाद दूसरा स्थान रखते हैं।

भारत में आबादी का वितरण दो बातें स्पष्ट करता है। प्रथम यह कि भौगोलिक विभाजन नृवंशीय किस्मों के समानान्तर हुए हैं। लगता है, पहले और बाद के निवासियों के मिश्रण ने उस समय की कम-अधिक स्थिर अवस्थाओं में विशिष्ट किस्मों को जन्म दिया जिनमें प्रत्येक ने अपनी विशिष्ट भाषा विकसित कर ली। हर प्रदेश ने अपनी विशेष भाषा के साथ-साथ एक-न-एक प्रकार के स्थानीय रूप को निरन्तर बनाए रखा है।

तेरहवीं शताब्दी में भी अमीर खुसरो में इन भाषायी विभाजनों की चेतना दिखाई पड़ती है। उसने ग्यारह भाषाओं का उल्लेख किया है। इनमें तीन द्रविड़ हैं—धुर-समुद्री (कनारा), तिलंगी (तेलुगु) और माबरी (तमिल), सात उत्तर की आर्य भाषाएँ—सिंधी, कश्मीरी, गुजराती, गौरी (पश्चिमी बंगाल), बंगाली (पूर्वी बंगाल), अवधी (पूर्वी हिन्दी), देहलवी (पश्चिमी हिन्दी) और कुवरी (पहचानी नहीं जा सकी)।

अबुल फज़ल ने दस भारतीय भाषाओं का ज़िक्र किया है: कश्मीरी, सिन्धी, मुल्तानी (पश्चिमी पंजाबी), देहलवी (हिन्दी), बंगाली, मारवाड़ी (राजस्थानी), गुजराती, मराठी, तेलुगु और कन्नड़।

सोलहवीं शताब्दी में अकबर ने अपने साम्राज्य को एक आधार पर, जो उसे प्राकृतिक आधार प्रतीत हुआ होगा, प्रान्तों में बाँटा था। सिन्धु के मैदान को मुल्तान और ठट्टा में बाँटा गया था। लाहौर राजधानी के साथ पंजाब एक अलग प्रान्त था। राजस्थान

का केन्द्र अजमेर था। दिल्ली, आगरा अवध और इलाहाबाद में मध्य-देश आ जाता था। सुदूर पूर्व का मैदान बिहार-सहित बंगाल प्रान्त के रूप में संगठित था। केन्द्रीय उच्च भूमि का मालवा नामक भाग ही साम्राज्य में सम्मिलित था क्योंकि बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड स्वतन्त्र थे। पश्चिमी दक्कन का पठार और उसके समुद्र-तटीय प्रदेश अहमदाबाद (गुजरात) खानदेश और बरार के प्रान्तों में विभाजित थे।

औरंगजेब ने प्रान्तों का पुनर्विभाजन किया और साम्राज्य को इक्कीस प्रशासनिक इकाइयों में बाँटा। ये भारत के प्राकृतिक और भाषायी विभाजनों से बहुत अधिक मिलते जुलते थे। मुल्तान और लाहौर के प्रान्त पंजाब के दो भाग थे, जो पंजाबी की दो शाखाएं बोलते थे। दूसरे भाषायी प्रान्त थे—सिंधी भाषी ठट्टा राजस्थानी बोलनेवाला अजमेर हिन्दी भाषी दिल्ली आगरा, इलाहाबाद और अवध, बिहारी बंगला और उड़िया बोलने वाले बिहार बंगाल और उड़ीसा, मालवी बोलनेवाले मालवा और केन्द्रीय उच्च भूमि, गुजराती भाषी गुजरात तथा मराठी भाषी खानदेश बरार बीदर और बीजापुर।

इस प्रकार प्रादेशिक जन-वर्गों और उनकी भाषाओं की विशिष्ट प्रकृति को पूरे इतिहास के बीच मान्यता दी जाती रही है।

इन विभाजनों के पीछे एकता की एक अचेत स्वीकृति निश्चय ही रहा है। यह सच है कि विभिन्न प्रदेशों के निवासियों में विभिन्न तत्वों का मिश्रण हुआ। लेकिन विभिन्न मात्राओं में एक तत्व सदैव समान रूप से रहा और वह है आर्यत्व। आर्य-परिवार, वंश और कबीले विभिन्न संख्याओं में देश के विभिन्न प्रदेशों में जाकर बस गए थे और उन्होंने प्रादेशिक आबादियों पर अपनी छाप अंकित कर दी थी।

द्रविड़ तथा छोटी मोटी भाषाओं—उदाहरणार्थ मुण्डा आदि—के अतिरिक्त सभी भाषाओं का आधार आर्यों की भाषा बनी। लेकिन आर्य भाषा में भी अनार्य-तत्व रिस गए। सबसे बड़ी बात यह कि विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का विषय बड़ी दूर तक समान है क्योंकि उन सभी ने संस्कृत-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है। धार्मिक विश्वासों और आचारों तथा सभी प्रदेशों की सामाजिक प्रणालियों पर आर्य प्रभाव के चिह्न निर्विवाद रूप से अंकित हैं।

आर्यों के भारत में एक बार बस जाने और अपनी भाषा धर्म तथा सामाजिक प्रणालियों को देश भर में फैला देने के बाद हर प्रदेश में वहां के मिश्रित जनवर्ग की खास किस्म से प्रेरित होकर विभिन्न संस्कृतियां पनपीं। इन विभिन्नताओं के रहते हुए भी इन विविधताओं में कितनी ही बातें समान थीं।

यूरोप में जो-कुछ हुआ उसके विपरीत कबीलों का इतने बड़े पैमाने पर देशान्तरण इसके बाद यहां कभी नहीं हुआ जिससे प्रादेशिक बस्तियों अथवा लोगों के चरित्र और उनकी संस्कृतियां अस्त-व्यस्त होतीं। ऐसा नहीं है कि बाद के युगों में विदेशी भारत में नहीं आए लेकिन इन बाद में आनेवालों की संख्या इतनी बड़ी नहीं रही कि वह प्रादेशिक आबादियों के विन्यास में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देता।

आर्यों के आने के बाद शक (साथियन) यूची और हूण भारत में आए। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि जाट और गूजर जो सिन्धु-गंगा के मैदान के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में रहते हैं इन्हीं के वंशज हैं। कई लोगों का यह भी मत है कि राजपूतों का मूल इन्हीं विदेशी जातियों में खोजा जा सकता है। छठी शताब्दी में पश्चिमी भारत में अरब-आक्रमण की स्थापना से पूर्व ... जातियों का ... हुआ

को नहीं है, और छठी शताब्दी में उनका अचानक शक्तिशाली बन जाना इस धारणा की पुष्टि करता है।

लेकिन इन जातियों के वदेशिक उद्गम के सिद्धान्त में कितनी भी सचाई क्यों न हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनकी संख्या किसी भी प्रदेश में मूल निवासियों के किसी भी बड़े स्थानान्तरण की ओर अथवा सांस्कृतिक प्रणालियों या सामाजिक-आर्थिक रूपरेखाओं में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन की ओर संकेत नहीं करती।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के अंक (1901 की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार) हम उनकी संख्याओं का विवरण देते हैं। राजपूताने में राजपूत पूरी आबादी का 6 4 प्रतिशत थे, जाट 8 7 प्रतिशत और गूजर 4 8 प्रतिशत। पंजाब में राजपूत 7 4 प्रतिशत थे, जाट 19 5 प्रतिशत (इस संख्या में मुसलमान, हिन्दू, सिख जाट शामिल हैं) और गूजर 1 [illegible] प्रतिशत। उत्तर प्रदेश में, जो इन जातियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण गढ़ है, विवरण इस प्रकार था—राजपूत 8 3 प्रतिशत, जाट 1 9 प्रतिशत और गूजर 0 69 प्रतिशत।

इसी रिपोर्ट के अनुसार इन प्रान्तों में राजपूतों, जाटों और गूजरों की अधिकतम संख्या इस प्रकार थी :—राजपूताना में पूरी 97,00 000 की आबादी में 6 20 000 राजपूत, [illegible] 50 000 जाट और 4,60 000 गूजर; पंजाब में पूरी [illegible] 48 00 000 की आबादी में 19 00 000 राजपूत, 50 00 000 जाट और 7 40 000 गूजर थे, उत्तर-प्रदेश के 4 66 70 000 निवासियों में 34,00 000 राजपूत और 7,80 000 गूजर थे।

इन तीन वर्गों के जातीय स्वरूप के बारे में विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि ये एक ही आर्य शरीर-वंश से सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिम भारत के कितने ही स्थानों को गूजरों ने अपने नाम दिए हैं, तथापि उनका सबसे पहला राज्य जोधपुर में स्थापित हुआ था। यहीं से वे उत्तर प्रदेश में फैले और उन्होंने गूजर प्रतिहार-साम्राज्य स्थापित किया। यह सम्बद्धता प्रतिहार राजपूतों के साथ गूजरों की एकरूपता की ओर संकेत करती है। गूजरों के कुछ वंशीय नाम वही हैं जो राजपूतों के हैं और उनके शारीरिक नाक-नक्श भी एकसमान हैं।

जहां तक जाटों का सम्बन्ध है, वे राजपूतों के छत्तीस प्राचीन वंशों में सम्मिलित हैं। जाटों का अपना दावा यह है कि वे यदु-वंश (एक राजपूत कबीले) से सम्बन्धित हैं। इबटसन कहता है : उनके लगभग एकसमान शरीर-विन्यास और नाक-नक्श तथा उनके बीच हमेशा से विद्यमान गहरे सम्बन्ध—इन दोनों बातों को देखते हुए कम-से-कम इतना अत्यधिक सम्भव है कि वे एक ही नस्ल से सम्बन्ध रखते हों।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल में तीनों वर्ग एक ही जाति से सम्बन्ध रखते थे। राजपूतों के जाटों के स्तर तक गिर जाने और जाटों के राजपूतों के स्तर तक उठ जाने के विवरण उनके रक्त-सम्बन्ध को सूचित करते हैं। यह सुविदित है कि जाति प्रथा अतीत में उतनी सख्त नहीं थी, जितनी आज है और इसकी सम्भावना है कि इन तीनों जन वर्गों की संख्याएं अन्य वर्गों के इनमें घुल मिल जाने से इतनी बढ़ गई हों।

1 डी० इबटसन, 'पंजाब कास्ट्स', लाहौर, 1916 (भाग 3, 'द जाट, राजपूत ऐण्ड एलाइड कास्ट्स'), पृष्ठ 100

इसलिए यह प्रकट होता है कि राजपूत गूर्जर और जाट एक ही जाति के हैं और इनमें विद्यमान अन्तर सामाजिक अधिक और नृवंशीय कम है। उनकी संख्या और पूरी आबादी में उनका प्रतिशत इस सम्भावना की ओर संकेत करता है कि उन्होंने छोटे छोटे दलों में भारत में प्रवेश किया और इसलिए अपना विशिष्ट शरीर विन्यास (यदि था तो) अपने वंशजों को देने में वे विफल रहे।

किन्तु इस धारणा के विरोध में कि वे उन आक्रमकों से सम्बन्ध रखते थे जो सीथियनों के साथ भारत में घुस आए थे (कुषाणों ने पहली और दूसरी शताब्दियों में भारत में एक साम्राज्य निर्मित किया था) अथवा वे उन हूणों में से थे, जिन्होंने पाँचवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण किया था, सबल तर्क उपलब्ध हैं।

जहाँ तक कुषाणों का सम्बन्ध है सिंधु के उस पार काबुल की घाटी में और ट्रान्स आक्सियाना में उनका घर था। उनके राजाओं ने कश्मीर और उत्तर पश्चिम भारत पर अपना राज्य स्थापित किया था। लेकिन भारत के किसी भी प्रदेश में उनके बड़ी संख्या में बस जाने का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। वास्तव में, सीथियनों का प्रधान दल तो पश्चिम की ओर ईरान और उससे भी परे, चला गया था। केवल एक दल (कुषाण) अफगानिस्तान में रह गया था, जहाँ उसके सरदार गुप्त राजाओं-द्वारा उनके भारत से निकाले जाने के बाद भी शासन करते रहे।

हूणों अथवा श्वेत एफ्थेलाइटों का भारत पर बड़ा अल्पकालीन आधिपत्य रहा। उनके दो राजाओं, तोरमाण और मिहिरगुल, ने भारत पर आक्रमण किए पर अन्ततः मालवा के राजा यशोधर्मन और गुप्त वंश के बालादित्य ने उन्हें बाहर खदेड़ दिया। जब आक्सस नदी-तट पर पारसियों और तुर्कों ने उन्हें करारी मात दी तब उनकी शक्ति पूरी तरह नष्ट हो गई। यह संदिग्ध है कि यदि उनकी जाति के किसी बड़े दल ने पंजाब अथवा राजस्थान के इलाकों पर अधिकार कर लिया होता तो उन्हें इतनी तेजी से निकाल बाहर करना सम्भव होता।

पंजाब और राजस्थान के प्रदेशों में बसनेवाले लोगों की संघटना इस धारणा की पुष्टि नहीं करती कि कोई विदेशी नृवंशीय दल यहाँ आकर बस गया था। पंजाब राजस्थान और पश्चिमी उत्तरप्रदेश की उच्च जातियों की शारीरिक विन्यास इतनी एक सी है कि बड़े पैमाने पर मिलावट की सम्भावना समाप्त हो जाती है। घुर्ये का कहना है कि राजपूतों का श्वेत हूणों से सम्बन्धित होने का अनुमान सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये लम्बी खोपड़ीवाले हैं, जब कि हूण छोटी खोपड़ीवाली जाति थी।[1]

हूणों के निष्कासन के 600 वर्ष बाद तक की अवधि में कोई गम्भीर घुसपैठ नहीं हुई। तब ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी के नेतृत्व में अफगानों और तुर्कों ने भारत में प्रवेश किया। इस हलचल के परिणामस्वरूप भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई। बारहवीं शताब्दी के अन्त से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मुसलमान सम्राट भारत के अधिकांश भाग पर राज करते रहे।

इस्लाम के प्रभाव ने भारतीयों के सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन उपस्थित किए। धर्म विचार भाषा साहित्य कला शिल्प, चित्रकला और संगीत को इसने प्रभावित

1 जी० एस० घुर्ये, 'कास्ट ऐंड क्लास इन इण्डिया' (नया संस्करण, 1937), पृष्ठ 128,29

किया। भारत की संस्कृति पर इसका प्रभाव गहरा और व्यापक सिद्ध हुआ। लेकिन जहां तक सामाजिक-आर्थिक ढांचे का सम्बन्ध है, उसमें बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ। कबीला और जातियों की हिन्दू प्रणाली तथा परिवार और जाति के मूल सम्बन्धों को निश्चित करनेवाला हिन्दू-कानून बहुत थोड़ा बदला। इसके विपरीत, स्वयं मुसलमान हिन्दुत्व से प्रभावित हुए। जातियों का विभाजन, विवाह के रीति-रिवाज और उत्तराधिकार के नियम, जो हिन्दुओं में प्रचलित थे, इस्लाम ग्रहण कर लेने के बाद भी चालू रहे।

इन छः सौ वर्षों में भारत प्रवेश करनेवाले मुसलमानों की संख्या बड़ी नहीं थी। विजेताओं की सेनाओं और उनके शिविर के साथ चलनेवाले लोगों को छोड़ कर बहुत थोड़े-से विद्वान, कवि, व्यापारी, साहसिक तथा कुछ दण्ड प्राप्त अफसर और सरदार भारत की ओर मुड़ आए थे। भारत आनेवाले मध्य और पश्चिमी एशिया के मुसलमान नवशीय दृष्टि से उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासियों से शायद ही भिन्न थे। उनकी संख्या इतनी नहीं थी कि वे देश के जातीय, आर्थिक और सामाजिक जीवन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन ला पाते।

इस प्रकार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में आर्यों के देश-परिवर्तन के समय से अठारहवीं शताब्दी तक समाज की नवशीय नींव में कोई प्रचण्ड अथवा क्रान्तिकारी संशोधन नहीं हुआ। सांस्कृतिक परम्परा की धारा में बाहर की कितनी ही उपधाराएं आकर मिलीं, लेकिन वह अपनी मूल प्रकृति को खोए बिना लगातार बहती रही।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि समय निश्चल रहा। परिवर्तन अनिवार्य था। हां, भारत में परिवर्तन धीमे और सीमित रूप में अवश्य हुआ। गहरे जल में उसने कठिनाई से ही हलचल पैदा की। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इतिहास के सारे उलट-फेरों के बीच जीवन की सामाजिक-आर्थिक नींव दृढ़ता से स्थिर रही।

भारतीय संस्कृति की निरन्तरता के प्रमाण बहुत-सारे हैं। जैसा कि बाबर ने प्रमाणित किया है, मध्य-युगों में जीवन की एक 'हिन्दुस्तानी प्रणाली' पूरे भारत में विद्यमान थी। भौगोलिक प्रदेशों में इस हिन्दुस्तानी प्रणाली की अगणित किस्में पनप रही थीं। लेकिन वे संस्कृति की प्रमुख धारा की ही विविधताएं थीं, अर्थात् हिन्दुस्तानी प्रणाली की ही शाखाएं थीं।

भारत में यदि कमी थी, तो सामाजिक और राजनीतिक एकता की चेतना की। जिन अवधियों में पूरे देश पर एक राजनीतिक प्रणाली का शासन रहा, उस समय भी सामाजिक समुदाय के भाव और एक सामान्य सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता की सदा कमी रही। न तो सांस्कृतिक एकरूपता और न ही राजनीतिक प्रभुसत्ता भारत को दलों, समाजों और जातियों में विभाजित करनेवाले अवरोधों को तोड़ने में सफल हो सकी। जो दो संस्थाएं एकीकरण का अटूट विरोध करती रहीं, वे थीं जाति और ग्राम।

4 जाति

जाति और ग्राम की प्रमुख विशेषताएं थीं सामाजिक अचलता, खण्डीकरण और आत्मनिर्भरता। इनके माध्यम से पृथकतावाद ने इतनी गहरी जड़ें जमा लीं कि राजनीतिक विप्लव, राजवंशों के परिवर्तन, विजेताओं के आगमन और प्राकृतिक विपत्तियां भी इस प्रणाली पर कोई छाप डालने में असमर्थ रहीं।

जाति एक अत्यन्त संश्लिष्ट और अपरिवर्तनीय सामाजिक परिस्थिति है। यद्यपि इस पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है तथापि इसके कितने ही पक्ष अभी अंधकार में हैं। इन विशिष्टिताओं का असंदिग्ध विवेचन कठिन है। इस बारे में जो-कुछ भी कहा जाए, उसे चुनौती दी जा सकती है, क्योंकि वह त्रासद अन्तर्विरोधों से भरी है। पर यह परिस्थिति जो सभ्यताओं के इतिहास में लगभग अद्वितीय है, अपना अस्तित्व रखती है, और सभी मामलों पर इसके गहरे प्रभाव को समझे बिना तथा इसकी विशिष्ट प्रकृति और घबड़ा देनेवाली शाखा प्रशाखाओं का ज्ञान प्राप्त किए बिना भारत के अतीत को समझना और उसके भविष्य की कल्पना करना असम्भव है।

जाति के बारे में एक अजीब बात यह है कि इसका अस्तित्व द्वैतात्मक है। एक ओर तो जाति प्रथा का सैद्धान्तिक स्वरूप है जिसे हिन्दुओं के धार्मिक विधि-साहित्य अर्थात स्मृतियों धर्मशास्त्रों एवं उनकी टीका टिप्पणियों में विनियमित किया गया है। दूसरी ओर वर्गों और उपवर्गों का वास्तविक जंजाल है जिसका तथ्यात्मक विवरण साहित्यिक और अन्य विभिन्न सूत्रों से इकट्ठा किया जा सकता है। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात यह है कि इस उलझी हुई और पेंचदार गुत्थी का पूरा स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में जनगणना का कार्य आरम्भ होने के बाद ही प्रकट हुआ।

जाति एक प्राचीन संस्था है क्योंकि इसके लगभग सभी अवयव वेदों में मिलते हैं। जाति कबीला वर्ग, धन्धा विश्वास और आचार—इन तत्वों ने मिल कर इसका निर्माण किया है। ऋग्वेद में वर्णित आर्यों के समाज में जातीय चेतना गोरे रंग और बढ़िया ऊंची नाकवाले आर्यों तथा काले रंग और दबी हुई नाकवाले अनार्यों, दासों अथवा दस्युओं के बीच दीख पड़ती है। वेदों में कितने ही आर्य और कुछ अनार्य कबीलों का उल्लेख है जो बाद के इतिहास में परस्पर मिल कर जातियां बन गए। ब्रह्म यानी पुरोहिती का काम क्षेत्र अथवा सैनिक शक्ति, विश अर्थात उत्पादक और आर्थिक कर्म करनेवाले—इस त्रिविध विभाजन को मान्यता दी गई है। यह विभाजन ईरान के आर्यों में किए गए ऐसे ही विभाजन अथर्वन रथेस्तर, वस्त्रीय फशुयन्त (पुरोहित, सैनिक और किसान) से मिलता जुलता है। चौथा वर्ग, अर्थात् शूद्र, ईरान के हुइती हैं। पहले तीनों में आचार का अन्तर था। क्षत्रिय राजकीय यजमान था, जो धर्म क्रियाओं के माध्यम से दिव्य तत्व से एकरूपता की आकांक्षा रखता था। ब्राह्मण पुरोहित था, जो धर्म क्रियाओं की पद्धति और उसके निर्णय निर्वाह में निपुण था। वैश्य राजा का अनुचर था जो राजकीय उत्सवों में भाग लेता था और भूमि की उपज एवं पशु देकर यज्ञ को पुष्ट करता था।

इन आरम्भिक युगों में ये विभाजन रूढ़ होकर जातियां नहीं बन गए थे। इन चार वर्णों के अतिरिक्त ऋग्वेद में जीविका और काम धन्धों से सम्बन्धित कितने ही वर्गों का वर्णन है—जैसे नाई, बढ़ई बढ़ लुहार और चमकार। इष्ट—आस्था और आचार की भिन्नताओं पर आधारित विभेदों का भी यहां जिक्र है। यथा बर्हिस्मत (होता) है दास अव्रत (विधिशून्य) अक्रतु (आचारशून्य) और मृध्रवाच (दुष्ट वाणीवाला) है।

जैसे-जैसे समय बीता विभाजन रूढ़ होते गए। आरम्भ के युगों में वंशानुक्रम के सिद्धान्त का बहुत थोड़ा महत्व था। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकते थे और क्षत्रिय ब्राह्मण। एक क्षत्रिय राजा के बेटे देवापि ने पुरोहित का कर्म अपना लिया था। ऐसे परिवर्तनों के कितने ही उदाहरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। ब्राह्मणों के शासक और योद्धा

होने के भी बहुत-से दृष्टान्त हैं। द्रोण, अश्वत्थामा और कृप ब्राह्मण योद्धा थे। नंदों के बाद आनेवाले शुंग और कण्व राजवंश ब्राह्मण थे। राजपूतों ने अपने बारे में अग्निवंश 'ब्रह्मक्षत्र' तथा 'क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्णों को दूर करनेवाला' बतलाया दिया है।

लेकिन इन सब तथ्यों के रहते हुए भी लेखकों ने जाति की अपरिवर्तनीयता के विचार का समर्थन किया। उन्होंने हर जाति का उद्भव आदिपुरुष के एक विशेष अंग से हुआ बतलाया गया है। जब एक बार सिद्धान्त बन गया कि जाति जन्मना है तब भारत के सिद्धान्त और व्यवहार पर इसका असर स्थायी बनता गया और विद्वान के हर आने वाले युग में भारत पर निरन्तर दिव्य 'जन्म' की तरह इसके प्रभाव का गया।

जाति के उद्भव की व्याख्या के लिए ब्राह्मण सिद्धान्तवादियों ने एकमात्र तत्व जन्म का पकड़ा और उसी के आधार पर तथ्यों का अनुमान का प्रयत्न किया। समान जाति के सदस्यों के बीच हुए विवाह से उत्पन्न बच्चा जाति का सदस्य बनता था और उसकी शुद्धता का बना रहता था। लेकिन विवाह में जिसमें पिता उच्च जाति का होता था और माँ निम्न जाति की (अनुलोम विवाह) उत्पन्न बच्चे शायद ही पिता के समाज स्तर से निम्न मान जाते थे। लेकिन जब एक निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की स्त्री से विवाह (प्रतिलोम) करता था तब सन्तति का समाज-स्तर माता पिता में प्रत्येक से नीचा माना जाता था।

चूंकि इस प्रकार के विवाहों में अनगिनत क्रम-परिवर्तन और संयोजन हो सकते थे, इसलिए वे कितनी भी बड़ी संख्या में जातियों और उपजातियों को जन्म दे सकते थे। विधिवेत्ताओं ने सोचा कि जातियाँ इसी प्रकार उत्पन्न हुई लेकिन उन्होंने हर जाति को स्थायी रूप से एक अलग काम अथवा पेशे से बांध देने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, समाज का और उसके संघटक अवयवों का एक अपरिवर्तनीय ढांचा तैयार हो गया। यह सैद्धान्तिक प्रणाली लोगों के मन में दृढ़ हो गई और तथ्य कितने ही दुराग्रही क्यों न हों उन्हें इसी तन्त्र में ढालने का प्रयत्न किया जाने लगा।

इस सिद्धान्त का मनु और धर्मशास्त्र के अन्य लेखकों ने विस्तार दिया तथा इसका प्रभाव निरन्तर बद्धमूल रहा, यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी में 'जाति विवेक' और 'शूद्र कमलाकर'-जैसी पुस्तकों में भी जाति प्रथा के उद्भव और विकास के विषय में परम्परागत प्रणाली को अपनाया गया।

इन धर्म-लेखकों का मत है कि जाति जन्म से निश्चित होती है, क्योंकि उपजातियों और भ्रष्ट जातियों की बहुसंख्या का कारण है उच्च जातीय पुरुष और निम्न जातीय स्त्री के बीच विवाह का प्रचलन, कि हर जाति का अपना स्थिर पेशा है यद्यपि कुछ परिस्थितियों में विशेषकर विपत्ति के समय, दूसरा धंधा अपनाने की अनुमति है, कि जाति ने खाने पीने की स्वतन्त्रता पर बंधन लगाए हैं और यह एक दृढ़ सामाजिक व्यवस्था है जो समाज के सोपानिक क्रम में जाति अथवा उपजाति की स्थिति और उसके स्तर को निर्दिष्ट करती है।

लेकिन यदि सिद्धान्त का उलझाव हटाकर तथ्यों पर विचार किया जाए, तो लोगों का दलों और वर्गों में वास्तविक विभाजन धर्म-शास्त्रीय लेखों के वर्णन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा हुआ है।

पी० वी० काणे के अनुसार पवित्र पुस्तकों में उल्लिखित जातियों की संख्या 172

है।[1] लेकिन जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत के प्रत्येक भाषायी प्रदेश में लगभग 200 जातियां और 2 000 उपजातियां हैं और पूरे भारत में 800 से अधिक बड़ी जातियां और 5,000 से अधिक छोटे वर्ग हैं। अब, पवित्र पुस्तकों ने जिस प्रमुख तथ्य की उपेक्षा कर दी है वह है आबादी के जातीय रचना क्रम में प्रादेशिक विभिन्नताओं का अस्तित्व। जो अकेली जाति पूरे भारत में समान रूप से पाई जाती है वह है ब्राह्मण-जाति। राजपूत, जिन्हें विधि-पुस्तकों के क्षत्रिय-वर्ण का प्रतिनिधि माना जा सकता है, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और केन्द्रीय उच्च भूमि तक सीमित हैं। मुट्ठी भर राजपूत पूर्वी भारत और दक्खन में बिखरे हैं। फिर औद्योगिक, कृषि अथवा व्यापारिक कामों में लगी जातियों के नाम और उनकी स्थितियां विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न हैं। निम्नतम स्तर पर कुछ जातियां सामान्य हैं पर कुछ एकदम भिन्न हैं।

जो बात और भी महत्वपूर्ण है वह है उच्च और निम्न जातियों का वितरण। श्रेष्ठ जातियों (ब्राह्मण और राजपूत) अथवा शुद्ध जातियों (जिनसे श्रेष्ठ जातियां जल ग्रहण कर लें) और अशुद्ध जातियों (अछूत अथवा बाह्य जातियां[2]) का अनुपात जैसा कि नीचे की तालिका[3] से स्पष्ट है प्रान्त प्रान्त में भिन्न है।

	हिंदू	ब्राह्मण	राजपूत	अन्य
	लाख में	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
असम	30 6	3 9	0 3	95 8
बंगाल	454 5	6	3	91
बम्बई	178 3	5 6	2 5	92
मध्य प्रान्त	87	4 1	2 6	93 3
मद्रास	285	4	05	95 95
पंजाब	9 25	3	4	93
उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त	385 5	12	8	80
मध्य भारत	78	12	10 4	77 6
राजपूताना	92	9 8	5 2	85
भारत	1 880	7	3 8	89 2

जहां तक अछूतों का सम्बन्ध है, आंकड़ों से पता चलता है कि सन 1931 में वे भारत की पूरी आबादी के 14 प्रतिशत और कुल हिन्दुओं के 21 प्रतिशत थे। बम्बई में इनकी प्रतिशत संख्या सबसे कम थी—11 प्रतिशत, और असम में सबसे अधिक—37 प्रतिशत।[4] इसके अतिरिक्त हर प्रदेश की अपनी विशिष्ट अछूत जातियां थीं यद्यपि चमार पूरे भारत में बिखरे हुए थे।

निस्सन्देह ये सब बहुत बाद की तिथि के हैं क्योंकि अठारहवीं शताब्दी के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन इनमें मोटे रूप में उस शताब्दी के हिन्दू-समाज की स्थिति का

1 पी० वी० काणे, 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 71
2 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1931, खण्ड 1, भाग 1, पृष्ठ 471
3 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1881 खण्ड 2 (आबादी के आंकड़े), पृष्ठ 240-41
4 'सेन्सस आफ इण्डिया रिपोर्ट', 1931, खण्ड 1, भाग 1, पृष्ठ 494

पता लग सकता है। आबादी में स्वाभाविक वृद्धि और ह्रास के साथ सम्पूर्ण संख्याएं बदल जाती हैं। लेकिन जब तक सुस्पष्ट कारण न हो सम्बन्धित प्रतिरूप के बदलने की सम्भावना नहीं होती।

कुछ दूसरी प्रादेशिक विशिष्टताएं भी थीं। जातियों में सामाजिक पूर्वता का क्रम समान नहीं था। दक्षिण में कम्मालन जाति ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती देती थी। बंगाल में कायस्थ शूद्रों में गिने जाते थे लेकिन बिहार और उत्तरप्रदेश में वे द्विज माने जाते थे। महाराष्ट्र में कायस्थ (प्रभु) स्वयं को क्षत्रियों से उत्पन्न मानते हैं। इस प्रकार के अन्तर दूसरी जातियों में भी पाए जाते हैं। विवाह की निषेध-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली रीतियां और प्रथाएं भी अलग-अलग हैं। कुछ प्रदेशों में विज्ञानेश्वर के 'मिताक्षरा' में उल्लिखित नियम प्रचलित हैं जब कि दूसरों में 'दायभाग' अथवा जीमूतवाहन को मान्यता है। सामाजिक अवरोध और असमताएं देश के सभी भागों में एक-सी नहीं थीं। छूने से अपवित्र होने का विचार जितना दक्षिण में विकसित हुआ, उतना उत्तर में नहीं। दक्षिण में यह माना गया कि अपवित्रता अछूत के शरीर में से फूटती है। इसीलिए उसकी छाया से भी बचा गया। तमिलनाडु और मालाबार में तो ठीक दूरियां निश्चित कर दी गईं, जो अशुद्ध जातियों और उच्च जातियों के बीच रखी जाती थीं, कुओं तालाबों और नदियों तक के प्रयोग में छूने से अपवित्र होने का विचार प्रचलित था। मन्दिर प्रवेश वर्जित था। देश के अधिकांश भागों में अशुद्ध जातियों के घर अलग होते थे। लेकिन कुछ प्रदेशों में ग्राम और नगरों में हर जाति के लिए एक विशिष्ट भाग निर्दिष्ट कर दिया जाता था।

एक जाति-द्वारा दूसरी जाति के हाथों का पका हुआ भोजन स्वीकार किया जाना एक अन्य प्रादेशिक विषय है। पूर्व-बंगाल, गुजरात और दक्षिण भारत में कच्चा (घी के बिना पकाया गया) भोजन और पक्का (घी से पकाया गया) भोजन में कोई अन्तर नहीं माना जाता। लेकिन दूसरे प्रदेशों में उच्च जातियों-द्वारा छोटी जातियों के हाथ से बनाया गया पक्का भोजन स्वीकार करना वर्जित नहीं है।

भारत के कुछ भागों में—उदाहरणार्थ मद्रास में—अब्राह्मण दो वर्गों में विभाजित थे दक्षिण और वाम। वाम के लिए 'जुलूस में घोड़े पर बैठ कर निकलना, विशेष चिह्न-वाले झंडे लेकर चलना और अपने विवाह-मंडप को बारह स्तम्भों पर आधारित करना वर्जित था।[1]

प्रादेशिक विभिन्नताओं के रहते हुए भी जाति की कुछ सामान्य विशिष्टताएं हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है सगोत्र विवाह की प्रथा। जाति सामाजिक वृत्त में उन सीमाओं को निर्धारित करती है जिनके भीतर ही विवाह सम्मत है और जिनके बाहर निषिद्ध है। लेकिन अधिकांश जातियां अनगिनत उपजातियों में विभक्त हैं। स्पष्टतः हिन्दू-मनीषा अपने ही सामाजिक वर्गीकरण में विशेष आनन्द लेती थी क्योंकि एक वर्ग को छोटे वर्गों में तोड़ देने के लिए कोई भी बहाना काफी होता था।

उपजातियां व्यावसायिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्रादेशिक आधारों पर बना ली जाती थीं। किसी जिले में व्यवसाय का अन्तर अथवा जीविका या निवास-स्थान का अन्तर एक नई उपजाति निर्मित करने के लिए एक विशिष्ट कारण बन जाता था।

---

1 जी० एस० घुर्ये 'कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया', पृष्ठ 13

वर्णसंकर सन्तान बहुधा उनकी संख्या को बढ़ाती थी। प्रथाओं की विशिष्टताएं और आचरण की विचित्रताएं भी विभाजन उत्पन्न करती थीं।

कितने ही विदेशी जाति प्रथा में सम्मिलित कर लिए गए। शाकद्वीपी ब्राह्मणों का सीथियन जाति से सम्बन्धित माना जाता है। माथ, नागर, बड़हद और हविक ब्राह्मणों का भी मूल शायद सिथिया में है। द्रविड़-ब्राह्मणों के मूल में भी शायद कोई जातीय तत्व हो। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण सिर के आकार, त्वचा और आंखों के रंग के विचार से पंजाब और उत्तरप्रदेश के ब्राह्मणों से भिन्न हैं। मुंडा, संथाल, उरांव और अन्य अनार्य आदिवासी अब जातियां बन गए हैं।

व्यवसायों के नामों पर आधारित जातियां और उपजातियां भी अनगिनत हैं—जैसे, अहीर, गूजर, जाट, मराठा, भील, डोम, गोंड। करण कायस्थ और राजपूत वर्णविहीन राजनीतिक जातियां हैं। पहले ये जातियां छोटे अधिकारियों का काम करती थीं और राजपूत सत्ताधारी थे। धार्मिक विषमताओं ने ऋग्वेदी, अथर्ववेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, एकनाथी, स्मार्त और वैष्णव ब्राह्मणों को जन्म दिया और लिंगायत, विश्नोई, गोरखपंथी, सतनामी तथा शाक्त-जैसी जातियों को जन्म दिया। अनेक उपजातियों के मूल में प्रादेशिक विभाजन है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों में कनौजिया, सरवरिया, सारस्वत, श्रीवास्तव, देशस्थ, नागर, ओसवाल, श्रीमाली, सोरठिया, राढ़ी और वारेन्द्र, बनजारे, वगैरह नाड़, बनारा, कम्मा, वल्लिग इत्यादि। वैश्यों और शूद्रों में भी नगर, ग्राम, जिला आदि के नाम पर अनगिनत उपजातियां बन गई हैं।

प्रथाओं की विशिष्टताएं और आचरण अथवा जीविका की विचित्रताएं ही इन जातियों के बनने के लिए उत्तरदायी हैं। पुरानिया अथवा जूथिया जो अहीर ग्वालों और बसोरों से पैदा हुई सन्तानें हैं, छगिया चमार जो पत्ते से बना एक हुक्का पीते हैं, सुवरा जो धीवरों की एक उपजाति है और सूअरों का काम करती हैं और बैतालिया जो गुजराती कुम्हारों की अवध सन्तानें हैं।

मुसहर (चूहे खानेवाले) एक निम्न आदिम उपजाति, भुलिया (भुलक्कड़) जुलाहों की एक उपजाति, दुबला (कमजोर) गुजरात के आदिम लोगों का एक वर्ग, बस्लार (चोर), तियान (दक्षिणवाले) और परिया (ढोलवाले)—इन सब उपवर्गों के नाम विभिन्न विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हैं।

जाति और उपजाति का दूसरा महत्वपूर्ण उपलक्षण धंधा है। कुछ नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार भारत का जातीय ढांचा धंधे पर आधारित है। चारों वर्दिक वर्ण कर्म प्रधान हैं। ब्राह्मण का काम है उपासना (ब्रह्म) और इससे सम्बन्धित सब कर्म, क्षत्रिय सत्ता (क्षात्र) के प्रयोग में नियुक्त हैं, वैश्य उत्पादक हैं और शूद्र का कर्म सेवा है।

इन चार वर्णों के अतिरिक्त जीविका-सम्बन्धी वर्ग सुदूरतम अतीत से ही विद्यमान रहे हैं। ये समाज विभिन्न जातियों और उपजातियां बन गए और इस प्रकार उन्होंने धंधों को जन्म के आधार पर निश्चित कर लिया। जीविका पर आधारित जातियां और उपजातियां अनेक हैं। आश्चर्य की बात यह है कि तानाशाह और पद्धति से छोटे छोटे समूहों ने उन्हें और भी छोटे टुकड़ों में विभाजित कर लिया है और उनके बीच विवाह-सम्बन्ध वर्जित हो गए हैं।

उदाहरण के लिए चमारों (चमड़े का काम करनेवालों) को लीजिए। उनकी शाखाएं बहुत-सी हैं। उनमें कितने ही ... कुछ प्रादेशिक, और शेष चमड़

के काम में विशिष्ट जातियां से सम्बन्धित। बुदलगीर चमड़े के पात्र बनानेवाले हैं, जीगर घोड़े की काठियां बनाते हैं और कटवे चमड़ा काटते हैं। इसी प्रकार धीवरा (मछियारों) में बसिये हैं जो बांस के डंडों से मछली पकड़ते हैं और बघड्ये हैं, जो रस्सी से अपनी बंसी बनाते हैं। माली (बागवानी करनेवाले) फूल उगानेवाले फूल-मालियों, जीरा उगानेवाले जीरा-मालिया और हल्दी उगानेवाले हल्दी-मालिया में बंटे हैं। भुने हुए चने बेचनेवाले (भुरिये), कत्था बनानेवाले (खैर), नमक साफ करनेवाले (लोहड), भेड़ पालनेवाले (भेड़े), भैंस पालनेवाले (भन्वे) गानेवाले (बंदन्तरी) सपेरे (मग-गरडी) आदि की कितनी ही उपजातियां हैं।

लेकिन जीविका की समानता को जाति का एकमात्र आधार मानना गलत होगा क्योंकि कितनी ही विभिन्न जातियां के धन्धे एक-से हैं और एक ही जाति के लोग विभिन्न धन्धे करते हैं। सामान्यतः जो बात सच है वह यह कि धन्धे वंशानुगत बन जाते हैं।

जाति प्रथा की तीसरी विशेषता यह है कि यह एक सोपानिक क्रम में वर्गों और उपवर्गों के स्तर को निर्धारित करता है। इस तरीके से अधिकारों और कर्तव्यों के साथ व्यक्ति की स्थिति निर्दिष्ट होती है। धर्म-पुस्तकों में कल्पित चतुर्वर्णीय विभाजन वास्तव में, व्यक्तियों और दलों के वर्गीकरण और स्तरीकरण का एक प्रयास है। सिवाय इसके कि सामान्यतः ब्राह्मण उच्चतम जाति और अछूत निम्नतम जाति के रूप में मान्य हैं भारत के विभिन्न प्रदेशों में बीच की जातियों और उनकी उपजातियां की संख्या तथा उनकी सापेक्ष स्थिति एक-जैसी नहीं है।

जाति न केवल व्यक्ति के समाज-स्तर का निश्चित करती थी बल्कि उसके धार्मिक विश्वासों और आचरणों को भी प्रभावित करती थी। ब्राह्मण स्मार्तों शैवों और शाक्तों में तथा दक्षिण-वाम मार्गों पर चलनेवालों में विभक्त थे। क्षत्रियों में भी ऐसे ही वर्गीकरण थे। लेकिन इन मामलों में पारिवारिक परम्परा अथवा व्यक्तिगत झुकाव ही चुनाव का प्रमुख आधार रहता था। अछूत जातियों में देवता और देवियां (जैसे कि ग्रामदेवता) तथा उत्सव और अनुष्ठान कमोबेश वर्ग विशेष में विशेषीकृत थे। उपासना में विद्यमान ये विभेद जातियां और उनकी उपजातियों में उपस्थित अन्तर को और भी बढ़ा देते थे। इस प्रकार जाति और उपजाति के ढांचे में नागरिक और धार्मिक स्तर जीविका सामाजिक समागम विवाह और खानपान के नियम रूढ़ थे। नियम और कानून अंशतः धार्मिक विधि-पुस्तकों से लिए जाते थे तथा अंशतः प्रथा और परम्परा पर आधारित होते थे।

नियमों और जातीय निषेधों का पालन करवाने के लिए निम्न जातियों में एक स्थायी परिषद और मुखिया के अधीन एक उपसमिति होती थी। परिवारों के मुखिया अथवा बुजुर्ग और अनुभववान लोग इसके सदस्य बनते थे। इन परिषदों की एक समिति होती थी, जो इसकी कार्यवाहियों का निर्देशन और संचालन करती थी। साधारणतः यह पांच सदस्यों की एक छोटी-सी संस्था होता था जिसे 'पंचायत' कहते थे। पंचायत वादविवाद करने के लिए सभा तैयार करती थी और सभा की बैठक बात-की-बात में बुलवा सकती थी।

इस समिति का प्रधान मुखिया होता था जो वंशानुगत अथवा जीवन भर के लिए चुना हुआ होता था। उसकी स्थिति चौधरी या प्रधान या सरपंच होती थी। कभी-कभी वह उसके साथ दूसरे अन्य अधिकारियों—नायब दीवान मुख्तार आदि—का भी रहता था। समिति उसका पद व दूसरे सदस्य भी या तो वंशानुगत या जीवन भर के

लिए चुने हुए होते थे। लेकिन अक्सर जब आवश्यकता पड़ती थी तभी उन्हें चुन लिया जाता था। मुखिया के पद का चिह्न एक पगड़ी होती थी, जो नए चौधरी के सिर पर समारोहपूर्वक बांधा जाता था।

पंचायत का स्थायी सम्बन्ध स्थान विशेष—गांव कस्बे अथवा नगर, जिन जुहार, हाट अथवा चौपाड़ रहते थे—की समान विवाहवाली उपजाति से सम्बन्ध रखती थी। कभी-कभी दो या अधिक पंचायत मिल कर उपजातियों के पारस्परिक मामलों पर विचार करती थी, लेकिन पूरी जाति की कोई समिति अथवा पंचायत नहीं होती थी।

पंचायत का कार्यक्षेत्र सुनिश्चित था। 'जिन मामलों पर पंचायत विचार करती है वे हैं—जाति का सामाजिक प्रथा का भंग किया जाना, नैतिकता भंग के मामले जब जातीय नियम तोड़े गए हों, विशेष धार्मिक अपराध, पारिवारिक झगड़े जैसे कि दाम्पत्य सम्बन्धों की पुनर्स्थापना, विवाह के वचन का भंग अथवा पत्नी का उचित वय हो जाने पर भी उसे पति के यहां न भेजना। कभी-कभी ऐसे मुकदमे भी जो प्रत्यक्ष में कानून के अन्तर्गत आते हैं, चाहे वे दीवानी हों अथवा फौजदारी—जैसे, मारपीट अथवा ऋण, आदि—वह हाथ में लेती है। व्यापारिक झगड़ों से सम्बन्धित अभियोग तो अक्सर लिए जाते हैं।'[1]

पंचायत के निर्णयों को लागू करने के लिए प्रचलित दण्ड थे—जुर्माना, बिरादरी अथवा ब्राह्मणों के भोज का खर्च, अस्थायी अथवा स्थायी जाति निष्कासन, कभी-कभी तीर्थाटन भिक्षाटन अथवा किसी अन्य प्रकार के हेय कर्म का भी दंड दिया जाता था।

उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में जातीय प्रशासन का कोई स्थायी यन्त्र नहीं था। प्राचीन समय में राजा वर्णाश्रम धर्म (जाति और जीवन की अवस्थाओं के कानून) का संरक्षक होता था। मध्य-युग में हिन्दू राजाओं-द्वारा शासित प्रदेशों में जाति का संरक्षण राज्य का कर्तव्य माना जाता था। इसके बहुत-से दृष्टान्त उपलब्ध हैं—उदाहरणार्थ मराठा प्रशासन ने हस्तक्षेप करके जातीय कानून को लागू किया। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि शासन का कार्य-क्षेत्र उच्च जातियों से आगे नहीं बढ़ता था। ऐसे मामलों के सबूत बहुत थोड़े हैं, जब सरकार ने निम्न जातियों-द्वारा नियमों और परम्पराओं को लागू करने अथवा उनके भंग में कोई रुचि दिखाई हो।

तथ्य यह है कि भारत की राजनीति उन दिनों जाति प्रथा के आधार पर चलती थी। जाति प्रथा ने समाज को दो वर्गों में बांट दिया था : एक छोटा-सा कुलीनतन्त्र अथवा *शासक अल्पसंख्यक वर्ग, जिसमें उच्च जातियां सम्मिलित थीं, और दूसरा प्रायः जनता* अथवा सामगार-वर्ग (टायनबी के शब्दों में प्रोलेतारियत) जो निम्न जातियों से निर्मित शासितों का अत्यन्त बहुसंख्यक वर्ग था। शक्ति का एकाधिकार और इसी प्रकार ज्ञान का भी एकाधिकार प्रथम वर्ग के हाथ में था। ब्राह्मणों को शिक्षित-वर्ग का माना जाता था और शिक्षित व्यक्तियों को कानून और न्याय का संरक्षक तथा ऐसे प्रश्नों पर निर्णय देने में सक्षम समझा जाता था जिनके लिए कानून की धाराओं, कानूनी पद्धति और न्यायिक दण्डविधानों का ज्ञान आवश्यक हो।

1 ई० ए० एच० ब्लण्ट, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1911, खंड 15, आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त, भाग 1, रिपोर्ट, पृष्ठ 337

शास्त्री अथवा पण्डित की प्रतिष्ठा ही उसके आदेशों को लागू करने की पर्याप्त गारण्टी थी, क्योंकि जनमत अनिवार्यतः उसका साथ देता था।

न्याय-व्यवस्था (दीवानी लगभग पूरी तरह और फौजदारी अंशतः) ब्राह्मण का विषय था और जहां तक हिन्दू-समाज का सम्बन्ध है भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना तक यही स्थिति कायम रही। एक धर्मतन्त्र की अवस्थिति ने सामान्य जातीय मामलों अथवा व्यक्तिगत अपराधों पर विचार करने के लिए एक प्रतिनिधि अथवा सलाहकार सभा की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। लेकिन धार्मिक मेलों और त्योहारों—जैसे, हरिद्वार, प्रयाग आदि के महान् स्नान-पर्वों—के अवसर पर जातीय सभाओं के लिए मौका मिलता था। यह भी सम्भावना रहती थी कि बनारस-जैसे प्रसिद्ध धर्म-केन्द्रों के प्रमुख विद्वानों की सम्मति ली जाए।

ब्राह्मणों के कंधों पर भारी जिम्मेदारी थी। वे समाज के आध्यात्मिक और नैतिक हितों के लिए ही उत्तरदायी नहीं थे बल्कि सामाजिक पद्धति की निरन्तरता और उसकी संगति भी उन्हीं पर निर्भर थी। दुर्भाग्यवश, अपना कर्तव्य ठीक तरह निभाने में वे विफल रहे, यद्यपि दोष व्यक्तियों पर उतना नहीं आता, जितना पद्धति पर आता है।

जाति की सर्वप्रमुख विशिष्टता है, उसकी अनन्यता। हिन्दू सामाजिक पद्धति के सिद्धान्तवादी और पक्षपोषक उसके समर्थन में कुछ भी क्यों न कहें, पर उसने एकता पर उतना जोर नहीं दिया, जितना विच्छेद पर दिया। उसने समाज को वर्गों में तोड़ दिया, जिससे सामाजिक समन्वय में रुकावट पड़ गई। हर अवयव अपनी आणविक अनन्यता को लेकर जीवित रहा। जो सूत्र उन्हें परस्पर एक अटूट सम्पूर्णता में बांध सकते थे, वे बहुत थोड़े और कमजोर थे।

ब्राह्मण वैदिक धर्म के संरक्षक थे, लेकिन अन्य धर्मों के संरक्षकों के विपरीत, वे स्वयं को ही अपने धर्म का एकमात्र आचरणकर्ता और प्रचारक मानते थे। उसके सिद्धान्तों, नियमों और नीति शास्त्र के अध्ययन तथा उसके धर्माचारों और अनुष्ठानों के आचरण का दायित्व वे मात्र अपने ही ऊपर मानते थे—अन्य जातियां वैसा करती हैं या नहीं, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं थी। उन्होंने धर्म क्रियाओं और अनुष्ठानों के आचरण और धार्मिक नियमों की शिक्षा का प्रबन्ध भार जाति पर ही छोड़ दिया। पूजा और संस्कारों को सम्पन्न कराने का पुरोहिती कर्तव्य वही करते थे। ब्राह्मण इतने कट्टरपंथी थे कि सामाजिक नियमों अथवा उपासना-पद्धति में जरा-सा भी हेर-फेर सहन नहीं करते थे। परिस्थितियों एवं जनमत में आया परिवर्तन उनके विश्वासों और आचारों की रूढ़ता पर बहुत कम प्रभाव डाल पाता था। आध्यात्मिक विकास क्रम के सिद्धान्त का विकास करके और विभिन्न जातियों के लिए अलग-अलग मापदण्ड बना कर वे जनता के दबाव का मुकाबला करते थे।

वैदिक अनुष्ठान और यज्ञ ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे। दूसरी जातियों के लिए पुराणों का ही धर्म काफी था। पहले बौद्ध धर्म और बाद में इस्लाम की चुनौती का सामना पाकर महान आचार्यों ने प्रेम और भक्ति के दर्शन का विकसित किया। लेकिन उच्च जातियों के लिए भक्ति (प्रेम) रखी गई और निम्न वर्गों के लिए प्रपत्ति (समर्पण)[1]। ब्राह्मण आचार्यों ने व्यक्तिगत देवता राम अथवा कृष्ण की भक्ति पर जोर दिया। अन्य जातियों के सुधारकों और सन्तों ने—उदाहरणार्थ कबीर, नानक और दादू ने—सिखाया कि मुक्ति एक निर्गुण परमब्रह्म की कृपा चाहने में निहित है। पूर्ववर्ती लोग उपासना और समाज-संगठन के मामलों में रूढ़िवादी थे और परवर्ती लोग जाति प्रथा के कठोर आलोचक थे।

इस प्रकार उच्चतर धर्म और ज्ञान-मार्ग उन उच्च जातियों के एकाधिकार में आ गया था, जिनका काम अध्ययन और अध्यापन था। लेकिन दूसरों को अन्धविश्वास और अज्ञान में ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया गया था। नैतिकता और धर्म के मामलों में एक समान मापदंड बनाए रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था।

इससे भी बुरी बात यह कि हिन्दू धर्म से अलग होनेवालों की समस्या के सामने ब्राह्मण ने पूरे दिवालियेपन का सबूत दिया। धर्म-परिवर्तन के कारणों की ओर इसने कोई ध्यान नहीं दिया। पतितों और पददलितों के प्रति इसने कोई सहानुभूति प्रकट नहीं की। सच्चे ज्ञान का प्रकाश फैला कर अथवा जो लोग प्राचीन प्रणालियों को भूल गए थे, उनको शिक्षा देकर भ्रातृत्व भाव को मजबूत करनेवाले किसी आन्दोलन को इसने बढ़ावा नहीं दिया। अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने वश से बाहर की परिस्थितियों से बेबस होकर, अपना धर्म त्यागने पर जो लोग विवश हो गए थे और अब वापस आने को तैयार थे उन्हें भी इसने पुनः ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

लेकिन क्षत्रियों के बारे में क्या हुआ? किम्वदन्ती है कि ब्राह्मणों के नेता परशुराम ने *इक्कीस बार क्षत्रियों का पूर्ण संहार किया। इस कथा को सिद्ध करने के लिए कोई* ऐतिहासिक प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु मौर्यों के पतन के बाद लगता है, प्राचीन क्षत्रिय-परिवार इतिहास में दिनानुदिन कम महत्वपूर्ण हिस्सा लेने लगे। तब अचानक ही छठी शताब्दी में राजपूतों ने मंच पर प्रवेश किया और थोड़े समय में ही वे पूरे सिंधु-गंगा के प्रदेश (बंगाल को छोड़ कर) और मध्यवर्ती उच्च भूमि पर छा गए। इस हलचल के बारे में अभी तक कोई सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सका है और यह कहना असम्भव है कि उनका मूल किस हद तक विदेशी और किस हद तक स्वदेशी तत्वों में ढूंढा जाए। जाटों और गूजरों से उनके गहरे सम्बन्ध और उनके साथ उनकी जातीय समानता इस कार्य को जरा भी सरल नहीं बना सकी है।

जाति प्रथा में राजपूत ठीक तरह नहीं बैठ पाते। परम्परागत रूप में वे छत्तीस कुलों अथवा परिवारों में बंटे हैं जो तीन शाखाओं—सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्नि कुल—से सम्बन्ध रखते हैं। सारे राजपूतों का एक सगोत्र विवाहवादी वर्ग बनता है। लेकिन अन्य हिन्दू-जातियों के विपरीत उनके विभाग गोत्रान्तर विवाहवादी हैं और उनमें निम्न स्तर की लड़की से विवाह कर लेने की प्रथा प्रचलित है जिसके अनुसार लड़की का विवाह उसके माता पिता की अपेक्षा उच्चतर अथवा समान स्तर के घराने में किया जाना चाहिए।

हिन्दू-कानून के अनुसार क्षत्रिय शासक का यह कर्तव्य है कि वह स्मृतियों के नियमों के अनुसार समाज के संगठन की रक्षा करे। जब भारत पर प्राचीन युग में हिन्दू-राजे और राजा शासन करते थे तब राजसत्ता का प्रयोग करके जातीय नियमों का पालन कराना सम्भव था। मुसलमानों के द्वारा भारत विजय के बाद भी स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों और रियासतों को ऐसा करने की क्षमता प्राप्त थी। लेकिन भारत के बड़े भाग पर मुस्लिम शासन की स्थापना ने जाति प्रथा को राजनीतिक संरक्षण-कवच से वंचित कर दिया। जब राजा सामन्त अथवा जमींदार की स्थिति तक गिर गए और मुसलमान राजाओं को हिन्दू-समाज-पद्धति में कोई रुचि था नहीं। संरक्षण और निर्देशन से वंचित हो कर धर्मों और गुरुओं के बीच पड़ कर तथा आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित हो कर जाति प्रथा कट्टर मार्ग में चल जाने पर विवश हो गई।

मुस्लिम-विजय से पूर्व ही समाज की आर्थिक इकाइयों की निश्चलता और आत्म-निर्भरता चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। एकाकरण की शक्तियां कम होते-होते न्यूनतम स्तर तक पहुंच चुकी थीं और प्रादेशिकता, स्थानीयता, भाषावादी पृथक्ता, जीविका-सम्बन्धी अलगाव, पृथक्वाद तथा विच्छेद और बिखराव लानेवाली अन्य सभी शक्तियां प्रभावकारी बन चुकी थीं। जड़ता के फैलने, उपजाति को सीमित खुदमुख्तारी मिलने और हजारों छोटे-छोटे वर्गों का आत्मनिर्भर इकाइयां बनने के कारण इन इकाइयों को पूरे समाज के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य में बहुत मामूली रुचि रह गई थी। जाति प्रथा ने इस प्रकार समाज-कल्याण के क्षेत्र को बहुत ही अधिक सीमित कर दिया था और देश तथा स्थान से बाहर के मामलों के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा कर दिया था। विदेशी आक्रमणों से समाज की रक्षा करने और आन्तरिक व्यवस्था को कायम रखने का काम योद्धा जातियों की एक छोटी-सी संख्या तक सीमित हो गया था और एक बड़ी संख्या का इन महत्वपूर्ण मामलों में कोई भाग अथवा भवितव्य नहीं रह गया था।

5 कबीले

जाति प्रथा में निहित सामाजिक अराजकता को कबीलों के अस्तित्व ने बढ़ावा दिया, लेकिन इन दोनों में भेद करना सरल नहीं है।

जाति एक प्रकार का ऐसा वर्ग है जिसमें परस्पर विवाह और साथ खाने-पीने से सम्बन्धित नियमों पर और कुछ हद तक जीविका और समाज-स्तर पर जोर दिया जाता है। दूसरी ओर कबायली संगठन यद्यपि रक्त-सम्बन्ध और समान पितृ-परम्परा (वास्तविक अथवा काल्पनिक) पर आधारित है तथापि वह राजनीतिक सक्रियता, झगड़ों तथा दंगों, भूमि हथियाने और प्राप्त करने, अपने राज्य और सम्पत्ति की रक्षा करने, आदि से अधिक सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। कबीला जाति की अपेक्षा प्रदेश से अधिक सम्बद्ध है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि आरम्भ में प्रत्येक आर्य-कबीले में चारों वर्ग सम्मिलित थे या नहीं। लेकिन कबीले बाद के युगों में कितनी ही जातियों से मिल कर बनते थे यह ज्ञात है। उदाहरण के लिए, पंजाब के जाटों में ये उपजातियां हैं: भाटी, भटियारे, जुलाहे, तेली, चूहड़, दर्जी, धोबी, तरखान, डोम, राजपूत, कहार, कुम्हार, कलाल, गूजर, लुहार, मल्लाह, मोची, मछेरे और नाई।[1] बम्बई में गूजर कबीले में दर्जी, माली, सुनार, चमार, ढेड़, कुम्हार और बनिया होते हैं।[2] खानदेश के अहीर अनेक उपविभागों में अहीर-ब्राह्मण, अहीर-दास, अहीर-सुनार, अहीर-सुतार, अहीर-लुहार, अहीर-शिम्पी, अहीर-माली, अहीर-गुरव और अहीर-कोली[3] को सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार कबीले एक अजीब चीज हैं। समय-समय पर वे मंच पर प्रकट होते हैं। फिर गायब हो जाते हैं और नए कबीले उनका स्थान ले लेते हैं। वेदों में भरत, पुरु, अनु, यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अलिन, पक्थ, भलन, शिव और विषाणीन का जिक्र है पर आज उनका चिह्न भी कठिनाई से ही मिलेगा।

1 डी० इबटसन, 'पंजाब कास्ट्स', पृष्ठ 106-7

2 आर० ई० एन्थोवन, 'द ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ बाम्बे', खंड 2, पृष्ठ 21

3 वही, खंड 1, पृष्ठ 24

आगे चल कर उनकी संख्या बढ़ गई। बौद्धों की जातक-कथाओं में उत्तर भारत में सोलह महाजनपदों अथवा कबायली राज्यों का ज़िक्र आया है। लेकिन बाद में उनका पृथक् अस्तित्व खो गया। पुराणों में अनगिनत विदेशी और भारतीय कबीलों का उल्लेख है। कुछ नाम अभी तक चल रहे हैं पर अधिकतर लुप्त हो गए हैं। कइयों को तो जाति प्रथा में मिला लिया गया है। वास्तव में कबीलों को जातियों में रूपान्तरित करने की एक निश्चित प्रवृत्ति रही है क्योंकि जब भी राजनीतिक अवस्थाएं स्थिर हुईं और कबायली महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के अवसर कम हुए, कबीलों पर जातीय कामों और ज़िम्मेदारियों से लाद दिया गया। इस क्रम में यह कहना सरल नहीं रहता कि किसी वर्ग विशेष को जाति माना जाए अथवा कबीला।

कबीलों में भी स्तर भेद है। कुछ को उच्च स्तर प्राप्त है—जैसे राजपूतों और मराठों का। जाट, गूजर और कितने ही दूसरों का स्थान इनके बाद है। लेकिन इनके बाद भी बहुत-सारे ऐसे लोग हैं, जिन्हें कठिनाई से ही हिन्दुओं की बाह्य जातियों से पृथक् किया जा सकता है। कुछ कबीले संख्या में इतने अधिक हैं और भौगोलिक दृष्टि से इतने बिखरे हुए हैं कि समान नामों के होते हुए भी उनके विभाग, कुल और घराने एक-दूसरे से अलग हो गए हैं।

कबीलों और कुलों ने भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ये विभिन्न प्रदेशों में बस गए और इन्होंने अपनी पृथक् रियासतें संघटित कर लीं। इनमें से कुछ राज्य बन गए और कभी-कभी तो साम्राज्य तक में परिवर्तित हो गए। लेकिन ये राजनीतिक संघटन बड़े और छोटे सरदारों के ढीले-ढाले समुच्चय-मात्र थे और आन्तरिक विघटन से निरन्तर आतंकित रहते थे। प्रभुत्व-सम्पन्न वर्गों एवं अधीनस्थ वर्ग के बीच सामुदायिक जीवन की भावना बहुत ही कम थी। प्रत्येक अपने निजी हितों के प्रति सजग रहता था और अपने पक्षपातों को समाज हित में लीन कर देने का कोई प्रयत्न नहीं करता था।

अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के कछवाह, जोधपुर के राठौर और उदयपुर के सीसोदिया, ये तीन प्रधान राजपूत-वंश इस बात के विशेष उदाहरण हैं। इनके आपसी ईर्ष्या-द्वेष और अत्यन्त अदूरदर्शितापूर्ण विरोध इतने उग्र थे कि राजस्थान में शांति और सम्मानपूर्ण अवस्था पैदा करने के लिए एक हो जाने के स्थान पर इन्होंने मुगलों के अधीन रहना और मराठों को कर देना अधिक अच्छा समझा। यद्यपि वह हिंदू भारत में दुर्धर्ष योद्धा माना जाता था तथापि राजपूतों ने अपने स्वामी दिल्ली के सम्राट् को प्रसन्न करने के लिए जाटों और मराठों को कुचलने में एक-दूसरे से बढ़ चढ़ कर हाथ दिखाए।

जाटों ने औरंगज़ेब के समय में दुआब के उत्तरी भाग में ज़ोर पकड़ा। उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने साम्राज्य की बढ़ती हुई कमज़ोरी का लाभ उठाया और भरतपुर को केन्द्र बना कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। औरंगज़ेब उनके खतरे के प्रति सचेत था और उसने उनके विद्रोह को दबाने के लिए राजा बिशुन सिंह कछवाहा को नियुक्त किया था। फर्रुखसियर के राज्यकाल में जयसिंह सवाई ने चूड़ामन के विरुद्ध युद्ध किया था और वह जाटों को थोड़ी-बहुत अधीनता में ले आया था। जब अहमदशाह अब्दाली भारत को जीतने के लिए आया तब मराठों ने अफगानों की बाढ़ को रोकने के लिए एक सेना भेजी। जब तक मराठा-सेना जाट राज्य के पड़ोस में रही, तब तक भरतपुर के जाट राजा सूरजमल ने उनके साथ मित्रता निभाई पर ज्यों ही सेना ने यमुना पार की,

उसने धर्म-परिवर्तन कर लिया। अन्ततः पंजाब अफगानों के साथ उसने संधि कर ली और घमंडी मराठों का विरोध किया। दुआब के जाटों को विरक्तियों और विजयों में पंजाब में घने बसे [illegible] संख्या न नैतिक मार्ग नहीं दिखाए।

जैसे अवसर मराठों को प्राप्त हुए, वैसे किसी भी अन्य वर्ग को नहीं हुए। वे एक ठोस जाति थे। मुगल उनके पक्ष में था और दक्कन अथवा मुगल शासकों की पहुंच से उनको दूर रखता था। उनकी एक भाषा थी और समान्य आधारों थी। राजपूतों के राजपूत वर्तमान आबादी के केवल छः प्रतिशत हैं और दुआब के जाट यहां की कुल जनसंख्या के साढ़े-आठ प्रतिशत हैं। उनके विपरीत मराठों की वर्तमान संख्या महाराष्ट्र की जनता का एक-तिहाई है और वे पूरे प्रान्त में दूर-दूर तक बिखरे हुए हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि अतीत में भी उनकी आबादी का अनुपात यही था। उनके धार्मिक सुधारकों ने उनमें नैतिक उभार भरा था और शिवाजी की श्रेष्ठतम सैनिक और राजनीतिक प्रतिभा ने उन्हें एक राज्य के रूप में संगठित कर दिया था। लेकिन ये लाभ व्यर्थ हो गए क्योंकि मराठों के नेता बहुत संकुचित रहे। स्वराज की उनकी परिभाषा में एक संगठित पूरे भारत की कल्पना नहीं थी क्योंकि उनके स्वराज की सीमाओं से बाहर जो भी था उसे वे विदेशी प्रान्त मानते थे और अपने मुल्कगीरी अभियानों के लिए उचित लक्ष्य समझते थे। इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिए जब वे मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले रहे थे, तब उन्होंने उत्तर की हिन्दू जातियों जाटों राजपूतों, बुन्देलों, बंगालियों उड़ियों आदि को भी अपना विरोधी बना लिया।

जाति और कबीले ने न केवल आर्थिक बाधा तथा राजनीतिक एकता में दुर्लंघ्य दीवारें खड़ी कर दी थीं। ये सहयोग का विरोध करना और एकता को रोकना था।

मध्य-युगीन इंग्लैंड में भी चार वर्गों की प्रथा थी: सामन्त, पुरोहित, स्वतन्त्र कृषक और कामगार। लेकिन वे आपस में छुआछूत द्वारा एक-दूसरे से पृथक नहीं कर दिए गए थे। सामन्त और उच्चतर पुरोहित तो एक ही वर्ग के थे। एक ही परिवार के सदस्य सामन्त और पुरोहित दोनों होते थे। स्वतन्त्र कृषक सम्पत्ति मिलने पर कुलीनता तक उठ सकते थे और विरोधी परिस्थितियों में कामगार की स्थिति तक गिर सकते थे। फ्रांस में यह वर्गीकरण कम कठोर था पर भारत की जाति प्रथा-जैसा बिल्कुल नहीं था।

इंग्लैंड में भी प्राचीन ब्रिटेन के अतिरिक्त कितने ही कबीले—एंग्लो सैक्सन, जूट, डेन और नार्मन—आकर बस गए थे। लेकिन सन 1066 में नार्मन विजय के थोड़े बाद ही एक जाति बन कर परस्पर घुल-मिल गए और दो शताब्दियों के बाद उनके पृथक अस्तित्व का कोई चिह्न बाकी न बचा। फ्रांस, स्पेन, जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में भी कबीले इसी प्रकार घुल मिल कर एक हो गए थे।

लेकिन भारत में यह हुआ कि जिन [illegible] में छोटे बड़े [illegible] ये अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक और उसके बाद भी उपस्थित रहे। इस [illegible] के जितने भी कारण थे। इनमें प्रधान हैं—सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का रूप; [illegible] का निरा स्वार्थ बुद्धि, असंख्य [illegible] उसका [illegible] निरक्षरता और सामूहिक [illegible]—ये उस अर्थ-व्यवस्था के प्रधान लक्षण थे। जब तक ये रहे समाज में परिवर्तन लाने की चेतना बढ़ाई न जा सकी और [illegible]

तर प्राचीन सामाजिक-आर्थिक ढांचा बना रहा सामाजिक एकता की ओर प्रगति न हो सकी।

जाति और कबीले सिर्फ हिन्दू-समाज में ही विभाजक तत्व नहीं है। भारतीय मुसलमानों पर भी ये लगभग समान रूप से लागू होते हैं। यद्यपि रिस्ले के अनुसार इस्लाम एक ज्वालामुखी की तरह की शक्ति है जलाने और एकरूप करनेवाली एक ताकत है जो अनुकूल परिस्थितियों में एक राष्ट्र का निर्माण भी कर सकती है। कबीलों की एक पूरी शृंखला को पिघला कर वह एकरस कर देती है और उनके आन्तरिक ढांचे को एक-सा रूप दे देती है जिसमें पहले की प्रथाओं का अस्तित्व भी उनमें नहीं रहा जा सकता।[1] फिर भी यह एक सचाई है कि किताबों का इस्लाम व्यवहार के इस्लाम से बहुत भिन्न था। पैगम्बर की शिक्षाओं और मध्य-युगीन भारत के मुसलमानों की प्रथाओं और सम्प्रदायों के बीच हिन्दू धर्मशास्त्रों और व्यवहारबद्ध जाति प्रथा की अपेक्षा कम चौड़ी खाई बनी हुई नहीं थी। इबट्सन ने कहा है कि लोग (मुसलमान) सामाजिक और पंचायती प्रथाओं में किन्हीं भी धार्मिक नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक बद्ध हैं।

पंजाब में मुसलमान बहुसंख्या में थे। वे अधिकतर धर्म परिवर्तन करके हिन्दू से मुसलमान बने थे। लेकिन इबट्सन के अनुसार हिन्दू धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लेने से आवश्यक नहीं कि उस पर (जातीय प्रथा पर) न्यूनतम भी प्रभाव पड़ा हो।[2] वह आगे लिखता है मुसलमान राजपूत, गूजर अथवा जाट, सामाजिक पंचायती राजनीतिक और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए ठीक उतना ही राजपूत गूजर या जाट है जितना कि उसका हिन्दू भाई। उसके सामाजिक रिवाज अपरिवर्तित हैं। उसकी पंचायतें पूर्ववत् काम करती हैं तथा विवाह और उत्तराधिकार के नियम ज्यों-के-त्यों हैं।

आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त की जनगणना रिपोर्ट में स्पष्ट लिखता है कि सैयदों, शेखों, मुगलों और पठानों को छोड़ कर 'शेष सिद्धान्ततः हिन्दुओं से धर्म परिवर्तित हैं और बिरादरी तथा पंचायतों से सम्बन्धित प्रथाओं को उन्होंने यथासंभव सुरक्षित रखा है। ये प्रथाएं उन जातियों की जन्मभूत हैं जिनसे वे पहले सम्बन्ध रखते थे। यहाँ-के-यहाँ मुसलमान राजपूत कठोरतापूर्वक सगोत्र विवाहवादी हैं और कभी-कभी निम्न स्तर की लड़की से विवाह कर लेने की राजपूत प्रथा को भी उन्होंने बनाए रखा है। पेशेवर वर्गों की पंचायतें हैं और वे उतनी ही शक्तिशाली हैं जितनी कि उनके हिन्दू भाइयों की पंचायतें। बंजारा कुम्हारा जुलाहा बेहना कुंजड़ा अथवा भांगड़ो (मुसलमान कुम्हारा) मुकेरिया तवायफ़ों शेखों मेहतरों (भंगियों) हलवाइयों, कुजड़ा मनिहारा, चूड़िहारा नानबाइयों कसाइयों, धोबिया बनमतियों और दूसरों का बहुत ठीक पता होता है।[3]

पी० सी० टालबट ने बिहार और उड़ीसा की मुस्लिम जातियों की एक सूची

1 एच० रिस्ले, 'द पीपुल आफ इण्डिया', 1908 का संस्करण, पृष्ठ 208

2 डी० इबट्सन, 'पंजाब कास्टस', पृष्ठ 13

3 ई० ए० एच० ब्लण्ट, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1911, खण्ड 15, आगरा-अवध के संयुक्त प्रान्त, भाग 1, रिपोर्ट पृष्ठ 359

प्रस्तुत की है।[1] इसमें धुनिया, जुलाहा, कुंजड़ा, पठान, सैयद और शेख नाम भी सम्मिलित हैं। एन्थोवन ने गुजरात के बारे में कहा है कि मोमना कुनबियों और मोलेसलामों ने धर्म के रूप में इस्लाम को अपनाया था और सामाजिक ढांचे के रूप में हिन्दुत्व को।[2] सिंध के बारे में वह कहता है: 'सैद्धान्तिक रूप में मुसलमान होने के नाते सब उपजातियां बराबर हैं और उनमें विवाह-सम्बन्ध खुले रूप में हो सकते हैं, लेकिन व्यवहार में विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति को बहुत महत्त्व दिया जाता है और विवाह-सम्बन्ध कबीले की सामान्य अथवा समान सामाजिक स्तर के कबीलों के सदस्यों तक सीमित रहता है।'[3]

रिचर्ड बर्न ने हिन्दू-जातिप्रथा की सभी विशेषताएं मुसलमानों में पाई हैं—जैसे सगोत्र विवाह प्रथा, पेशों का विशिष्टीकरण, छुआछूत के नियम और सामाजिक प्रतिबंध। जे० एच० हटन ने भारत-सरकार के इस निर्णय पर खेद प्रकट किया है कि जाति का नाम तभी लिखा जाए, जब वह स्वेच्छा से बताई जाए। उसने संकेत किया है कि कुछ मुसलमान-वर्गों (जातियों) में जातिप्रथा से ग्रहण की गई कार्यात्मक और सामाजिक विशेषताएं स्पष्ट दीखती हैं, इसीलिए उनका उल्लेख जाति नाम देकर किया गया है। वह आगे लिखता है: 'हिन्दू जातियों के आधार पर बने मुसलमान-वर्गों में अन्तर्वर्गीय विवाहों पर रोक लगना बहुत स्वाभाविक है।'[4]

सन् 1931 से पहले की सभी जनगणना रिपोर्टें मुसलमान जातियों की लम्बी सूचियां प्रस्तुत करती हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अठारहवीं शताब्दी में मुसलमान भारतीय हिन्दू-समाज-पद्धति का ही अनुसरण करते थे। लेकिन एक मूलभूत अन्तर विद्यमान था। पवित्र नीतिशास्त्र से व्यवहार में कितनी ही दूरी क्यों न पड़ गई हो किन्तु जाति प्रथा को तात्त्विक दृष्टि से शास्त्र का अनुमोदन प्राप्त था। पवित्र आज्ञाओं और वास्तविक व्यवहार के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं था।

दूसरी ओर, मुसलमानों में जातियों की उपस्थिति इस्लामी सिद्धान्तों के स्पष्टतः विरुद्ध थी। धार्मिक दृष्टिकोण से जाति इस्लाम विरोधी है और जब किसी सच्चे मुसलमान की अन्तरात्मा जागती थी तब वह उस रचना की अनिवार्यता नहीं मानता। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में ऐसी जाग्रति का यत्न शायद ही नहीं हो सकता था।

मुस्लिम कबायलियों ने हिन्दुओं से कहीं अधिक उन्हें हानि पहुंचाई। पठान और बलूच कबीले उनके अनगिनत वर्ग और परिवार पश्चिमी इलाके में सिन्धु के दोनों ओर इकट्ठे बस गए थे। हिन्दू कबीलों ने धर्म-परिवर्तन के बाद भी अपने संघटन और अनन्यता को कायम रखा था। मुसलमान राजपूत, जाट और गूजर ऐसे ही लोग थे। सैयद अरबों के वंशज होने का दावा करते हैं और मुगल मध्य-एशियाई कबीलों के। लोदी-वंश के शासन-काल में पन्द्रहवीं शताब्दी में जितने ही अफगान भारत में आकर बस

1 पी० सी० टलेन्ट्स, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1921, खण्ड 7, बिहार और उड़ीसा, रिपोर्ट, पृष्ठ 247 48

2 आर० ई० एन्थोवन, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1901, खंड 9, बम्बई, भाग 1, रिपोर्ट पृष्ठ 177

3 वही, पृष्ठ 204

4 जे० एच० हटन, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1931, रिपोर्ट, पृष्ठ 430

गए थे। इसके सूर जो मुगलों के बाद निकट दन में लगभग गमन हो गए थे और इनमें जिन्होंने अठारहवीं सदी में अन्य महत्व प्राप्त कर लिया था, उल्लेखनीय है। इन प्राचीन और दुर्धर्ष कबीलों में कुछ थे जो दिल्ली के दक्षिण पश्चिम में बसे थे।

मुसलमानों में सैयदों को विशेष सम्मान और महत्व दिया जाता था। किसी सैयद को चोट पहुंचाना यहां तक कि उसे गाली देना भी, पाप था। औरंगजेब के अनुसार उच्च कोटि के सैयदों के प्रति सच्चा प्रेम हमारे धर्म का एक अंग है। इससे भी बढ़कर यह अध्यात्म ज्ञान का मार्ग-तत्व है। इस कबीले के प्रति शत्रुता नरक की अग्नि में प्रवेश पाने और ईश्वर के क्रोध का भाजन का कारण है।[1]

मुगल और पठान महत्वाकांक्षी थे। मुगल शासकों के विश्वासपात्र थे। उन्हें सैनिक और नागरिक जिम्मेदारियां सौंपी जाती थीं। पर पठानों को साम्राज्यशक्ति में सन्देह किया जाता था। वे अवसर मिलने पर उठते थे और सत्ता का विरोध कर बैठते थे।

अछूत वर्ग के हिन्दू धर्म-परिवर्तन के बाद जो मुसलमान कहलाते थे और उन्हें शेख का दर्जा दिया जाता था। वे अपने मूल वर्ग, जाति, नाम पसंद और रिवाजों से चिपके रहते थे। भारत में पश्चात् हुए मुसलमानों को चाहे वे नौमुसलमान हों अथवा बहुत पहले स्थानान्तरित लोगों के वंशज हों, विशेष सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। मुगल अपना रुतबा और उपाधियां विदेशियों को प्रदान करते थे, जो अपने को श्रेष्ठतर समझते थे। हार और मायर ने इस भावना का इस भावना का अनुभव किया था और लिखा था कि वे (मुगल) अपने को ऊंचा दर्जा में गर्व मानते थे और अपने भारतीयों पर भारी निर्भर थे।

मुसलमान भी हिन्दुओं की ही तरह दो वर्गों को मान्यता देते थे। जो उच्च वर्ग थे और राज्य की कारवाइयों में भाग लेते थे आवादी थे वे शरीफ (श्रेष्ठ) कहलाते थे। दूसरे लोग जो अधिकतर निम्न हिन्दू जातियों से मुसलमान बने थे रजील (नीच) कहलाते थे।

इस प्रकार मुसलमान भी प्रारम्भिक वंशावली वंशीय वर्गीय और जातीय विभेदों से उलझे हुए थे। तूरानी ईरानियों के विरोधी थे। अफगान उन मुगलों के शत्रु थे, जिन्होंने उनसे दिल्ली का साम्राज्य छीन लिया था। हिन्दुस्तानी मुसलमान विलायतियों (ईरान द्वारा आक्रमणों के दशा में आए हुए लोगों) के घमंड और आत्मश्लाघा से चिढ़ते थे। शिया पहले तीन खलीफाओं की भर्त्सना करते थे पर सुन्नी उन्हें मुसलमानों के पवित्रात्मा (सत्य-पथ पर चलने) मानते थे। सुन्नी शियाओं को नास्तिक (रफीजी) समझते थे।

मुसलमानों में अनगिनत पेशेवर जातियां भी थीं—उदाहरणस्वरूप जुलाहे बढ़ई, मिस्त्री, भटी (नानबाई) आदि।

समाज में प्रथा ही जिसका मुख प्रवृत्तियां और राजनीतिक मामलों में ही उच्च कुलीन अधिकारियों का स्वार्थ मुसलमानों में भी वर्तमान थे जैसे कि हिन्दुओं में थे। जाति और वर्ग-भेद भारत में सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करते हैं। इन

1 'अहकाम-आलमगीरी', संख्या 32, मूल पाठ, पृष्ठ 36, अनूदित ग्रन्थ, पृष्ठ 88
2 सर टामस रो तथा डा० जान फ्रायर, 'ट्रेवेल्स इन इण्डिया इन द सेवन्टीन्थ सेन्चुरी' (लन्दन 1873) पृष्ठ 447

दोनों में ही रक्त-सम्बन्ध का सिद्धान्त निहित है। लेकिन रक्त-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं जो मानवीय ग्राम-जीवन का आधार बनते हैं। इनमें प्रथम महत्त्वपूर्ण है। यह स्थान की सन्निकटता अथवा पड़ोसीपन का सिद्धान्त है। भूमि मानव की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करती है और इसके उपयोग के बीच कुछ सम्बन्ध पनप उठते हैं जो ग्राम-जीवन के तत्व बन जाते हैं।

जाति और कबीले अनिवार्यतः अप्रादेशिक हैं। लेकिन भारत में उनकी बहुसंख्या निकट-स्वावलम्बन और आन्तरिक ठोसपन लिए रहते हैं जो उन्हें विशाल इकाइयों में संगठित होने से रोकते हैं। इसलिए एक संगठित हिन्दू-समाज की चेतना कभी विकसित नहीं हुई। एक ही प्रदेश में रहनेवाले और एक ही भाषा बोलनेवाले लोगों में भी प्रादेशिक समाज की चेतना पैदा न हो पाई। बंगाली, पंजाबी, आन्ध्र, तमिल अथवा गुजराती राष्ट्रीयता कभी नहीं पनपी। मराठों की बात इसका एक अपवाद हो सकती है लेकिन वास्तव में यह बात थी नहीं क्योंकि क्रान्तिकारी सामाजिक प्रक्रिया-द्वारा जो थोड़ा-बहुत एकता पैदा की गई थी उसे समाप्त करके ब्राह्मण पेशवाओं के शासन-काल में परम्परानिष्ठता ने फिर से पैर जमा लिए थे।

राष्ट्रवाद के निषेधात्मक और सकारात्मक दोनों पक्ष हैं। कुछ समान विशेषताएँ रखनेवाले लोगों को वह अपने में शामिल करता है पर अन्य सबको निकाल फेंकता है। शिवाजी-द्वारा रचे गए राजनीतिक ढाँचे में जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने भी ग्रहण किया राष्ट्रीय और नैतिक सूत्रों में बँधे अपने मराठा इलाके उसके कल्याण और उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समर्पित एक अजेय मराठा जाति का विचार कभी भी प्रमुख नहीं बन सका।

जाति प्रथा ने अधिक विस्तृत सामाजिक वर्गों अथवा पेशों अथवा हितों के सही भाईचारे को कभी नहीं पनपने दिया। ब्राह्मणों, क्षत्रियों अथवा अन्य जातियों ने अखिल भारतीय अथवा प्रादेशिक आधार पर कभी भी सहयोग नहीं किया और न ही कृषि, व्यापार अथवा उद्योग-सम्बन्धी प्रथाओं ने समान पेशों के संघों को जन्म दिया। विभिन्न स्थानों के बैंकरों, [illegible] अथवा शिल्पकारों ने अन्य स्थानों में रहनेवाले समान वर्गों के अस्तित्व के प्रति बहुत ही कम उत्साह दिखाई। नानक, कबीर, चैतन्य, रामदास और दूसरों द्वारा चलाए गए आन्दोलन भी दृष्टिकोण से समुदायवादी होने के बावजूद पृथकतावादी ही रहे।

कबीलों ने भी मिल कर काम करने के प्रति बहुत थोड़ी रुचि प्रदर्शित की। सिन्ध, पंजाब, राजस्थान और उत्तरप्रदेश—इन सब जगहों के जाट अपनी अलग-अलग बिरादरी बनाते रहे। ऐसा ही पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्य भारत के राजपूतों ने किया। इन उन्नत कबीलों में कोई लगाव नहीं था। अफगान, पठान, बलूच और अन्य एक ही धर्म के अनुयायी थे, फिर भी उनका कोई समान राजनीतिक लक्ष्य अथवा संगठन नहीं था।

इस प्रकार न तो सब हिन्दुओं ने और न ही सब मुसलमानों ने मिल कर एक अकेले समाज का निर्माण किया। उस समय की अवस्थाओं में उनके लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वे धार्मिक मतभेदों से ऊपर उठ कर एक प्रादेशिक समुदाय के रूप में संगठित होते। इन बहुगर्भित व्यवस्थाओं में निश्चय संगठनात्मक एकता के तत्व बहुत ही कम थे और वे लगातार विभिन्नताओं के आगे समर्पण करते रहे।

6 ग्राम

जाति एक सामाजिक धार्मिक संस्था था, लेकिन बहुत सारी आर्थिक मशाएं भी उसमें निहित थीं। यदि सामाजिक धार्मिक दृष्टि से समाज छिन्न रूप में जुड़ा जातियों का एक समूह था तो राजनीतिक आर्थिक पक्ष में वह उन गांवों का एक पुंज था जो उसका आधार और प्रादेशिक इकाइयां थे। जो स्थिति आरम्भिक मध्य-युगीन यूरोप में अंग्रेजी मेनर अथवा फ्रांसीसी सिग्नियूरी की था, वही अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में ग्राम की रही। लेकिन भारतीय ग्राम अपने उद्भव, काम और संगठन में अपने यूरोपीय प्रतिरूप से भिन्न था। यूरोपीय मेनर एक सार्वदेशिक युद्ध और हिंसा की चुनौती का सामना करने के लिए अस्तित्व में आया था। गांव एक जीवन पद्धति वर्णाश्रम धर्म को लागू करने के प्रयास में निर्मित हुआ था। पर वास्तविकता मूल धारणा से बहुत दूर पड़ गई यह कहना अन्तर्निहित कल्पना को नजरअंदाज करने के लिए उपयुक्त तर्क नहीं है। इस तथ्य से भी इसका खण्डन नहीं होता कि अठारहवीं शताब्दी की अराजक परिस्थितियों में गांवों ने दीवारों बुर्जियों और मीनारों से घिरे किलाबन्द गढ़ी का रूप धारण कर लिया था। यूरोप का गांव एक द्वन्द्वात्मक संगठन था। वह मालिक और गुलाम लार्ड और कामगार की एक सम्बद्धता था। आर्थिक आधार और सैनिक ढांचा दोनों ही उसके युद्धपरक उद्देश्य का पोषण करते थे।

जहां तक भारतीय ग्राम का सम्बन्ध है धनी और मालिक से बंधे कामगार अथवा गुलाम का वहां कोई स्थान नहीं था। न ही भारतीय ग्राम लड़ाइयों में कोई सीधा भाग लेते थे। युद्ध छोटे-बड़े राजाओं और उस जाति का काम था, जिसका धंधा ही लड़ना था। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पहले युद्ध के निरन्तर कशाघातों से जितना भारत पीड़ित रहा, उतना यद्यपि अन्य कोई देश नहीं रहा तथापि भारत के लोग कभी भी सैनिक जाति नहीं बने।[1] ये विचार हनरी मेन ने प्रकट किए हैं। भारतीय गांव की प्रधान चिन्ता थी—धरतीमाता को पोसना जिससे वह मानव-जाति के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न दे सकें। इस पवित्र काम में सभी जातियों को सहयोग देना चाहिए। ब्राह्मण को अपनी पूजा, भविष्यवाणी और धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों के संचालन-द्वारा, क्षत्रिय को सुरक्षा और संरक्षण-द्वारा किसान को अपने श्रम-द्वारा, और कारीगर को अपनी सेवा-द्वारा। धरती की उपज में से प्रत्येक को उसका पारिश्रमिक मिलना चाहिए। प्रत्येक को इस सामान्य उद्देश्य के प्रति अपना काम अर्पित करना चाहिए और फसल में से अपने अंशदान के मूल्य के अनुसार हिस्सा लेना चाहिए।

जो मुसलमान गांवों में बस गए थे, वे भी उसी रंग में रंग गए। हिन्दू-संघटन की प्रतिमा उनके मन पर हावी थी। धर्म उपासना, उपवास और त्योहारों में तो मुसलमान भिन्न थे पर उन्हें मनाने के तरीकों में हिन्दुओं की बहुत सी विशेषताएं उन्होंने ग्रहण कर ली थी। गांव के सामान्य मेला और उत्सवों में दोनों ही मिल कर भाग लेते थे। एक अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लिए जो त्योहार पराए थे उनमें भी दोनों हिस्सा लेते थे।

उस समय की अवस्थाओं में ग्राम पद्धति एक ऐसी आन्तरिक संयोजनता प्राप्त कर चुका था जो उसे स्थिरता और सुरक्षा प्रदान करती थी और जो प्रत्येक को उसका

---

1 हनरी मेन 'विलेज कम्युनिटीज इन द ईस्ट ऐण्ड वेस्ट' (लन्दन 1887) पृष्ठ 124

स्थिति के अनुकूल कलाओं में नियुक्त करता था। लेकिन इसके साथ ही वह सामाजिक अवस्थाओं को पूरी तरह रूढ़ीभूत भी करती थी। समाज का स्तरीकरण शाश्वत बना दिया गया था। व्यक्ति जन्म से अपने वर्ग के सस्तरक्रम से बधा था और अपनी अवस्था में परिवर्तन लाने का उसे कोई अवसर प्राप्त नहीं था। गाव कठोर विभागों में बटा था। एक छोटी-सी अल्पसंख्या को ही वह जीवन की सुविधाएं, प्रतिष्ठा और आराम प्रदान करता था और विशाल बहुसंख्या कठोर श्रम, क्रूर शोषण और अनैतिक अपमान का दण्ड भुगतती थी।

7 गाव और कस्बा

गाव आर्थिक यन्त्र की धुरी था। कृषि, उद्योग और व्यापार, सब उसी के चारों ओर घूमते थे। इस दृष्टि से भारत उस मध्य-युगीन यूरोप से भिन्न था, जहा का आर्थिक जीवन दो खण्डों में विभाजित था, अर्थात कृषि गाव का काम था और व्यापार एव उद्योग कस्बे का। भारत में नगर थे तो, पर वे मात्र परजीवी थे। कुछ राजनीतिक सत्ता के गढ़ थे, कुछ धर्म के केन्द्र थे, कुछ नदियों अथवा सडकों के सगम पर स्थित थे, लेकिन उनमें से बहुत कम ऐसे थे जिनकी सम्पन्नता का अथवा आबादी का कारण कोई स्वतन्त्र उद्योग अथवा वाणिज्य था। बर्नियर ने शासक की उपस्थिति के फलस्वरूप नगरों का उत्थान देखा था। उदाहरण के लिए लाहौर उजाड हालत में था क्योंकि वहा का शासक दिल्ली अथवा आगरा में रहता था। उसने देखा कि दिल्ली अथवा आगरा की अधिकांश आबादी सेना की उपस्थिति पर निर्भर करती थी।[1] वास्तव में, दिल्ली के निवासी शाही सेना के अग थे। उनके मामूली उद्योगों का अधिकतर भाग प्रभुत्वसम्पन्न और अल्पसंख्यक राजनीतिक सामन्तों, उनके कुलीनों तथा उनके सेवकों की आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यस्त रहता था। नगर कारीगर-परिवारों का अथवा बाजार में माल भाव करनेवाले व्यापारियों का जाली भीड और उनकी रचना में व्यस्त नहीं रहते थे। वहा नागरिक सभाएं नहीं थीं जो उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करनेवाले लार्ड अथवा बिशप को चुनौती दे सकतीं। अठारहवीं शताब्दी के भारतीय गाव और उनके स्थानों में अन्तर। गाव में कोई तुलना नहीं था क्योंकि इग्लैण्ड में कस्बों के बाहर की आबादी का एक बड़ा भाग खेतों में नहीं बल्कि पुराने अथवा अन्य औद्योगिक कामों से अपनी जीविका चलाता था।[2]

भारतीय गाव में कृषि प्रमुख था और जो जातियां मूल रूप में दूसरे धन्धे करती थीं वे भी गौण कर्म के रूप में कृषि को अपनाती थीं।

8 गाव सामाजिक जीवन का केन्द्र

भारतीय गाव समाज की सक्रियता का केन्द्रबिन्दु था। वह ग्रामीण को घर प्रदान करता था जहा वह रहता, विवाह करता और बच्चे पैदा करता था। वह उनके देवताओं, ग्राम-देवताओं और कुल-देवताओं तथा उनके मन्दिरों का स्थान था। वह उनका आदिम

1 एफ० बर्नियर, 'ट्रैवल्स इन द मुगल एम्पायर' (कान्सटेबल एण्ड स्मिथ, 1934 का सस्करण) पृष्ठ 384, 282
2 होम एण्ड पोस्टगेट 'द कामन पीपुल्स', पृष्ठ 123-24

सम्बन्धी हलचलों का केन्द्र था। वह उसे भूमि प्रदान करता था जिस पर वह खाने-कपड़े और घर की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए फसल उगाता था। वह उसके सांस्कृतिक और सामुदायिक जीवन का भी केन्द्र था।

गांव में घर मूलतः तो आश्रय के लिए ही बनाए जाते थे, लेकिन प्रदेश प्रदेश में बहुत अधिक भिन्नता रखनेवाला जलवायुगत अवस्थाएं उसकी बनावट का स्वरूप निर्धारित करती थीं। प्रमुख अंतर छत डालने में था छप्पर अथवा खपरैल पड़ी ढालू छत अथवा लट्ठों या कड़ियों पर सपाट छतें। गारे की दीवारें और कुटा हुआ गारा फर्श सामान्य था। लेकिन धनी जमींदारों उच्च वर्ग के सदस्यों भिन्न-भिन्न कारीगरों और अशुद्ध धंधा करनेवाली जातियों आदि के सामाजिक स्तर के अनुसार घर कितने ही प्रकार के होते थे। जमींदार के घर के सिवाय दूसरे घर पतली घुमावदार गलियों से होकर छितर बितर बने होते थे। मनुष्य और पशु एकदम पास-पास रहते थे और स्वास्थ्यजनक अवस्थाओं की पूरी उपेक्षा की जाती थी।

एक गांव की आबादी में सामान्यतः कामगार अथवा श्रमिक जातियां उच्च जातियां और कारीगर होते थे। श्रमिक जातियों में किसान और कारीगर सम्मिलित थे। कारीगरों में या तो साफ धंधे करनेवाले लोग थे या अछूत। उच्च जातियों में ब्राह्मण क्षत्रिय (जमींदार-वर्ग) और वैश्य (व्यापारी या व्यापार महाजनी आदि में लगे होते थे) शामिल थे। इसी प्रकार गांव के मुसलमान भी हिन्दू उच्च जातियों के समानान्तर उच्च वर्ग (शरीफ) अथवा नीच धंधा में लगे नीच वर्ग (रज़ील) से सम्बन्ध रखते थे।

जातियों की संख्या निश्चित नहीं थी। पर औसत आकार के गांवों में पन्द्रह से बीस तक जातियां रहती थीं। गांव का ठीक-ठीक कार्य-संचालन इन्हीं के परस्पर-सहयोग पर निर्भर करता था क्योंकि ये ग्राम रूपी शरीर के अंग थे।

9 ग्राम के कार्य

ग्राम का सामुदायिक संगठन मुख्यतः तीन प्रकार के कामों में नियुक्त होता था (1) सामाजिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक (2) आर्थिक और (3) प्रशासनिक तथा राजनीतिक।

(1) सांस्कृतिक

सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य का अर्थ था जाति के आन्तरिक मामलों का प्रबन्ध जिसमें सहभोज विवाह तथा संस्थाओं के परस्पर-सम्बन्धों के नियमन से सम्बद्ध प्रश्न सम्मिलित थे। अन्तर्जातीय मामले सामान्य ग्रामीण त्योहार और अनुष्ठान मंदिर शिक्षा मनोरंजन और मन-बहलाव भी इसके क्षेत्राधिकार में आते थे। इस कार्य के उचित निर्वाह के लिए जातीय संस्था थी जाति-पंचायत।

(2) आर्थिक

(क) कृषि जहां तक आर्थिक कार्यों का सम्बन्ध है, ग्राम एक आत्मनिर्भर इकाई था। इसका प्रधान उत्पादन-कार्य था कृषि। कला और कारीगरी गौण काम थे। व्यापार महाजनी आदि कार्य विभिन्न प्रकार की फसलें उगाने उनके वितरण एवं उपभोग का प्रबन्ध करने के प्रधान काम में सहायक थे। गांवों में जीवन स्तर बहुत नीचा था और सामान्य अर्थ-व्यवस्था गुजारे के स्तर से ऊपर कठिनाई से ही पहुंच पाती थी।

गाँव की जनसंख्या में अधिकतर किसानों की संख्या होती थी जिनके विभिन्न स्तर—खुदकाश्त, बिचौलिये और उपज—काश्तकार थे। कृषि को सुधारने के उद्देश्य से उनमें से कुछ को नई जमीन के लिए कम दर पर भूमि दी जाती थी। खुदकाश्त और पूर्व बन्दोबस्त भूमि पद्धति राजस्व के बीच हकदार वर्गों के अधिकार और कर्तव्य निश्चित नहीं हो रही थी। गाँव अनिवार्य निवासी होने के एक गुट ने सम्बद्ध क्षेत्र के एक समूह का नाम था। इनमें इन लोगों के दल बन होते थे जिनमें निर्गीत किसी प्रकार का स्वत्त्व-सम्बन्ध और निज का खास कोई सूत्र होता था।

गाँव की भूमि या तो खेती-योग्य होती या परती बंजर। खेती-योग्य भूमि अपने निजी-द्वारा जोत रखनेवाले खेतों में बटी रहती थी। सूरत या तरह पक्का खेत साफ-साफ निश्चित नहीं होते थे। पानी की नालियों और दूसरे अवरोध चिह्नों से ही खेतों का परिमाण पता लगता था। जैसा कि पञ्जाब प्रान्त के परगना बटाला-सुल्तानपुर में 1680-81 वर्ष का खसरा दस्तूरों[1] से स्पष्ट है हर किसान के जोत अलग और विभिन्न आकार के होते थे। परगने की आबादी 855 थी। इनमें से 320 तो दरिद्र और अलग थे जिनके कर अदायगी से छूट हुए थे। शेष 535 में जिनकी कुल अदायगी 2 950 रुपये वार्षिक थी 88 प्रथम श्रेणी के थे और 1 100 रुपये देते थे। 145 मध्यम दर्जा के थे और 904 रुपये 4 आने देते थे। शेष 302 निम्नतर सामाजिक स्तर के थे और 9,3 रुपये 12 आने अदा करते थे।

बंजर भूमि पशु चराने और लकड़ी काटने के काम आता था और उस पर पूरे गाँव का अधिकार होता था। इस विभाजन के अतिरिक्त कुछ भूमि धर्म, दातव्य कार्यों, मस्जिदों, कुओं के बाहर और सामुदायिक कामों के लिए छोड़ दी जाती थी।

ग्रामीण के उत्पादन का काम मुख्यत किसानों के कन्धों पर था। हर किसान अपने परिवार और साथियों के साथ अपने अपने खेत पर काम करता था और अपने आदिम ज्ञान से खेती करना जानता था। अपने खेत कुआँ तालाब अथवा जलकुण्ड वाला है या भी नहर उपलब्ध थे उनसे वह उनकी सिंचाई करता था निराई करता था निर्मियों और चिड़ियों और कीड़ों से फसलों की रक्षा करता था और भूमि लगान के लिए फसलों का अतिरिक्त भाग इकट्ठा करता था।

यद्यपि आदिम युगीन हल फसलों के लिए थोड़े कम उपलब्ध होने वाले थे निश्चित नहीं, उनमें चमत्कार वैसा हो, अन्य शक्ति सीमित होने और सिंचाई की सुविधाओं के सीमित होने के कारण किसान की उत्पादकता अवरुद्ध रहती थी। इन सब असमर्थताओं के बावजूद वह उतना उत्पन्न कर लेता था जितना उस जमाने में भारत जानेवाले विदेशियों के लिए अचम्भे का विषय होता था। वह वर्ष में दो और कभी-कभी तीन फसलें उगा लेता था। अठारहवीं शताब्दी की कृषि क्रान्ति से पूर्व यूरोप में इसका अनेक जगहों में भी, तुलना में वह पिछड़ा हुआ नहीं था।

किसान को अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह अनाज का पर्याप्त भाग बेच देता था। उस समय भारत को स्वाभाविक दशा के लिए कुछ समय के लिए कपड़े के लिए रुई

1 'दस्तूर-उल-अमल' (मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की लिटन लाइब्रेरी में हस्तलिखित पुस्तक) पन्निया 38 39

और पटसन, कपड़े रंगने के लिए नील और मजीठ जैसे वानस्पतिक रंग, चबाने के लिए पान, शरबत तथा पीने की चीजों और मद्य आदि की मांग को पूरा करने के लिए ताड़ अफीम भांग और तम्बाकू वह पैदा करता था। नकद रुपये पाने के लिए वह नील गन्ना, सरसों, रूई और अलसी उगाता था।

विस्तृत बंजर जमीन और जंगलों के रूप में उसे उन पशुओं के लिए लगभग असीम चरागाह प्राप्त थे, जो कृषि-कार्यों में उसके काम आते थे तथा जो दूध, मक्खन और चमड़े के प्रचुर स्रोत थे। उसके पास खाने को काफी था। आज की परिस्थिति की तुलना में उसका जीवन-स्तर काफी ऊंचा था, पर अंग्रेजी शासन-काल के अपने वंशजों के मुकाबले उसकी अवस्था सुविधापूर्ण और बढ़िया थी। अठारहवीं शताब्दी में, चूंकि भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी, इसलिए घटिया धरती जोतने की कोई आवश्यकता नहीं थी। भारत की आबादी अपेक्षाकृत कम थी—दस और चौदह करोड़ के बीच। मनुष्य का वास्तविक मूल्य बहुत ऊंचा था और अधिक अच्छा जीवन बिताने के अवसर उसके लिए काफी थे।

मध्य-युगीन भारतीय कृषि की कुछ अनोखी विशेषताएं थीं। उत्पादन के साधनों में दो विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे—भूमि और श्रम। जहां तक भूमि का सम्बन्ध है, वह इतनी बहुतायत में थी कि उसके लिए कोई प्रतियोगिता नहीं थी। गणना करके यह मालूम किया गया है कि भारत में एक प्रदेश में उतनी आज की अपेक्षा केवल आधी भूमि पर ही लोगों ने अधिकार किया था। अन्य क्षेत्रों में दो तिहाई से लेकर चौथाई तक भूमि लोगों के कब्जे में थी। ऐसा कोई प्रदेश नहीं था, जहां किसी भी जगह भूमि पर दबाव चरम सीमा तक पहुंचा हो। यदि कोई व्यक्ति भूमि चाहता, तो उसे साफ करता और खेती के लिए उस पर अधिकार जमा लेता।

मुगल साम्राज्य का सर्वाधिक केन्द्रीय भाग था, आगरा से ढाका तक का गंगा और यमुना का तटवर्ती प्रदेश। लेकिन इस सम्पूर्ण विशाल घाटी में जंगलों की बहुतायत थी। मथुरा उस समय तक प्रसिद्ध बरसाना जंगल के बीच अवस्थित था और अकबर वहां शेरों का शिकार किया करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अवध तक सम्पूर्ण जंगलों की एक पट्टी बनी रही। इलाहाबाद से बनारस और जौनपुर तक की कृषि आज के मुकाबले में एक चौथाई थी और घाघरा के किनारे कृषि परिमाण गोरखपुर और बस्ती जिले में लगभग था। वहां से जंगल हाथी घूमा करते थे। आजमगढ़, गाजीपुर, गोरखपुर और बस्ती के अधिकांश भाग में खेती नहीं होती थी और हाथी तथा गेंडे जैसे पशु इन जिलों में भरे हुए थे। बिहार में आज कर्षित भूमि कुल क्षेत्र का दो तिहाई है, लेकिन अठारहवीं शताब्दी में पांचवें हिस्से से अधिक पर फसल नहीं उगाई जाती थी। उत्तर बिहार के तिरहुत, चम्पारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा जंगलों से भरे थे। पश्चिम-बंगाल में घनी आबादी थी, पर पूर्व-बंगाल दलदलों और उजाड़ भागों से भरा था।

मुगलों के अधीन कर्षित क्षेत्र में कुछ वृद्धि हुई, विशेषकर गंगा की घाटी में। दिल्ली, आगरा, अयोध्या, प्रयाग, जौनपुर, बनारस, पटना, राजमहल, ढाका, विष्णुपुर और हिन्दू अथवा मुसलमानों के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आबादी और खेती दोनों बढ़ीं। पर उन्नीसवीं शताब्दी में, अवस्थाओं की तुलना में आबादी कम थी और बंजर तथा जंगल भूमि का अनुपात बहुत बड़ा था।

इन अवस्थाओं का स्वाभाविक परिणाम यह था कि कृषि-योग्य भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी और भूमि को अब तक सामान्यत कोई मूल्य प्रदान नहीं किया गया था।'[1] भूमि को कामदा नगण्य थी। सन 1807 में सर टामस मनरो लिखता है इससे अधिक साफ बात और कुछ नहीं है कि भारत में, मालाबार-तट के अतिरिक्त भूमि-सम्पत्ति कभी अस्तित्व में नहीं रही।[2] पंजाब में "अंग्रेजों की विजय से पहले भूमि की बिक्री अज्ञात थी।"[3] सर जान स्ट्रेची ने लिखा है 'जब कि हमारी नीति निजी भूमि सम्पत्ति की वृद्धि को प्रोत्साहित करती रही है पहले की सरकारें ऐसी सम्पत्ति के अस्तित्व को कठिनाई से ही मान्यता देती थीं।[4] एलफिंस्टन सकेत करता है व्यवहारत प्रश्न यह नहीं है कि सम्पत्ति किसमें निहित है बल्कि यह है कि उपज का कितना अनुपात किस पक्ष की तरफ वाजिब है।[5] गोण्डा-सर्वेक्षण रिपोर्ट में बेनेट कहता है 'अभी तक चाहे व्यक्तिगत हो या सामुदायिक निजी सम्पत्ति का यहां कोई चिह्न नहीं है।[6] सर जार्ज कैम्पबेल के उद्धरण से भी यही पता लगता है हम यह बात प्राय भूल जाते हैं कि चल सम्पत्ति की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचनेवाली पूरी तरह अधिकृत हस्तान्तरणीय एवं विक्रय-योग्य वस्तु के रूप में भूमि-सम्पत्ति यहां एक प्राचीन संस्था नहीं है बल्कि एक आधुनिक विशिष्टता है।[7] एक लम्बे वाद विवाद के बाद बेडेन-पावल ने अन्तिम बात यह कही है स्वामित्व धरती में नहीं उपज के हिस्सों में कृषि-कार्यों में अथवा राजस्व की अदायगी में है।

प्रचुरता के ही कारण भूमि अन्य सम्पत्तियों की तरह नहीं बन सकी। वह कठिनाई से ही बेचा जाती था और यही कारण है कि इन युगों में भूमि को गिरवी रखने, उसे बेचने और हस्तान्तरित करने के बारे में इतना कम सुना जाता है। दक्कन में अठारहवीं शताब्दी के विक्रय-पत्रों की शब्दावली इस प्रकार है कि स्वामी ने खरीदार से प्रार्थना की कि वह उसकी भूमि ले ले आदि। फलत उसके स्वामित्व के प्रश्न का निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो गया है। वास्तव में कब्जा करना और इस्तेमाल करना सम्पत्ति के केवल इन्हीं दो रूपों से लोगों का असल परिचय था। इनसे वे अधिकार उद्भूत होते थे, जो वंशानुगत थे और हिन्दू-कानून के अनुसार उत्तराधिकार में प्राप्त किए जाते थे। लेकिन इनके साथ कुछ शर्तें लगी थीं। एक किसान और उसके वंशज धरती के उस टुकड़े अथवा टुकड़ों को तब तक अपने अधिकार में रख और उसका सम्भोपभोग कर सकते थे जब तक उसकी उपज का एक अंश वे राज्य को अदा करते रहते थे। उन्हें बेदखल करने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। लेकिन यदि वे खेत जोतने में उदासीनता दिखाते थे, तो उन्हें बलात हटाया जा सकता था।

---

1 'बंगाल रेवेन्यू कंसल्टेशन', 20 जून, 1808 (सबसी कासम ऐण्ड टकर की रिपोर्ट, पैरा 67)
2 मनरो का पत्र, दिनांक 15 अगस्त, 1807, पैरा 2
3 एस० एम० थानटन, 'मुसलमान्स ऐण्ड मनी-लेण्डर्स इन द पंजाब', पृष्ठ 68
4 सर जान स्ट्रेची, 'इण्डिया' (1880 का संस्करण), पृष्ठ 80
5 एलफिन्सटन 'हिस्टरी आफ इण्डिया' (1916), पृष्ठ 80
6 डब्लू० सी० बेनेट, 'सेटलमेण्ट रिपोर्ट आफ गोंडा (अवध)', 1878, पृष्ठ 48-49
7 बेडेन-पावेल, 'लैण्ड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया' 1882, खण्ड 1, पृष्ठ 219

इस प्रकार वास्तविक सम्पत्ति की भारतीय परिभाषा एकदम अनोखी और समकालीन यूरोप की भावनाओं से पूर्णतः भिन्न थी। अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय समाज ने अपने सामन्ती लक्षणों का त्याग दिया था और चरमसत्ता और स्वामित्व तथा व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया था। उसमें स्वाभाविक अपरिहार्य अविच्छेद्य, नित्य-जैसे लगभग पवित्र अधिकार निहित हो गए थे और उन्हें स्वतन्त्रता व्यक्तित्व सम्पन्नता और संस्कृति का आधार समझा जाने लगा था। न्यायपालिका ने स्वामित्व के अनिश्चित तत्व को विशिष्ट अधिकारों सुविधाओं शक्तियों और उन्मुक्तियों के रूप में निर्दिष्ट कर दिया था तथा इन विशिष्ट व्यक्तियों में निहित करके विशिष्ट तरीकों से मान्य बना दिया था। संक्षेप में भूमि के चरम स्वामित्व का विचार अंग्रेजों से पहले के युग में भारत के लिए पराया था।

दूसरा तत्व अर्थात् श्रम कम मात्रा में उपलब्ध था। इसलिए उसका महत्व और मूल्य अधिक था। राजा लोग कृषि-कार्य को बढ़ाने के लिए उत्सुक रहते थे और अपने सूबेदारों तथा अन्य अधिकारियों को समय-समय पर निर्देश देते रहते थे कि किसानों का हित उनका प्राथमिक कर्तव्य है। असह्य क्रूरताओं और अत्याचारों के विरुद्ध किसान के पास सबसे प्रभावशाली हथियार यही था कि वह असहयोग कर दे गाँव छोड़ दे और यदि आवश्यकता पड़े तो जंगल साफ करके उसे खेती बनाने के लिए पड़ोस के वनों में आश्रय ले ले।

इन अवस्थाओं में पश्चिमी ढंग की गुलामी अथवा कामगारी कठिनाई से ही सम्भव थी। लेकिन किसान का यह चरम निष्कासन प्राय: व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था। भारतीय किसान धर्मभीरु और परम्परावादी था इसलिए वह बलपूर्वक लूट-खसोट और अत्याचारों को यह चुपचाप सह लेता था जिनसे बचा जा सकता था।

(ख) ग्रामोद्योग गाँव के निवासियों का प्रधान धन्धा खेती था। इससे उनकी प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। लेकिन कृषि-कार्य शिल्पकारों की सेवाओं के बिना नहीं चलाए जा सकते थे और कुछ अन्य आवश्यकताओं को भी पूरा किया जाना जरूरी था। इस प्रकार हर गाँव कितना ही कारीगरों और कारीगरियों का घर था। लेकिन उस समय ग्रामोद्योग के पीछे सिद्धान्त आज से बहुत भिन्न थे। उत्पादन बाजार व्यवहार गाँव तक ही सीमित था। अधिकतर स्थानीय उपभोग के लिए ही वस्तुएँ बनाई जाती थीं। अधिकांश सूत और कपास गाँव के लोगों के लिए ही काता और बुना जाता था तथा निकाला जाता था और शक्कर बनाई जाती थी। कारीगर लोग—जुलाहे, लुहार बढ़ई कुम्हार चमार और अन्य—गाँव की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही काम करते थे। उनके अधिकतर उत्पादन का मूल्य वस्तु के बदले उपज फसलों के रूप में नहीं बल्कि प्रथानुकूल निश्चित अन्न के रूप में चुकाया जाता था। कारीगर को फसल कटने के समय उपज का एक निश्चित हिस्सा दे दिया जाता था। अधिकांश कारीगरों के पास अपनी थोड़ी भूमि जमीन होती थी जो किसानों से मिलकर भूमि का अभाव पूरा कर लेता था। इस व्यवस्था में माँग और सम्भरण शक्ति और उत्पादन तथा उपभोग के मूल्य का बदला आदि नियम कठिनाई से ही लागू होते थे।

(ग) व्यापार गाँव के भीतर और बाहर थोड़ा व्यापार भी चलता था। फेरी-व्यापारी बैलगाड़ी द्वारा होते थे और कभी इस प्रकार का व्यापार भी होता था। सप्ताह में एक निश्चित दिन किसी बड़े गाँव में हाट लगती थी जिसमें साधारणतया सम्प्राप्य

वस्तुएं खरीदी जा सकती थीं। निकट और दूर से व्यापारी इन हाटों में आते थे और मुख्य सड़क के दोनों ओर अपनी चीजें फैला देते थे। कुछ प्रमुख ग्रामीण-केन्द्रों में पशु-मेले लगते थे और वे गाय, बैल तथा सांड खरीदने-बेचने के अवसर प्रदान करते थे।

जिन्स अथवा लगान नगद चुकाना होता था, वह किसान अपना अतिरिक्त उत्पादन स्थानीय गल्ला-व्यापारी के पास अथवा पास के बाजार में ले जाने को बाध्य था। इस मोड़ में उसकी अनिवार्य आवश्यकता दूसरे पक्ष को हाथ ऊपर कर देती थी। इस प्रकार गांव की उपज का एक छोटा-सा भाग बाहर निकल कर उन नागरिक क्षेत्रों में पहुंच जाता था जहां उसकी खपत होती थी। लेकिन यह व्यापार एकतरफा कारोबार ही था। राजस्व के रूप में निकलनेवाले धन के बदले में कुछ नहीं मिलता था और इस प्रकार ग्रामीण पक्ष को प्रतिदान शून्य निर्यात की हानि उठाना पड़ती थी।

एक ओर ग्राम की आत्मनिर्भरता और दूसरी ओर भारी कर व राजनीतिक स्थिति के पिछड़ेपन व्यापार के विस्तार में प्रतिरोध पैदा करनेवाले तत्त्व थे।

गांव बाहर से बहुत कम चीजें मंगाता था और जो चीजें उसे बाहर भेजना पड़ती थीं वे ज्यादा भाग भरकम और कम मूल्य की होती थीं। इसलिए लम्बी दूरी का अन्तर्देशीय व्यापार कभी भी विशेष व्यापक नहीं रहा। लेकिन वस्तुओं का कुछ संचरण प्रान्त से प्रान्त में अवश्य होता था—उदाहरणार्थ बंगाल सूत, गेहूं, शक्कर, अफीम और नमक मंगाता था और अपना रेशम तथा चावल भारत के विभिन्न भागों को भेजता था। गुजरात अन्न मंगाता था और नाना कपड़े का थान बाहर भेजता था। पूर्वी-पश्चिमी तटीय प्रदेश चावल, शक्कर तथा मक्खन मंगाते थे और नमक तथा मिर्च बेचते थे। दुनाव, बयाना और मेरठ से नील इकट्ठा किया जाता था और बन्दरगाहों को भेज दिया जाता था।

कुल मिला कर देश के आकार और उसकी आबादी की तुलना में माल का आवागमन पर्याप्त नहीं था। इसके बहुत-से कारण थे : यातायात-साधनों की खराबी; स्थानीय यातायात का कठिन और महंगा होना; क्षमताकर अन्तर्देशीय प्रथाओं की अधिकता; अठारहवीं शताब्दी की अराजक राजनीतिक अवस्थाएं; व्यापार में खतरा और ग्रामीण आबादी का निम्न स्तर। पक्की सड़कें या नहीं और आवागमन भारवाही पशुओं के ही द्वारा होता था।[1]

(2) ग्राम-प्रशासन

गांव का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य था प्रशासन। इसके दो पक्ष थे : आन्तरिक और बाह्य। ग्राम-संस्था शान्ति और सुरक्षा कायम रखती थी और पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा न्यायपालिका के कर्तव्य पूरे करती थी। इस दृष्टि से वह एक स्वायत्त इकाई थी और इसके लिए ग्राम-पंचायत उसका साधन था।

ग्राम-पंचायत जाति-पंचायत से पृथक् था और मध्ययुग में उसकी परम्पराएं उत्तर में यदि पूरी तरह नष्ट नहीं हो गई थीं तो धुंधली अवश्य पड़ गई थीं। दूसरी ओर राजस्थान और सुदूर दक्षिण में ग्राम-पंचायतें अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक विद्यमान रहीं यद्यपि उस समय तक उनकी प्राचीन शक्ति लुप्त हो चुकी थी। उनका प्रधान

1 गाइन के 'रेवेन्यू मैनुअल' के अनुसार, दक्खन में बैलगाड़ी अंग्रेजों-द्वारा सन 1835 में चालू की गई

राय न्यायिक था। अधिकांश दीवानी मामले और छोटे फौजदारी मुकदमे न्याय के लिए उनके सामने पेश होते थे। हिसाब किताब, लेन-देन अथवा ऋण आदि सभी प्रकार के समझौतों में पक्ष होनेवाले अभियोग, व्यक्तिगत अथवा वास्तविक सम्पत्ति से सम्बन्धित मुकदमे, मामलों अथवा पानी के बटवारे विषयक झगडे, कब्जा कर लेने अथवा परम्परागत अधिकार से प्रेरित भूमि-सम्बन्धी दावे, जातियों के बीच के झगडे, स्थापित प्रथाओं के उल्लंघन, विवाह-वचनों के उल्लंघन, गोद-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा तथा उपहार, दान अथवा उत्तराधिकार से प्राप्त उपाधियों से सम्बन्धित संघर्ष—ये सब महाराष्ट्र में उन्हीं के सामने पेश किए जाते थे।

कुछ स्थानों पर पंचायत ग्रामीण जनता-द्वारा समय-समय पर चुनी जानेवाली एक स्थायी संस्था थी। दूसरे स्थानों पर अवसर पड़ा होने पर ही अस्थायी तौर पर उसे चुन लिया जाता था। वादी और प्रतिवादी पक्ष कुछ व्यक्तियों (दो से बीस तक) का नाम ले देते थे और स्थानीय सरकार के अधिकारी कार्यवाही का निरीक्षण करने के लिए एक पंच नियुक्त कर देते थे। पैसे के लेन-देनवाले मामलों में सुप्रसिद्ध बनियों को सहायता के लिए बुलाया जाता था और धार्मिक झगडों में शास्त्री पंचायत में सम्मिलित होते थे। कठिन मुकदमों में जब कानूनी गुत्थियाँ पड़ जाती थीं, पूरी पंचायत ही विद्वान शास्त्रियों से निर्मित की जाती थी।

गाँव का पटेल अथवा मुकद्दम वह व्यक्ति होता था जिस पर पंचायत का बुलाना निर्भर करता था। परिवार के अन्दर जब कोई झगड़ा पेश होता था तब पटेल उचित वार्ता-विचार द्वारा उसका निर्णय करने का प्रयत्न करता था। यदि वह इसमें विफल रहता था और सम्बद्ध पक्ष पंचायत की माँग करते थे तब वह पंचायत बुलाए जाने की अनुमति दे देता था। जब तक वह अन्य दृष्टियों से बहुत महत्त्व का व्यक्ति नहीं होता था तब तक सदस्यों के नाम स्वयं नहीं तय कर सकता था। लेकिन किसकी गवाही की आवश्यकता हो, उसे उपस्थित होने का आदेश वह दे सकता था।[1] लेकिन पटेल की शक्ति पंचायत को बनाने तक ही सीमित थी। वह निर्णय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यदि सम्बन्धित पक्ष मध्यस्थों अथवा अपने मित्रों-द्वारा फैसला कराने के लिए तैयार हो जाते थे तब भी वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

पंचायत की सदस्यता किसानों-सहित सबके लिए खुली थी। सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि उन लोगों को चुना जाए जो जीवन से सम्यक् रूप से परिचित हों और जो मानव प्रकृति के अनुभव पर आधारित ऊँचा ज्ञान रखते हों।

सम्बन्धित पक्षों को यह अधिकार था कि वे सदस्यों को चुनौती दें और उनको बदल देने की माँग करें। गवाहों की उपस्थिति अनिवार्य थी—अनुपस्थित होने पर उन्हें जुर्माना भरना पड़ता था। पंचायत के सदस्यों के लिए कोई शुल्क नियत नहीं था लेकिन पक्षों से आशा की जाती थी कि वे खर्च दें। वादी को यह वचन देना पड़ता था कि पंचायत बुलाने के लिए स्थानीय अधिकारी को वह एक राशि देगा, लेकिन इसका कोई मापदण्ड नियत नहीं था।

न्याय-सम्बन्धी पद्धति बहुत सरल थी। वादी और उसके द्वारा प्रतिवादी झगड़े के

---

1 पार्लियामेंटरी 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम द रिकार्ड्स ऐट द ईस्ट इण्डिया हाउस', खंड 4 पृष्ठ 285

ार में अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे। फिर गवाह बुलाए जाते थे और यदि आवश्यकता पड़ती थी, तो वे शपथ लेते थे। यदि किसी स्थान पर स्पष्टीकरण की जरूरत पड़ती थी तो गांव के पटवारी को स्थिति स्पष्ट करने के लिए वहां जाता था। पंचायत का निर्णय उचित विचार-विमर्श के बाद ही दिया जाता था। अभियोग में जीतनेवाले को ही साधारणतया डिगरी लागू करने का भार सौंपा जाता था। यदि वह विफल रहता तो स्थानीय कर्मचारियों की सहायता ले सकता था। वकीलों का कोई रिवाज नहीं था। वादी प्रतिवादी के बीच समझौते के तथा निर्णय-पत्र अथवा आदेश-पत्र के सिवाय कार्यवाहियों का कोई लिखित विवरण नहीं रखा जाता था।

पीड़ित पक्ष को उच्चतर अधिकारी के पास—पटेल से (सब डिवीजन) के शिकदार अथवा परगने (जिला) के मामलतदार के पास—अपील ले जाने का अधिकार था। यदि वे अपील के औचित्य से सन्तुष्ट होते, तो झगड़े का निर्णय करने के लिए दूसरी पंचायत नियुक्त कर देते थे। जब कभी आदेश अथवा दण्ड भ्रष्टाचार अथवा सदस्यों के दुर्व्यवहार से प्रेरित होता था अथवा उसमें न्याय अथवा प्रथा की कोई गम्भीर उपेक्षा निहित रहती थी तब एक नई पंचायत का आदेश दे दिया जाता था।

हर गांव एक स्वशासी इकाई था जो सकेन्द्रित संस्थाओं के एक सोपानिक क्रम के माध्यम से सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता से जुड़ा रहता था। गांव वह नींव था जिस पर राज्य का पूरा ढांचा आश्रित था। यह धन देता था जिस पर सरकार की सक्रियता निर्भर करती था। राज्य को राजस्व की मांग उसके प्रमुख सम्पर्क में लाती थी।

भूमि राजस्व का संगठन मध्य-युगीन सरकारों के राजनीतिक निर्माण में स्वभावत ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखता था क्योंकि इस संस्था की मजबूती और कुशलता पर ही राज्य का जीवन और उसकी शक्ति निर्भर थी।

भारत के विभिन्न भागों में भूमि राजस्व की पद्धति में भारी विषमता थी लेकिन यह विषमता सामान्य मूलभूत योजना को प्रभावित नहीं करती थी। प्रमुख अन्तर किसान और राज्य के बीच वर्तमान बिचौलियों से सम्बन्धित था।

मोटे रूप में दो प्रकार के गांव थे उत्तर के और दक्षिण के। उत्तर की किस्म में जो सिंधु-गंगा के मैदान में पाई जाती थी, गांव की उपज के तीन प्रधान हिस्सेदार थे उत्पादक, बिचौलिये (जमींदार और जागीरदार) तथा राज्य। दक्षिणी किस्म अथवा केन्द्रीय पठार, दक्कन और तटीय प्रदेशों के गांवों में उपज मुख्यतः दो पक्षों में बांटी जाती थी किसान और राज्य। इस बात की पूरी सम्भावना है कि यह विभाजन मुस्लिम विजय का परिणाम था।

लेकिन इन दोनों प्रकार के ग्रामों में दो तरह के लोग रहते थे। वे, जो राजस्व देते थे और वे जो नहीं देते थे। दूसरे वर्ग में वे लोग थे जो गांव की आवश्यकताओं को पूरा करते थे (1) दान लेनेवाले—पुजारी विद्वान् ज्योतिषी तथा मस्जिदों मन्दिरों और मकबरों के सेवक, (2) विधवाएं और पेंशन पानेवाले (3) गांव के सेवक—हरकारे चौकीदार, फसल के रक्षक, भिश्ती, सीमा के रखवाले (4) गांव के कारीगर और सेवक—कुम्हार ठठेरे चमार, बढ़ई धोबी नाई दुकानदार नतनिया महतर, आदि (5) भूमिहीन श्रमिक और दरिद्र लोग जैसे कि फकीर और भिक्षुक। दक्षिणी ग्रामों में सेवक और कारीगर बाराबलूता (अन्न में हिस्सा लेनेवाले बारह वर्ग) कहलाते थे।

राजस्व अदा करनेवाले लोगों में ब्राह्मण से अछूत तक विभिन्न जातियों के काश्तकार तथा वहां न रहनेवाले किसान—जिनका घर एक गांव में लेकिन खेती के लिए ठेके पर ली हुई जमीन दूसरे गांव में होती था—सम्मिलित थे। फिर इनमें जमींदार भी हो सकते थे—वे छोटे जमींदार जो अपनी जमीनें स्वयं जोतते थे और वे बड़े जमींदार जो अपने खेत असामियों से जुतवाते थे। यह वर्ग उत्तर के ग्रामों में सामान्य था, पर दक्षिण में अपवाद रूप में था। इन्हें उत्तर में जमींदार, गुजरात में गिरासिया कोंकण में खोट और बरार में मालगुजार कहा जाता था।

इन दो वर्गों के अतिरिक्त ग्राम और राज्य के कुछ अधिकारी भी गांवों में रहते थे।

इन सबमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण था धरती को जोतनेवाला यह किसान जिसके श्रम और पसीने से यह विशाल समाज-यन्त्र गतिशील रहता था। एटलस की तरह वह राज्य के असह्य भार को अपनी पीठ पर ढोता था। समस्या यही थी कि सदा बढ़ते रहनेवाले इस बोझ को ढोने के लिए उसे तत्पर कैसे रखा जाए।

आज के युग में अनुशासन और व्यवस्था कायम करने के लिए अन्तिम उपाय के रूप में ही शक्ति का प्रयोग किया जाता है। उस युग की अवस्थाओं में शक्ति प्रयोग सरकार का सामान्य शस्त्र था। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए आन्तरिक शान्ति भंग करनेवाले और उद्धत लोगों के विरुद्ध निरन्तर सतर्कता शासक के लिए बहुत आवश्यक थी। सतर्कता उन लालची पड़ोसियों के विरुद्ध भी जरूरी थी जो उसकी दुर्बलताओं और कठिनाइयों का लाभ उठाने के लिए सदा तैयार रहते थे। शक्ति और सम्मान सत्ता के परिचायक थे। चमचमाते शस्त्रों और आतंक पैदा करनेवाली साज-सज्जा से युक्त सेना का काम ही शक्ति प्रदर्शन था। और, सम्मान उन सार्वजनिक कार्यों से बढ़ सकता था जिनसे शान शौकत प्रचुरता वैभव और शक्ति टपकती हो।

युद्ध और शान्ति के इन स्तम्भों का ठोस आधार था गांव का किसान।

दानों (ग्रामीण) और प्रापक (राज्य), दोनों के ही लिए स्थिति गुत्थियों से भरी थी। सरकार की कठिनाइयां दुहरी थीं (1) किसान से अधिकतम धन कैसे खींचा जाए, (2) सैकड़ों हजारों झोपड़ों और विशाल महाद्वीप में बिखरे गांवों में रहनेवाले एक-एक किसान से आय की नन्हीं नन्हीं बूंदों को कैसे इकट्ठा किया जाए।

आदिम कालीन तरीकों से काम करनेवाला किसान इतना कठोर श्रम करने पर विवश था, जिसका प्रतिफल बहुत ही नगण्य था। अपनी उपज से उसे कृषि के निश्चित देय तथा सरकार का कर चुकाने पड़ते थे। जो बचता था वही उसके कष्टों का पारिश्रमिक था। हिसाब लगाने पर पता चला है कि कुल उपज का पच्चीस प्रतिशत भाग खेती के व्यय में और पांच से पन्द्रह प्रतिशत तक निर्दिष्ट देनदारियों में चला जाता था और किसान एवं उसके परिवार के वर्ष भर के भरण-पोषण के लिए तथा राज्य की मांग को पूरा करने के लिए साठ प्रतिशत बच रहता था। किसान की उपज की अल्प मात्रा का ध्यान में रखते हुए उसका कौन-सा अंश सरकार को अर्पित किया जाता है यह बात भारी महत्त्व रखती थी।

स्थिति का सबसे अधिक उत्तेजक पक्ष यह था कि गरीब करदाता जो धन देता था, उसके प्रयोग के बारे में पूरी तरह अंधेरे में रहता था। अदायगी के औचित्य के विषय में जो बात उसे ज्ञात थी, वह थी प्रथा परम्परा और एक रहस्यमय विश्वास कि उसका

देय उनके जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन है। वास्तव में उसकी अनगिनत पीढ़ियां अपनी इस उपज में से राजा को हिस्सा देने की अभ्यस्त हो गई थीं। ऋषियों ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि राजा 'प्रजा की सम्पन्नता के लिए उपज का अंश उसी प्रकार ले लेता है जैसे सूर्य हजार-गुना करके धरती को लौटा देने के लिए उससे जल सोख लेता है।'[1] अबुल फज़ल, जो समाज के चार भागों में से एक किसान को मानता है, लिखता है, "उनके श्रम से जीवन-बेल में परिपूर्णता आती है और उनके कार्य से शक्ति और सुख निःसृत होता है।' उसके विचार में, सरकार का वही "प्रतिनिधि श्रेष्ठ है जो किसान की रक्षा करता है, प्रजा की देखभाल करता है, देश का विकास करता है और राजस्व को बढ़ाता है।"[2]

इन भावनाओं की उच्चता के बावजूद तथ्य यह है कि अठारहवीं शताब्दी में भारतीय किसान का जीवन दरिद्र, घिनौना, कष्टप्रद और अनिश्चित था।

राज्य और ग्राम के बीच लुका छिपी का एक खेल निरन्तर चलता रहता था। एक ओर सतत वृद्धिशील मांगें थीं और दूसरी ओर अनवरत टाल-मटोल। राज्य चाहता था कि इतना अधिक कर वसूल कर लिया जाए कि किसान के पास मात्र गुजारे-लायक ही बच सके। औरंगजेब के आदेश इस प्रकार थे, "जो भी व्यक्ति अपना खेत जोतता है उसके लिए उतना छोड़ दिया जाए, जितना अगली फसल कटने के समय तक उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण तथा बीजों के लिए आवश्यक हो। बाकी सब भूमि-कर है जो सरकारी खजाने में चला जाएगा।"[3]

यह नीति आत्मघाती थी क्योंकि यह उस मुर्गी को ही मार डालनेवाली थी, जो सोने के अण्डे देती थी। उपज को बढ़ाने अथवा कृषि के तरीकों को सुधारने के लिए यह कोई प्रोत्साहन बाकी नहीं छोड़ती थी।

वार्षिक व्यय की राशि को जानते हुए सरकार की समस्या यह रहती थी कि उसके लिए आवश्यक पर्याप्त राजस्व राशि कैसे जुटाई जाए। एक निश्चित स्थिर और कमीबेशी न घटने-बढ़नेवाली राशि ही अभीष्ट थी। भूमि-कर ही वह प्रधान स्रोत था जिससे कमी पूरी होती थी। भूमि की उपज में हिस्सा लेने के राज्य के अधिकार पर कोई उंगली नहीं उठाता था। राज्य का अंश कितना हो यह समय-समय पर और शासक शासक के अनुसार बदला जाता था। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार राज्य को बारहवां अथवा आठवां और संकट के समय चौथाई अंश तक लेने का अधिकार था। लेकिन साधारण दर छठा भाग प्रतीत होती है। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इसी की पुष्टि की है। तेरहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी ने उपज का आधा भाग तक उगाहा है। शेरशाह ने इसे कम करके प्रति बीघा औसत उपज का एक तिहाई कर दिया था। अकबर ने शेरशाह की ही दरों का अनुसरण किया। लेकिन औरंगजेब के समय में इसे बढ़ा कर फिर आधा कर दिया गया और मुगल-साम्राज्य के अन्त तक यही दर लागू रही।

उस जमाने में यह जानना आवश्यक था कि कुल उपज क्या है ताकि उसका निश्चित

---

1 कालिदास, 'रघुवंश', सर्ग 1, 18

2 'आइने-अकबरी' (ब्लाकमैन-द्वारा अनूदित), कलकत्ता 1927, पृष्ठ 4 और 7

3 'इण्डिया, इट्स ऐडमिनिस्ट्रेशन ऐण्ड प्रोग्रेस' (तीसरा संस्करण) पृष्ठ 126, सर जान स्ट्रैची-द्वारा उद्धृत। फर्मिगर की 'फिफ्थ रिपोर्ट' के पृष्ठ 38 पर भी उद्धृत

प्रतिशत सरकारी कोष में अनिवार्यतः जमा हो सके। इस समस्या के तर्कसम्मत उत्तर में ये बातें सम्मिलित थीं : (1) हर किसान के खेतों की अलग-अलग नपाई, (2) धरती और फसल के स्वरूप का ध्यान रखते हुए खेत की हर इकाई (बीघा) की उपज का औसत अनुमान, (3) प्रति बीघा की हर फसल के कुछ वर्षों के औसत मूल्य के आधार पर उपज के मूल्य का निर्धारण, (4) बोए हुए खेतों की विषमताओं के लिए तथा प्रतिकूल प्राकृतिक अवस्थाओं अथवा संकटों के लिए आवश्यक छूट देते हुए इन दरों और गणनाओं के आधार पर हर किसान से प्रति वर्ष लगान की वसूली।

सार-रूप में यही तरीका था, जिसे अकबर ने सिंधु-गंगा के मैदानों और केन्द्रीय उच्च भूमि के हिस्सों में फैले अपने साम्राज्य के कितने ही प्रान्तों में लागू किया। बाद में जीते गए बंगाल को इस पद्धति से बाहर रखा गया और दक्कन भी इससे बाहर रहा, क्योंकि वह साम्राज्य में नहीं था। अकबर के तरीके के अनुसार, भूमि-कर का अनुमान लगाने के मापदण्ड कुछ ऐसे थे, जो सरकार और किसान, दोनों के अनिश्चय को कम कर देते थे और दोनों के हिस्सों की गणना के लिए एक स्थायी नगद आधार प्रस्तुत करते थे। ये इस तरह बनाए गए थे कि इनसे कीमतों के मौसमी उतार-चढ़ाव तथा अन्न को समतुल्य नगदी में परिवर्तित करने में होनेवाला कष्टकर विलम्ब नहीं हो पाता था। मूल्यांकन की पद्धति और इसके अनुसार तैयार किए गए माँग के चिट्ठे सभी ज़मीनों पर लागू होते थे। खालसा अथवा बादशाह की सुरक्षित ज़मीनें, जो सरकारी अधिकारियों-द्वारा सीधे प्रशासित होती थीं, और वे सार्वजनिक ज़मीनें, जो जागीर अथवा नगद के रूप में दान और अनुदान भोगियों को उपहार तथा वेतन बाँटने के लिए धन राशि जुटाती थीं, इनमें शामिल नहीं थीं। इन दूसरी प्रकार की ज़मीनों का प्रबन्ध निजी कारिन्दों-द्वारा किया जाता था।

भूमि-कर के अनुमान और संग्रह के लिए एक विशद संगठन तैयार किया गया था। राजस्व-मन्त्रालय के अधीन उच्चतम स्तर पर दो दीवान थे : दीवाने खालसा जो शाही ज़मीनों का प्रबन्धक था और दीवाने-तान जो जागीरी ज़मीनों की देखभाल करता था। दीवान के अधीन प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय दीवान होते थे जिनसे संलग्न कर्मचारी तीन विभागों में बँटे होते थे : एक राजस्व का निर्धारण करनेवाला, दूसरा संग्रह करनेवाला और तीसरा राज्य-कोष से सम्बन्धित। प्रान्त सरकारों में विभक्त थे, जो छोटे अधिकारियों के अधीन थीं। एक सरकार में कितने ही परगने होते थे, जिनमें से प्रत्येक में कानूनगो, चौधरी और कारकुन नामक अधिकारी होते थे। एक परगने में सम्मिलित गाँवों के ऊपर एक मुकद्दम होता था, जो राजस्व इकट्ठा करता था, और एक पटवारी होता था, जो उसका ब्योरा रखता था।

गाँवों की उत्तर की किस्म में मुकद्दम अथवा ग्राम-प्रमुख, जो स्वयं एक किसान होता था, सरकार और ग्राम के बीच मध्यस्थ का काम करता था। वह किसानों से राजस्व इकट्ठा करने और ग्राम पर लगी माँग की अदायगी के लिए उत्तरदायी होता था। उसका पद वंशानुगत होता था और वह अपनी सेवाओं के बदले में संग्रह का ढाई प्रतिशत पाने का अधिकारी था।

जागीरी ज़मीनों में यदि जागीर बड़ी होती थी, तो जागीरदार का कारिन्दा भूमि-कर संग्रह करता था, अन्यथा जागीरदार किसी किसान को नियुक्त कर देता था।

जागीरदारों के अतिरिक्त जमींदार थे जो भूमि पर वंशानुगत अधिकार भोगते थे। कुछ स्थानों पर जमींदार एक अकेला व्यक्ति होता था और दूसरे स्थानों पर एक दल, जिसका प्रतिनिधित्व एक प्रधान करता था। जमींदारों में प्राचीन राजाओं के वंशज भी थे जो कभी स्वतन्त्र और प्रभुसत्ताधारी थे लेकिन अब विदेशी के स्वामित्व को स्वीकार करने के लिए विवश कर दिए गए थे। उनके द्वारा देय भूमिकर, वास्तव में विशेष समझौते-द्वारा निश्चित एक भेंट होता था। लेकिन कितने ही जमींदार ऐसे थे जिनका भूमिकर अन्य किसानों की तरह ही निर्दिष्ट होता था।

दक्षिण की स्थिति में, जहां जमींदारों का अस्तित्व नहीं था और जागीरदार एक महत्त्वपूर्ण स्थिति रखते थे, व्यवस्था में मामूली अन्तर था। महाराष्ट्र में मलिक अम्बर (1605 से 1626) ने भूमि-बन्दोबस्त में जुड़ी हुई जमीनों को नापने उनके वर्गीकरण और उपज के एक-तिहाई को सरकारी भाग नियत करने की पद्धति लागू की थी। उसने जागीरों को 'खालसा' और 'इनाम' में बांट दिया था। इनाम से प्राप्त कर दान और सेवा (वतन) के पारिश्रमिक के लिए प्रयुक्त होता था। पटेल और कुलकर्णी ग्रामीण राजस्व का प्रबन्ध करते थे।

शिवाजी ने इस पद्धति में कोई सुधार किए। लेकिन मलिक अम्बर की उन्नत पद्धति के स्थान पर प्रतिरूप रख दिया—साथ ही कई चुंगियां भी माफ कर दी। अगला कदम तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव (1740–61) ने उठाया था। उसने नया सर्वेक्षण तथा फसल एव धरती का नया वर्गीकरण कराया था और नई दरें निश्चित की थीं। उसका प्रबन्ध कमाल (मानक) कहा जाता है।

मराठा प्रणाली में दो प्रकार के किसान थे मिरासदार और उपारी। प्रथम का भूमि पर वंशानुगत अधिकार था। ये अधिकार हिन्दू-कानून के अनुसार उत्तराधिकार से प्राप्त किए जाते थे और ऋण अथवा राजस्व न देने की दशा में भी इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता था। सरकार की मांग सामान्यतया अति निश्चित थी। लेकिन चुंगियां लग जाने के कारण छूट निरर्थक बन गई थी।

उपारी सरकार के ऐच्छिक आसामी थे और वर्ष के अन्त में उनके समझौते को समाप्त किया जा सकता था।

मराठा ग्राम-अधिकारी—पटेल, कुलकर्णी, चौगुले (पटेल का सहायक) और महार अथवा गांव का चौकीदार—उत्तर के ग्राम-अधिकारियों के समकक्ष स्थान रखते थे। लेकिन उत्तर के मुकद्दम के प्रतिकूल पटेल का सम्मान और उसकी सत्ता अधिक थी। वह गांव का प्रमुख अधिकारी और सरकार का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। वह ग्राम-समाज में विशेष सम्मान का उपभोग करता था। वह खेती की देखरेख करता था और उपज के स्तर को कायम रखने तथा बंजर जमीनों को खेती-योग्य बनाने के लिए उत्तरदायी था। पुलिस और मजिस्ट्रेट के भी कर्तव्य उसे निभाने पड़ते थे। वह शान्ति स्थापित करता था और अपराध का दमन करता था। गांव की सुरक्षा के समय वह नेतृत्व ग्रहण करता था। उसे सरकारी अफसरों का स्वागत तथा धार्मिक त्योहारों मेलों और मनोरंजनों का भी आयोजन करना पड़ता था।

दक्षिण-पूर्वी प्रदेश—तेलुगु और तमिल प्रदेशों—में भी गांव समान आधारों पर संगठित किए जाते थे। उनमें से अधिकतर में किसानों की तीन श्रेणियां होती थीं (1) मिरासदार (वेल्लाल वगैरह) जो पृथक रूप में अपनी जमीनों के स्वामी थे उन्हें जाते थे

और सरकारी कर (मेनावरम) अदा करते थे, (2) सेवा का पट्टा रखनेवाले (भाग वत्ति काणि), जो या तो बलूतेदार अर्थात ग्राम-सेवक थे या सैनिक, धार्मिक, शैक्षणिक अथवा अन्य प्रकार की सेवाओं के बदले में भूमि पाते थे, और (3) निष्काम दी हुई भूमि वाले (ब्रह्मदय देवदान, शालिभाग), अर्थात ब्राह्मण धार्मिक संस्थाएं आदि।

जमींदारी (मिरासी) ग्रामों की भी पट्टियां थीं, लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पोलीगर और जमींदार-जैसे प्रमुखों की कुछ विशाल रियासतों के अतिरिक्त उनका पतन हो चुका था।'[1]

इन ग्रामों में खेतिहर कुछ तो स्वामी किसान थे, जो अपनी जमीनें बेच सकते और उपहार में दे सकते थे कुछ छोटे किसान (उलकुडि) थे, और शेष सामयिक खेतिहर (पारकुदि) थे जिनका सहभागी भूमिदारों की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं होता था।

अठारहवीं शताब्दी में इन दक्षिणी ग्रामों का संगठन देश के अन्य भागों की तुलना में बहुत कम भिन्न था। वंशानुगत ग्रामसेवक, जिनमें सैनिक और कारीगर, दोनों शामिल थे, गांव के अधिकारी जिनमें पटेल, नट्टमकार मनियाकरण, नायडू, रेड्डी, पट्टाकापू, आदि नामों से प्रसिद्ध ग्राम प्रमुख होते थे और गांव का हिसाब किताब रखनेवाला कारनम—इन सबसे ग्राम-संस्था का निर्माण होता था। इनके कर्तव्य वही थे, जो उत्तर में उनके प्रतिरूप अधिकारियों के थे। सेवक और कारीगर अन्न की उपज (मेरा अथवा स्वतन्त्रम) में से अपना अंश प्राप्त करते थे और अधिकारियों का करमुक्त अथवा इनाम भूमियां मिली होती थीं तथा ग्रामीणों-द्वारा दिया गया धन भी उन्हें वेतन के रूप में मिलता था।

उपज को तीन भागों में बांटा जाता था—सेवकों और कारीगरों का भाग, जो लगभग पांच प्रतिशत होता था और सरकार का तथा किसान का हिस्सा, जो शेष का आधा-आधा भाग होता था।

अकबर की जाब्ती प्रणाली और इसी के समानान्तर मराठों की कमाल प्रणाली अठारहवीं शताब्दी में तेजी से अस्त-व्यस्त हो गई। इस प्रणाली का वास्तविक गुण इस तथ्य में निहित था कि इसने किसान को व्यक्तिगत रूप से राज्याधिकारियों के सीधे सम्पर्क में ला दिया मनमाने तौर पर घुस आनेवाले बिचौलियों की अनियमितता को सीमित किया और सरकार-द्वारा निर्दिष्ट तरीकों और सूचियों का अनुसरण करने के लिए उन्हें विवश किया चुंगियों को समाप्त किया देश में स्थिरता पैदा की, किसानों के भार को हल्का किया तथा फसलों के विस्तार और उनमें सुधार के लिए अवसर पैदा किए।

लेकिन यह व्यवस्था बहुत महंगी थी और तभी काम दे सकती थी, जब केन्द्र में अविच्छिन्न सतर्कता हो और भूमि राजस्व के कर्मचारियों में ईमानदारी और कुशलता हो। दुर्भाग्यवश अठारहवीं शताब्दी के मुगल-सम्राट निर्धन थे, उनके खजाने खाली पड़े थे और उनके अधिकारियों के वेतन सदा बकाया रहते थे। गद्दी पर बैठनेवाले सम्राट असमर्थ सुस्त और निकम्मे तथा सदैव राजद्रोही स्वार्थी और अयोग्य थे।

अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन अवस्थाओं में प्रशासन टूट कर बिखर गया। अकबर का लक्ष्य था कि हर किसान के साथ भूमि कर के बारे में एक पृथक समझौता (पट्टा और कबूलियात) किया जाए और रसीदें बड़े लोगों को इकट्ठी दे दी जाए। लेकिन

1 बेडेन-पावेल, 'लैंड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया', 1892 खण्ड 3, पृष्ठ 133-38

अठारहवीं शताब्दी में गांव और राज्य के बीच का यह सम्बन्ध टूट गया, यद्यपि गांव एक राजस्व इकाई के रूप में बना रहा। राज्य ने समूचे गांव के साथ व्यवहार करना और ग्रामपति के साथ समझौता करके व्यक्तिगत करों के संग्रह को उस पर छोड़ना शुरू कर दिया। इस प्रकार ग्रामों की आत्मनिर्भरता और उनकी पृथकता निश्चित हो गई और एक राजनीतिक संगठन में दोनों को परस्पर बांधनेवाले सूत्र दुर्बल पड़ गए।

दूसरे, भयंकर बात जो पनपी, वह थी जमींदारी प्रथा का विकास। अकबर ने स्वयं ही इसमें असन्तोष प्रकट किया था। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों के अधीन यह प्रथा विषाक्त पौधों की तरह धरती को ढकती और उसकी सांसों को अवरुद्ध करती हुई फैली। कितने ही कारणों ने इसे बढ़ावा देने का षड्यन्त्र रचा। इनमें प्रधान था जागीरों का अपरिमित विस्तार। जैसे-जैसे जागीरें बढ़ीं, उनका मूल्य घटता गया। इन पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखने में असमर्थ जागीरदारों ने भी जमींदार नियुक्त कर दिए, जो अत्याचारपूर्ण तरीकों से राजस्व वसूल करते थे। वे एक निर्दिष्ट राशि जागीरदार को देते थे और शेष अपने पास रख लेते थे। अब अन्य बिचौलिये और उनके जमींदार तथा अधिकारी तक गांवों के वंशानुगत स्वामी बन बैठे। इस प्रकार ताल्लुकेदारों और जमींदारों का एक वर्ग बन गया, जिसने स्वामित्व के अधिकारों को हथिया लिया और जो लगभग प्रभुसत्तात्मक सुविधाओं का दावा करने लगा। उदाहरण के लिए ताल्लुकेदारी भूमियों का उत्तराधिकार उन नियमों से प्रशासित होने लगा जो साधारण व्यक्तियों पर नहीं, राजाओं पर लागू होते थे, ताकि स्वामी की मृत्यु के बाद जायदाद उत्तराधिकारियों में बांटी न जा सके, जैसा कि हिन्दू और मुस्लिम उत्तराधिकार नियमों के अनुसार होना चाहिए था। इन झूठे कपटपूर्ण प्रयासों ने केन्द्रीय सत्ता को आघात पहुंचाया और अराजकता को बढ़ावा दिया।

तीसरा अध्याय

भारत की राजनीतिक प्रणालिया

1 राज्य-व्यवस्था

यह सत्य है कि पूरे मध्य-काल मे भारत का राज्याध्यक्ष मुसलमान ही रहा,[1] परन्तु राज्य-व्यवस्था इस्लामी नही रही। राज्य ने, न तो अपने सरचनात्मक सिद्धान्तो में और न ही अपनी बुनियादी मान्यताओ, उद्देश्यो अथवा लक्ष्यो में इस्लामी धर्म ग्रन्थो 'कुरान हकीम अथवा सुन्नी विधिशास्त्र के चारो सम्प्रदायो-द्वारा वर्णित नियमों में दिए गए निदेशो का पालन किया। भारत की मध्य-कालीन राज्य-व्यवस्था को धर्मतान्त्रिक कहना भूल है, क्योकि उसमें मुस्लिम धर्मवेत्ताओ के निदेशन के अनुसार काम नही होता था। शासक के व्यक्तिगत धर्म का उसकी सरकारी नीतियो के साथ कोई सम्बन्ध न था।

तरहवी शताब्दी से ही भारत के प्राय प्रत्येक मुसलमान बादशाह ने 'शरीयत के निदेशानुसार शासन-कार्य चलाने की असम्भवता का सकेत करते हुए उक्त रीति से राज-काज चलाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। भारत के मुगल-पूर्व बादशाहो में अल्तमश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक ऐसे व्यक्ति रहे जिन्होने भारत में मुस्लिम विधि-व्यवस्था लागू करने के औचित्य पर सन्देह प्रकट किया। आश्चर्य की बात है कि उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला व्यक्ति-एक उलमा—इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी—था। अपनी पुस्तक 'फतवाए जहादारी' में जिसमें राजनीति के सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है उसने कहा है 'सच्चे धर्म का अर्थ है पैगम्बर के चरण चिह्नो पर चलना परन्तु इसके विपरीत, शाही शासन केवल खुसरो परवेज और ईरान के महान बादशाहो की नीतियो का अनुगमन करके ही चलाया जा सकता है।' उसने स्वीकार किया कि पैगम्बर मुहम्मद की परम्पराओं (सुन्नत) तथा जीवन-यापन के उनके ढग और ईरानी बादशाहो के तौर-तरीको तथा जीवन-यापन के ढग के बीच पूर्ण असगति और विरोध है।" उसने यह उल्लेख अवश्य किया है कि शरीयत'—परमात्मा के आदेश—का पालन राज्य के मामलो में केवल अपवादतुल्य अवसरो पर किया जा सकता है। मुहम्मद शारा' को इसलिए लागू कर सके कि वह परमात्मा से प्रत्यक्षत प्रेरित थे और पहले चार खलीफा ऐसा करने में इसलिए समर्थ हो गए कि वे पैगम्बर के साथी थे। परन्तु उनके उत्तराधिकारियो के सामने ऐसे दो विकल्प आ उपस्थित हुए जिनके बीच समझौता हो ही नहीं सकता था। वे विकल्प थे—पैगम्बर की परम्पराए और ईरानी बादशाहो की नीति। वास्तविक स्थिति यह है कि पैगम्बरी धर्म विषयक परिपूर्णता की द्योतक है और बादशाहत सासारिक ऐश्वर्य की परिपूर्णता का। ये दोनो परिपूर्णताए प्रतिकूल तथा परस्पर विरोधी है और उनका सगम सम्भावना की सीमा मे परे है।[1]

1 देखिए, 'फतवाए जहादारी', 'मिडीवल इण्डिया क्वाटरली' के खण्ड 3, अक 1 और 2, जुलाई-अक्तूबर 1957, में प्रोफेसर हबीब और डा० अफसर बेगम-द्वारा किया गया अनुवाद, पृष्ठ 55

किसी उलेमा ने अल्तमश के पास आकर कहा था कि हिन्दू 'अहलेकिताब' नहीं हैं और इसीलिए उन्हें 'जिम्मियों' की भाँति इस्लाम के संरक्षण में नहीं लिया जा सकता। अतः, उन्हें इस्लाम ग्रहण करने के लिए कहा जाना चाहिए और उनके ऐसा न करने पर उन्हें तलवार के घाट उतार देना चाहिए। अल्तमश ने इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपने वजीर का उत्तर जानना चाहा। वजीर ने कहा कि इस प्रार्थना को कार्यरूप देना असम्भव है। जहाँ तक बलबन का सम्बन्ध है इतिहासकार निजामुद्दीन ने कहा है 'वह (धर्म विषयक मामलों की अपेक्षा) राज्य विषयक मामलों को तरजीह देता था।'[1] बरनी का कथन है कि दण्ड देने और शाही अधिकार का प्रयोग करने में वह परमात्मा का भय छोड़कर काम चलाता था और जिस बात को शासन के लिए हितकर समझता था, चाहे वह शरा' के अनुकूल हो या नहीं उसे कार्यरूप दे दिया करता था।[2] काजी मुगीसुद्दीन के साथ हुआ अलाउद्दीन का वाद-विवाद प्रसिद्ध ही है। काजी से विदा होते समय उसने कहा था 'मैं जिस बात को शासन के लिए हितकर और समय की आवश्यकता समझता हूँ उसी के लिए आदेश देता हूँ। मैं नहीं जानता कि कयामत के दिन वह सर्वेश्वर मेरे साथ क्या सलूक करेगा।

मुहम्मद तुगलक के बारे में श्री अब्दुर रहमान ने जोर देकर कहा है कि 'उसने अधिकार को हक के आश्रित कर लिया था और सुनी सुनाई बात को युक्ति संगति के अधीन। यहाँ 'अधिकार' का प्रयोग 'कुरान' और 'हदीस' के लिए और सुनी सुनाई बातें का प्रयोग फिक के लिए किया गया है।' बरनी ने शिकायत भरे स्वर में कहा है, 'उसकी (मुहम्मद तुगलक की) राजधानी में पैगम्बरी और सल्तनती दोनों तरह के आदेश जारी किए जाते थे और उसने (अपने व्यक्तित्व में) बादशाह तथा पैगम्बर, दोनों के आदेशों को एकाकार कर लिया था।'

प्रोफेसर हबीब ने निष्कर्ष-स्वरूप कहा है 'यह सच है कि मुसलमान बादशाह जिनमें से अधिकतर विदेशी वंश के थे कोई छः-सात सौ साल तक भारत के राजसिंहासनों पर बैठे पर वे इसीलिए ऐसा कर पाए कि उनके राज्याभिषेक का अर्थ 'मुस्लिम शासन' का राज्याभिषेक नहीं था। यदि ऐसा न होता तो उनका शासन एक पीढ़ी तक भी न चल पाता।'[3]

मुगल बादशाहों में से बाबर को बहुत थोड़े समय तक हुकूमत करने के कारण और हुमायूँ को बहुत अधिक कठिनाइयों में फँसे रहने के कारण प्रशासनिक बातों की ओर ध्यान देने का अवसर कम ही मिला। अकबर ने एक ऐसी राजनीति का समारम्भ किया जो इस्लाम के आदर्शों पर आधारित नहीं था। सभी धर्मों के प्रति उसकी सहानुभूति थी और धर्म के आधार पर अपनी प्रजाजनों में किसी प्रकार का भेदभाव न करना वह अपना कर्तव्य समझता था। गैर-मुसलमानों के लिए उसने [illegible] सुलभ किए। उसने हिन्दू राजकुमारियों के साथ विवाह किए और

---

1 निजामुद्दीन अहमद, 'तबकाते अकबरी' (डी० डे द्वारा सम्पादित मूल पाठ) खण्ड 1, पृष्ठ 82

2 जिया बरनी, 'तारीखे फिरोजशाही' (मूल पाठ)

3 हबीब, ऊपर उद्धृत 'मिडीवल इण्डिया क्वार्टरली', पृष्ठ 5

न्हें अपना धर्म बनाए रखने तथा राजमहल में हिन्दू रीति रिवाजों का पालन करने की छूट दी। उनके पुत्र मुगल राजसिंहासन के उत्तराधिकारी बने। जिन बातों के सम्बन्ध में मुजतहिदों (मुस्लिम धर्माचार्यों) में मतभेद सम्भव हो उन पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार स्वयं ग्रहण करके अकबर ने उलमाओं का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया। अनेक सामाजिक तथा अन्य बातों में उसने अपने गैर-मुस्लिम प्रजाजनों की भावनाओं तथा परम्पराओं के प्रति आदर भाव व्यक्त किया। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, उसके द्वारा किया गया जजिये का अन्त। अबुल फज़ल ने कहा है 'बादशाहत खुदा की देन है ... और इस ऊंचे और शानदार रुतबे पर पहुंच कर जो व्यक्ति विश्व शान्ति (सहिष्णुता) का समारम्भ नहीं करता और सभी दर्जों के मनुष्यों तथा सभी प्रकार के धर्मों के प्रति कृपादृष्टि और आदर भाव नहीं रखता—ऐसा नहीं कि किसी के प्रति अपनी मां का व्यवहार करे और दूसरों के प्रति सौतेली मां का—तो वह उस ऊंचे और शानदार रुतबे के काबिल नहीं है।'[1] उसने आगे चल कर यह भी कहा है 'धर्मगत अन्तरों के कारण उसे संरक्षण के अपने कर्तव्य से विरत नहीं होना चाहिए और सभी वर्गों के मनुष्यों का सहारा बनना चाहिए, ताकि खुदा का वह प्रतिबिम्ब ज्योति की वर्षा कर सके।'[2] अतः 'इब्न हसन के शब्दों में 'इस्लामी विधि-व्यवस्था और हदीस, दोनों ही शासन-महिमा नहीं बन रह सके।'[3]

जहांगीर अपने पिता के सोचे-साचे में तो नहीं ढला था, फिर भी वह इन्हीं सिद्धान्तों की मूल भावना के अनुसार काम करता रहा। शाहजहां ने अपने प्रारम्भिक वर्षों में एक भिन्न पथ अपनाया और वह धर्मान्धता की कुछ बुरी-से-बुरी बातों को फिर चालू कर बैठा पर बाद के वर्षों में वह कोमल चित्त हो गया और उसका मूर्ति ध्वंसक उत्साह फीका पड़ गया।

दुर्भाग्यवश औरंगज़ेब ने अकबर की नीति को उलट दिया, पर इच्छा करने पर भी वह शरा (तलवारी कानून) की सर्वोच्चता स्थापित करने में सफल न हो सका। उसके कालीन वर्षों के मिथ्यानिर्देशित प्रयत्नों का अन्त पूर्ण विफलता में हुआ। अन्तिम दिनों में निराशा और खेद ने उसकी आत्मा पर अधिकार कर लिया और उसने अपने मस्तिष्क में उथल-पुथल मचाती विनाश की पूर्वकल्पनाओं के साथ प्राण त्यागे। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने यह घातक मार्ग छोड़ दिया पर उस समय तक साम्राज्य के विशाल भवन को अगाध्य क्षति पहुंच चुकी थी।

भारत के मुसलमान बादशाहों और सुल्तानों ने इस्लाम की राज्य विषयक धारणाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया। इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार सभी मुसलमान मिल कर एक अविभक्त समाज (मिल्लत) बनाते हैं और उस समाज के लिए एक ही मुसलमान सरदार आवश्यक है। दिव्य विधि-व्यवस्था पर आधारित एक सार्वभौम समाज और एक सार्वभौम राज्य इस्लामी राजनीति का सार रहा है।

---

1 अबुल फज़ल 'अकबरनामा' (बीवरिज-द्वारा अनूदित), खण्ड ■ (कलकत्ता, 1912) पृष्ठ 421

2. वही, पृष्ठ 680

■ इब्न हसन, 'द सेण्ट्रल स्ट्रक्चर आफ द मुगल एम्पायर' पृष्ठ 61

उसके अन्तर्गत निर्वाचित राज्याध्यक्ष की अवधारणा थी, जिसे अमीरुलमोमिनीन या खलीफा कहते थे। इस उच्च पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति को कुछ शर्तें पूरी करनी होती थीं और चुन जाने पर उसे कुछ विशेषाधिकार मिलते थे। उसके काम थे—धर्म की रक्षा करना और पवित्र विधि-व्यवस्था के अनुरूप मुस्लिम समाज के सार्वजनिक मामलों का प्रशासन करना।

समय के बहाव के साथ-साथ इस धारणा की प्रभावोत्पादकता क्रमशः समाप्त हो गई। उमय्यद खलीफाओं ने उक्त निर्वाच्य पद को कुलानुगत बना दिया। अब्बासिदों के समय में खलीफा की नाममात्र की प्रभुसत्ता तो मानी जाती रही पर प्रान्तों के शासकों ने उत्तरोत्तर रूप से स्वतन्त्र रियासतें कायम कर लीं। सन 1258 में मंगोलों-द्वारा अब्बासिदों के उच्छेदन के उपरान्त खलीफा के प्रति दिखावटी निष्ठा का भी अन्त हो गया।

इस प्रकार इस्लाम—समाज, राज्य और विधि-व्यवस्था की सार्वभौमिकता के अपने मूलभूत सिद्धान्तों के बावजूद—असमर्थ ठहराया गया। जिन शासकों ने अपने को अपने-अपने प्रदेशों का सम्राट बना लिया, वे वस्तुतः उन लोगों के रीति-रिवाजों तथा प्रथा-परम्पराओं पर आधारित विशिष्टताओं के ही सरपरस्त बने, जिन पर वे अपने अधिकार का प्रयोग करते थे।

कुछ प्रारम्भिक भारतीय शासक खलीफा के प्रति नाममात्र का आदर भाव व्यक्त करते रहे पर तेरहवीं शताब्दी के मध्य के बाद जबकि खिलाफत का प्रधान स्थान बगदाद मंगोलों के हाथ में आ गया और खलीफा को मिस्र में जाकर शरण लेनी पड़ी, तब इस्लाम, समाज-रूपी घेरे से निकल गई और परिणामतः इस्लामी गणतन्त्र भी विलीन हो गया।

बाबर द्वारा भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किए जाने के समय खिलाफत उसमान के घराने में पहुंच चुकी थी। चगताई तुर्क होने के नाते बाबर के हृदय में उस्मानी तुर्कों के दावों के प्रति कोई आस्था न थी। उधर सफाविया ने ईरान को एक शिया-साम्राज्य में परिणत कर लिया था, सुन्नी खिलाफत के दावों को अस्वीकार कर दिया था और लगभग स्वयं आदर भाव के वे दावेदार बन बैठे थे। यह स्थिति सचमुच चिंताजनक थी।[1] मध्य-एशिया में आने और मावरा-उन-नहर में चंगेज खां का वंशज होने के कारण बाबर के सामने एक ओर ईरान का उदाहरण और दूसरी ओर मंगोलों की बादशाही परम्पराएं प्राप्त थीं। उन्हीं के प्रभाव में मुगल बादशाही व्यवस्था का विकास हुआ।

अपने पद के स्वरूप के सम्बन्ध में मुगल बादशाहों की धारणा ईरानी और गैर-इस्लामी थी। बादशाह अपने-आपको न तो मुस्लिम समाज का निर्वाचित मुखिया समझता था और न बगदाद के खलीफा का प्रतिनिधि और आश्रित। वह तो अपने को परमात्मा का प्रतिबिम्ब (जिल्लेअल्लाह) मानता था। इसकी व्याख्या करते हुए अबुल फजल ने लिखा है 'राजसत्ता परमात्मा की ओर से आनेवाली रोशनी है ... आधुनिक शब्दावली में इस प्रकाश को 'फर्रेइजीदी' (दिव्य ज्योति)

---

1 देखिए, ई० जी० ब्राउन, 'हिस्ट्री आफ परशियन लिटरेचर इन माडर्न टाइम्स', 1924, पृष्ठ 494 तथा लेवी, 'द सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम', पृष्ठ 373

कहते हैं और प्राचीन काल में इसे 'कियान खुरा' (भव्य प्रभामण्डल) कहा जाता था। परमात्मा किसी दूसरे व्यक्ति की मध्यस्थता के बिना यह प्रकाश बादशाहों को प्रदान करता है और इसके सामने आने पर मनुष्य विनीत भाव से नतमस्तक हो जाते हैं।'[1]

जहाँगीर मानता था कि प्रभुसत्ता और विश्वशासन के काम ऐसे नहीं होते, जो कुछ दूषित बुद्धिवाले व्यक्तियों के निरर्थक प्रयासों के आधार पर चलाए जा सकें। ये काम तो सर्वस्रष्टा परमात्मा कृपापूर्वक उन व्यक्तियों को सौंप देता है जिन्हें वह इस गरिमामय तथा उच्च दायित्व के निर्वाहयोग्य समझता है।[2]

औरंगजेब अपने आपको परमात्मा का प्रतिबिम्ब, अपने समय का खलीफा तथा पृथ्वी पर परमात्मा का वकील मानता था और आलमगीर जिन्दापीर के नाम से विख्यात था।

ये उपाधियाँ तथा उपनाम ईरान तथा बाइज़ेन्टियम के प्राचीन शासकों ('किसरा' और 'कैसर') के दावों तथा हिन्दू सम्राटों की उपाधियों का स्मरण दिलाते हैं, पर वे खिलाफत अथवा सुल्तानी की उन इस्लामी मान्यताओं के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाते जहाँ उक्त पद निर्वाचन के आधार पर मिलते (समाज) द्वारा दिए जाते थे। पुश्तैनी पादशाहत-जैसी किसी व्यक्ति का अस्तित्व मुस्लिम विधि-व्यवस्था में नहीं है।

मध्यकालीन भारतीय राज्य-व्यवस्था की तुलना मध्यकालीन यूरोप की सामन्ती राज्य-व्यवस्था के साथ की गई है। वस्तुतः इन दोनों में बहुत कम समानता है। यूरोपीय राज्य-व्यवस्था वास्तव में एक विशेष प्रकार की सैनिक भू-पट्टेदारी पर आधारित कुलीनतन्त्री संरचना थी। सामन्ती सरदारों में वंशगत भू-सम्पत्तिधारियों की ऐसी शृंखला बन गई थी, जिसके ऊपरी सिरे पर बादशाह था और निचले सिरे पर नाइट (Knight)। इसके विपरीत मुगलों का कुलीनतन्त्र एक ऐसा अधिकारितन्त्र था जो पूर्णतः सम्राट की सदाशयता पर आधारित था। उन कुलीनों का यहाँ की धरती के साथ सहज सम्बन्ध न था, वे लोग वंशानुगत भूस्वामी नहीं थे। इस रूप में सम्पत्ति के आधार पर नहीं, मुख्यतः जन्म के आधार पर पदों पर नियुक्तियाँ की जाती थीं। यहाँ की शासन-व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न थी। उसे तो नगदी अथवा भूराजस्व के हिस्से के रूप में रकमें शाही खजाने से ही प्राप्त होती थीं। इन हिस्सों में प्रायः फेर बदल हो जाता था और कुलीनों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु होने पर शासन-द्वारा जब्त की जा सकती थी। उक्त पद पुश्तैनी नहीं थे यद्यपि बाद में पुश्तैनी नियुक्तियों की प्रवृत्ति हो गई थी। यहाँ का कुलीनतन्त्र सामन्ती कुलीनतन्त्र होने की अपेक्षा एक स्वच्छन्दतावादी वर्ग ही अधिक था।

गम्भीर अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारत की राज्य-व्यवस्था में शासित शक्तियों और व्यापक उत्तरदायित्वों का विचित्र संगम था। यदि उसकी मीमांसा पर ध्यान दिया जाए तो इसे आधुनिक अर्थों में प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य-व्यवस्था कहना कठिन हो जाता है। आधुनिक प्रभुसत्ता अपने-आपको

---

1 अबुल फज़ल, 'आईने अकबरी' (प्रो० ब्लोकमन-द्वारा अनूदित), खण्ड 1 (कलकत्ता, 1927), पृष्ठ 3

2 'तुज़ुके जहाँगीरी' (रोजर-कृत अनुवाद) खण्ड 1, पृष्ठ 51

तीन अंगों—विधानांग, कार्यांग और न्यायांग—के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। सर्वोच्च सत्ता के कार्य हैं—कानून बनाना और उनका परिपालन कराना तथा न्याय करना।

मध्य-कालीन भारतीय राज्य-व्यवस्था को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं था। जहाँ तक मुसलमानों का सम्बन्ध था, यह अधिकार उनके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहब के साथ ही समाप्त हो गया, जिनके माध्यम से परमात्मा ने अपनी इच्छाएँ और आज्ञाएँ सदा-सर्वदा के लिए व्यक्त कर दिए थे। दिव्य कानून में जोड़-तोड़ या हेर-फेर की आवश्यकता नहीं होती। लोगों की नित्यप्रति की आवश्यकताओं में उनका प्रयोग-उपयोग राज्याध्यक्ष का काम न होकर उलेमाओं का काम है। वे ही कानून प्रस्तुत करते हैं और जीवन की परिवर्तनशील स्थितियों तथा परिस्थितियों के अनुरूप उनकी व्याख्या करते हैं।

हिन्दुओं को भी किसी विधि निर्माण की आवश्यकता न थी। जीवन के सभी पक्षों का नियन्त्रण करने के लिए उन्हें अपनी प्राचीन विधि-संहिताएँ प्राप्त थीं। और भिन्न भिन्न युगों में रघुनन्दन-जैसे विद्वानों ने उनके ऐसे भाष्य प्रस्तुत कर दिए थे, जो राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र रह कर न्याय-काम करने में हिन्दू न्यायाधीशों (शास्त्रियों) का मार्गदर्शन करते थे।

इस्लामी विधि-व्यवस्था (फिक़ह) में उन दिव्य नियमों की जानकारी सन्निहित थी, जिनका सम्बन्ध मनुष्यों के काम के साथ था और जिनमें बताया गया था कि कौन-से काम अवश्य करणीय हैं और कौन-से काम निषिद्ध, क्या काम उचित अथवा प्रस्तावित हैं, क्या अनुचित अथवा अनुमोदित और किन कामों के लिए छूट मात्र दी गई है। यह व्यवस्था 'कुरान' और 'हदीस' में से उद्भूत है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि मुस्लिम विधि-व्यवस्था अत्यन्त व्यापक है और उसमें व्यक्ति तथा समाज के जीवन से सम्बन्धित सभी बातों—व्यक्तिगत और निजी तथा सार्वजनिक (दीवानी, फौजदारी और संवैधानिक नियमों-सहित)—का समावेश है। मनुष्य के पूर्णतः व्यक्तिगत और निजी मामलों में उसके विश्वास, श्रद्धा तथा पूजन विधि का समावेश है, जिसे 'इबादत' की संज्ञा दी गई है। मुस्लिम विधि-संहिता में उन बातों के सम्बन्ध में बहुत ही कड़े नियम निर्धारित हैं। दीवानी विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत मामलों का विवेचन दो मुख्य शीर्षों में किया गया है (1) विवाह, और (2) सम्पत्ति। इनमें से पहले भाग के अन्तर्गत सगोत्रता और पात्रता विधवा-विवाह तथा विवाह विच्छेद के प्रश्न आते हैं और दूसरे के अन्तर्गत उत्तराधिकार, क्रय विक्रय, ब्याज और भाड़े के। सार्वजनिक कानूनों का सम्बन्ध राजनीतिक मामलों—खिलाफत और शासन, गैर-मुस्लिम प्रजाजन के साथ मुस्लिम सरकार के सम्बन्धों, मुसलमानों के प्रति सरकार के कर्तव्यों और अपराध तथा दण्ड-व्यवस्था—से है।

जहाँ तक 'इबादत' का सम्बन्ध है, 'शरा' के नियमों का पालन करना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। उनमें से कुछ विशेषतः रहस्यवादियों (सूफियों) ने उन नियमों को मन्त्रतुल्य तथा औपचारिक माना और इसीलिए उन्होंने, उनकी श्रेष्ठता का बहिष्कार किए बिना भी, उन्हें रहस्य-पद्धति-द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए किए जानेवाले प्रयत्न का आश्रित बना दिया। भारत में उलेमाओं और सूफियों

में बराबर दायम बन रहे हैं। उनमें से एक शरीयत पर जोर देता और उससे हटने का निन्द्य कार्य ठहराता रहा है और दूसरा यह विचार रहा है कि ... के प्रति आग्रहशील बन रहने की अपना रहस्य साधना अधिक श्रेयस्कर है। औरंगजेब और दारा शिकोह इन दो प्रतिस्पर्धी वर्गों के उत्कृष्ट प्रतिनिधि रहे हैं।

जहां तक विवाह और सम्पत्ति से सम्बन्धित कानूनों का सवाल है, उनका आम तौर से पालन तो किया जाता था पर उनमें से प्रत्येक के क्षेत्र में गहरे अतिक्रमण होते रहते थे। मुसलमानों ने हिंदुओं की बहुत-सी वैवाहिक प्रथाएं अपना ली थीं और वे ऐसी अनेक बातों—उदाहरणतः विवाह के लिए पात्रता निर्धारण करते समय रक्त-सम्बन्ध की मात्रा निर्धारित करने, जाति और श्रेणी विभाजनों के आधार पर सगोत्र अथवा बहिर्गोत्र विवाह की सीमाएं निर्धारित करने, विवाह विषयक इकरार में सम्बद्ध प्रथाओं के पालन में सम्बन्धित बातों—का पालन करने लगे थे, जो इस्लामी विधि-व्यवस्था के प्रतिकूल था। भारत के अनेक भागों में उत्तराधिकार विषयक कानूनों का स्थान प्रथा (उर्फ) ने ले लिया था। विधवा विवाह और विवाह विच्छेद हिंदुओं की ही भांति बुरी नजर से देखे जाते थे।[1]

मुसलमानों और हिंदुओं के बीच विवाह सम्बन्ध बहुत कम होते थे पर शासक परिवारों में इस प्रकार होनेवाले विवाहों को पर्याप्त मान्यता प्राप्त थी। मुगल बादशाह इस भांति पर चलनेवाले पहले व्यक्ति न थे। उनसे बहुत पहले कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम विवाह हो चुके थे। जैनुल आबेदीन (1420-70) ने जम्मू के राजा मानकदेव की दो पुत्रियों से विवाह किया था।[2] मानकदेव की एक पुत्री का विवाह मुस्लिम गक्खर सरदार राजा जसरथ के साथ हुआ था।[3]

दक्कन के बहमनी शासकों ने हिंदू परिवारों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। ताजउद्दीन फिरोज (1397 1422) ने विजयनगर के देवराय और खेरला के *नरसिंह राव की पुत्रियों के साथ विवाह किया।[4] नवें बहमनी शासक, अहमद शाह* वली, ने सोनखेड के राजा की पुत्री से विवाह किया। बीजापुर के सुल्तान यूसुफ आदिलशाह (देहान्त सन 1510) ने एक ब्राह्मण मुकुन्द राव की बहन को पत्नी बनाया और वही उसकी प्रधान रानी बनी। बिदर के अमीर बारिद (देहान्त सन 1359) ने भी ऐसा ही किया।[5]

---

1 देखिए, सी० एल० टुप्पर, 'पंजाब कस्टमरी लॉज', आर० वन सेंसस आफ इण्डिया', 1901, खण्ड 16, भाग 1, पृष्ठ 92 और आगे

2 देखिए जोनराज-कृत 'राजतरंगिणी' (जे० सी० दत्त-द्वारा अनूदित), पृष्ठ 86, श्रीवर-कृत 'जैन राजतरंगिणी' (जे० सी० दत्त-द्वारा अनूदित), पृष्ठ 194

3 'द इण्डियन एंटिक्वेरी', खण्ड 36, 1907, पृष्ठ 8

4 एच० के० शेरवानी, 'द बहमनीज आफ द डक्कन' (1953 का संस्करण), पृष्ठ 144 और आगे

5 एम० जी० रानडे, 'द राइज आफ मराठा पावर', पृष्ठ 31, जान ब्रिग्स, 'हिस्टरी आफ द राइज आफ द मोहमडन पावर इन इण्डिया', खण्ड 3, (कलकत्ता, 1910), पृष्ठ 495 6

मुनिमान निरोह आर सिपिहर शिकोह ने[1]
अकबर, जहांगीर फर्रुखसियर मुसलमाना ने मुसलमानों के साथ
राजकुमारियों को पत्नी बनाया। कच्छ के हिन्दू शाही घराना ये कि व
विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए।[1]

इसके विपरीत हिन्दू जातिगत बाधाओं में इतना अधिक जकड़ थे कि वे
मुस्लिम महिलाओं को अपने मत व अन्तःपुर में स्थान न दे सके। फिर भी,
हिन्दुओं और मुसलमानों के विवाह अविदित नहीं है। राजोरा राज्य और बालति
स्थान में जहांगीर को इन दोनों खानियों व पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों का पता
चला था। पेशवा बाजीराव प्रथम का मस्तानी के साथ प्रणय-सम्बन्ध विख्यात
है। वह एक नर्तकी थी, जो पेशवा की स्थायी सहचरी बनी और "बाजीराव
के अभियानों में बराबर उसके साथ रही तथा रकाब-से-रकाब मिलाकर उसके साथ
घुड़सवारी करती रही।"[3] सन् 1734 में उसने पेशवा के पुत्र शमशेर बहादुर
को जन्म दिया, जिसका लालन-पालन एक मुसलमान के तौर पर हुआ, क्योंकि ब्राह्मणों
ने उसे हिन्दू-समाज में सम्मिलित करने से इन्कार कर दिया। सन् 1753 में शमशेर
बहादुर राघोबा के साथ उत्तर में गया और कुम्भेर तथा दिल्ली के आगे होनेवाली
लड़ाइयों में उसने भाग लिया। सन् 1755 में उसने विद्रोही सरदार तुलाजी आंग्रिया
के विरुद्ध अभियान का संचालन किया। सन् 1761 में वह पानीपत में मारा गया।
उसका पुत्र अली बहादुर जागीर का उत्तराधिकारी बना। सन् 1787 में जब महादजी
सिंधिया को हार खानी पड़ी तब उसकी सहायता के लिए पेशवा के प्रधान
के प्रतिनिधि-रूप में अली बहादुर के नायकत्व में दक्षिण से सेनाएँ भेजी गईं। अली
बहादुर को, सिंधिया को बीच में लाए बिना, राजपूतों के साथ बातचीत करने का
गुप्त हिदायतें दी गई थीं।

यहां यह उल्लेख करना रोचक होगा कि बहुत-से परिवारों को दो, अर्थात
हिन्दू और मुस्लिम शाखाएं थीं और वे कई पीढ़ियों तक अपना यह पारिवारिक
सम्बन्ध बनाए रहे।

रिबा अर्थात् ब्याज देने-लेने पर रोक लगानेवाले धर्मादेश के सम्बन्ध में
भी ऐसी ही शिथिलता रही। उसे कार्यरूप दिया जाना असम्भव जान पड़ा। कुछ
धर्मप्राण मुसलमानों ने तो ब्याज लेना स्वीकार नहीं किया, केवल आचारवान लोग
धन तथा धन के बीच सौदा कर दिखाने के लिए चतुराईपूर्ण व्यवस्था से काम
लेते रहे।

मुस्लिम फौजदारी विधि-व्यवस्था को कार्यरूप देना तो बहुत ही कठिन था।
अपराध सिद्ध करने के लिए जो शर्तें रखी गई थीं वे ऐसे मामलों में ऐसी थीं, जिनका
पूर्ति सम्भव ही न थी। मिसाल के तौर पर बलात्कार के अपराध में सजा देने के
लिए चार गवाहों का होना आवश्यक थी। दण्ड बहुत ही निर्मम होते थे—चोरी
के लिए अंग भंग कर देना, व्यभिचार के लिए पत्थरों अथवा कोड़ों से मार और

1 यदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ औरंगजेब', खण्ड 2, पृष्ठ 163 पाद टिप्पणी
2. 'तुजुके जहांगीरी' (रोजर्स-कृत अनुवाद), खण्ड 2, पृष्ठ 181
3. 'तारीखे मुहम्मद शाही', जी० एस० सरदेसाई द्वारा "न्यू हिस्टरी आफ द
मराठाज' के खण्ड 2 में पृष्ठ 178 पर उद्धृत

धर्मविमुखता के लिए मृत्युदण्ड। आश्चर्य की बात यह है कि हत्या को समाज के प्रति अपराध न मान कर स्वयं उस व्यक्ति तथा उसके परिवार के प्रति किया गया बुरा काम माना जाता था। अत, उक्त अपराध का तथ्य-निर्धारण तो न्यायाधीश कर देता था, पर उसके दण्ड निर्धारण का कार्य क्षतिग्रस्त व्यक्ति के सम्बन्धियों की इच्छा पर छोड़ दिया गया था। वे चाहते तो हत्यारे को प्राणदण्ड दिला सकते थे अथवा उस खून के बदले धन ले सकते थे।

भारत में यह अनुभव किया गया कि कानून की शर्तें पूरी करना कठिन है। अत, फौजदारी प्रशासन का बहुत-सा काम काजी के हाथ से निकल कर सरकारी अधिकारियों के हाथ में चला गया।

सरकार की संरचना और उसके कामों का व्याख्या करनेवाले नियमों को भारत में कोई मान्यता प्राप्त न थी। विधिवेत्ताओं और व्यवहार प्रधान राजमर्मज्ञों ने यह मान लिया था कि शरीयत विधि-व्यवस्था भारतीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है और कर अथवा भूराजस्व लगान अथवा सरकारी सेवाओं तथा सेना के गठन-जैसे मामलों में पुनीतचरित्र खलीफाओं की परम्परा का पालन करना सम्भव नहीं है।

प्रारम्भिक खलीफाओं-द्वारा स्थापित मुस्लिम पद्धति के अन्तर्गत राज्य के राजस्व के प्रधान स्रोत दो भागों में विभक्त थे। मुसलमानों को 'जकात' (धर्म दान-कर) और 'खराज' (भूमि कर) देने पड़ते थे और सरकारी संरक्षण प्राप्त करनेवाले गैर-मुसलमानों को 'जजिया' और 'खराज' देने होते थे।

भारत में सरकारी तौर पर 'जकात' प्रायः नहीं इकट्ठा किया गया और इसीलिए सरकारी राजस्व की दृष्टि से इसका अस्तित्व नहीं के बराबर रहा। भूराजस्व राज्य के सभी प्रजाजनों पर समान रूप से लागू था और उसका भार भी सब पर समान था। हाँ, उसके निर्धारण और वसूली के लिए भारत में अपनाए जानेवाले तरीके खिलाफत के मातहत आनेवाली जमीन के लिए अपनाए गए तरीकों से स्वभावत भिन्न थे। भारतीय पद्धति मूलत हिन्दू थी, जिसमें भारत में प्राप्त अनुभव के आधार पर संशोधन कर लिए गए थे।

'जजिया' कभी-कभी लगाया गया। मुगलों से पहले के समय में फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने यह कर लगाया। सन 1569 से 1763 तक यह हटा रहा। औरंगजेब ने 14वीं और 15वीं शताब्दी की पुरानी प्रथाएं फिर आरम्भ कर दीं। परन्तु उसने यह अनुभव नहीं किया कि 'जजिया' केवल कानून के नाते ही नहीं, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के नाते भी बुरा था।

औरंगजेब-द्वारा 'जजिया' का लगाया जाना कानून के नाते बुरा था, क्योंकि ऐसा करना भारत में मुस्लिम परम्पराओं के प्रतिकूल था और इसने उन परिस्थितियों का भी प्रतिवाद किया, जिनमें इसे लगाया जाना चाहिए था। मुस्लिम विधि व्यवस्था के अनुसार, यह दो दलों के बीच होनेवाले इकरार के कर भार की अदायगी है और इसी शर्त पर चुकाया जाता है कि दोनों पक्ष इकरार की शर्तें पूरी कर दें। प्रस्तुत प्रसंग में एक ओर था मुसलमानों का नायक और दूसरी ओर गैर मुसलमान प्रजा। 'जजिया' के लिए 'कुरान' का अनुमोदन प्राप्त है जिसमें कहा गया है कि मुसलमानों का कर्तव्य है "उन लोगों से युद्ध करना जो परमात्मा को नहीं

मानते सच्चे धर्म को नहीं अपनाते और जिनके अपने धर्मशास्त्र हैं, बशर्ते कि वे दासता में रहते हुए व्यक्तिगत रूप से जजिया न चुकाएं।'[1]

पैगम्बर और उनके एकदम बाद के उत्तराधिकारियों अर्थात चारों पुनीत-चरित्र खलीफाओं, ने यहूदियों ईसाइयों और आगे चल कर पारसियों के साथ करार किए और कुरान के आदेश को कार्य-रूप दिया। इस विषय में उन्हीं पूर्वोदाहरणों ने मुस्लिम विधि-व्यवस्था को आधार प्रदान किया।

विधि-व्यवस्था यह है कि जो गैर-मुसलमान मुस्लिम शासन को स्वीकार कर लेते हैं वे धिम्मी हैं। धिम्मी शब्द का अर्थ है एक इकरार, जिसके प्रति आस्थावान रहना मुसलमान स्वीकार कर लेता है और जिसका उल्लंघन उसे घम्म (निन्दा) का पात्र बना देता है। इस इकरार से गैर-मुसलमानों को ऐसे कुछ अधिकार मिल जाते हैं जिनकी रक्षा करना मुस्लिम राज्य का कर्तव्य हो जाता है। इन अधिकारों में जान और माल की रक्षा और एक अनिश्चित जमान (गारंटी) शामिल है। इसके बदले में धिम्मी इस संरक्षण के मूल्य के रूप में जजिया अदा करने और मुसलमानों के हित को हानि पहुंचानेवाले काम से बचने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। इस इकरार में धिम्मियों को लड़ाई में भाग लेने से छूट भी दी जाती है। जजिया की रकम बदलती रहती थी पर अन्त में यह निश्चित कर दिया गया कि इस कर के रूप में धिम्मी की अदा कर सकने की क्षमता को देखते हुए बारह चौबीस और अड़तालीस दिरहम तक वसूल कर लिए जाएं। लेकिन असमर्थ व्यक्तियों को कर नहीं देना पड़ता था। इस प्रकार बूढ़ों स्त्रियों और बच्चों को इसमें छूट मिल गई थी। मुहम्मद बिन कासिम ने इस वर्ग में ब्राह्मणों को भी शामिल किया था पर फिरोज तुगलक ने उन्हें इससे अलग कर दिया।

मुहम्मद ने यहूदियों के साथ जो समझौता किया था उसमें यहूदियों की ओर से युद्ध-व्यय में अंशदान देने की ही व्यवस्था थी उन्हें युद्ध के समय सेना में शामिल नहीं होने दिया जाता था। उसने ऐसे ही फरमान अरब देश के विभिन्न भागों के धर्म-शास्त्रियों के नाम जारी कर दिए। 'जजिया' की अदायगी के बदले में नजरान के ईसाइयों को यह भरोसा दिलाया गया था कि उनकी जान, माल, जमीन, धर्म, उपस्थित-अनुपस्थित उनके परिवारों, उनके गिरजाघरों और उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति की रक्षा की जाएगी। बिना पादरी को अपना पादरी-जीवन छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। उन्हें किसी प्रकार दुखी या अपमानित नहीं किया जाएगा।[2]

अबू बक्र और उमर ने ईराक और सीरिया के ईसाइयों के साथ ऐसे ही समझौते किए। ऐसे मामले के प्रमाण मिलते हैं जब खलीफा ने इसलिए जजिया माफ कर दिया और धन लौटा दिया कि वह धिम्मियों की रक्षा की गारंटी नहीं दे सकता था। ऐसी भी कुछ स्थितियां रही हैं जब धिम्मियों को इस कारण इस अदायगी से छूट दे दी गई कि उनके लिए लड़ाइयों में भाग लेना आवश्यक हो गया।[3]

बाद के धर्मव्याख्याता 'जजिया' लगान में निन्दित मूल भावना से बचा

---

1 सूरा, 9—29

2 अबू यूसुफ, 'किताबल खराज', पृष्ठ 72 73

3 बलाजुरी, फुतूहल बुलदान'

हट गए और उन्होंने इस सम्बन्ध में विस्तृत नियम बना लिए। उन नियमों को बारह शीर्षों के अंतर्गत रखा गया, जिनमें से छः के अन्तर्गत की गई व्यवस्थाएं अनिवार्य थीं, अतः उनमें से किसी के भी उल्लंघन से करार खण्डित हो जाता था। बाकी छः शीर्षों में उन बातों और उत्तरदायित्वों को स्थान दिया गया था, जिन्हें वांछनीय माना गया था। इस दूसरे वर्ग में ऐसे नियम शामिल थे, जिनका सम्बन्ध धिम्मियों द्वारा विशेष प्रकार के कपड़े पहन जाने, घुड़सवारी करने, गिरजा घर की घंटियां जोर-जोर से बजाने और मुस्लिम कब्रिस्तान में मुर्दे दफनाने के साथ था। आगे चल कर इनमें और अनेक दुखदायक बातें जोड़ दी गई। मिसाल के तौर पर, नए धर्म-स्थान बनाने अथवा पुराने स्थानों की मरम्मत पर रोक लगा दी गई और यह आवश्यक कर दिया गया कि 'जजिया' व्यक्तिगत रूप से और पूर्ण विनम्रता पूर्वक अदा किया जाए। इन असहनीय मांगों के समर्थन के लिए उमर का फरमान जारी किया गया, पर उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लोगों को सन्देह है।[1]

औरंगजेब ने जो कदम उठाया वह उस प्रच्छन्न समझौते का उल्लंघन था जो अकबर के समय से चला आ रहा था। कानूनी तौर पर यह कदम इसलिए अवैध था कि उसने हिन्दुओं से 'जजिया' भी लिया और उन्हें अपने मुस्लिम और हिन्दू शत्रुओं—मध्य-एशिया, अफगानिस्तान और दक्खन के मुसलमानों तथा हिन्दू मराठों—के साथ लड़वाया भी।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी 'जजिया' उपयुक्त नहीं था, क्योंकि इसका सबसे अधिक भार उन्हीं पर पड़ता था, जिनमें इसे सहन करने की क्षमता सबसे कम था। 52 रुपये वार्षिक से कम मूल्य की सम्पत्ति रखनेवाले व्यक्तियों के निम्नतम वर्ग को प्रति वर्ष 3 रुपये 2 आने देने पड़ते थे, 52 रुपये से 2,500 रुपये तक कमानेवालों अर्थात् मध्यम वर्गवालों को 6 रुपये 4 आने प्रति वर्ष देने पड़ते थे, परन्तु 2,500 रुपये से अधिक आयवाले व्यक्तियों को प्रति वर्ष केवल 12 रुपये 8 आने देने पड़ते थे। यह बात उचित वित्त-व्यवस्था के सभी सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी।

राजनीति की दृष्टि से भी यह ठीक नहीं था। इससे निर्धनों के साथ निर्दयता का व्यवहार होता था और अमीरों पर कम बोझ पड़ता था। इन निर्धनों में वे ग्राम वासी होते थे, जिनके लिए 'जजिया' उन बहुत-से करों में से एक था जो उन्हें हर हाल में अदा करने ही होते थे। उसका संग्रह अत्यन्त बेदर्दियों के साथ किया जाता था। हिन्दू मुकद्दम और जमींदार इसे हिन्दू असामियों से वसूल करके शाही अधिकारियों को सौंप देते थे। इस प्रकार इसकी अदायगी विपत्तिजनक होकर भी अपमानजनक नहीं होती थी। दूसरी ओर यद्यपि 'जजिया' शहरों में आर्थिक दृष्टि से इतना अधिक असुविधाजनक तो न था, परन्तु इसके साथ हीनता की छाप सहज रूप से लगी थी और कभी-कभी इसके कारण विद्वेषपूर्ण धर्मान्धों की ओर से अपमान भी सहने पड़ जाते थे। इसने उच्च वर्ग में विक्षोभ और गहरी निराशा का भाव उत्पन्न कर दिया।

मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच विभेद करनेवाले अन्य कर भी इतने ही अनुचित और गैर-कानूनी थे। हिन्दू और मुसलमान व्यापारियों में भेद करनेवाले व्यापार विषयक कर और चुंगी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

1 देखिए मजीद खादुरी, 'वार एण्ड पीस इन द ला आफ इस्लाम', पृष्ठ 194

2 न्याय-प्रशासन

सरकार की न्याय-विषयक गतिविधि बहुत ही सीमित थी। गैर-मुसलमानों पर इसका प्रभाव बहुत ही सीमित क्षेत्र में पड़ता था। औरंगजेब ने अनुभव किया कि गैर-मुस्लिम प्रजाजन अर्थात 'ज़िम्मियों' पर इस्लाम के कानून लागू नहीं होते, उनके मामले उनके अपने धर्म सिद्धान्तों के ही आधार पर निश्चित किए जाने चाहिए।[1] हिन्दू केवल फौजदारी के मामलों में काजियों के सामने पेश होते थे। परन्तु जहाँ तक अपराध का सम्बन्ध था न्यायाधीशों का काम केवल सम्बद्ध व्यक्ति को अपराधी घोषित करना था, उस पर दिए जानेवाले दण्ड का निर्णय मुद्दई की इच्छा पर निर्भर होता था। इसके अलावा उन असंख्य हिन्दुओं और मुसलमानों को जो गाँवों में रहते थे, गाँव में ही किए जानेवाले उस न्याय से सन्तुष्ट रहना पड़ता था जहाँ काजी सरकारी तौर पर नियुक्त अधिकारी नहीं होते थे।

उस समय की न्याय-व्यवस्था यूरोप अथवा आज के भारत की परिचित व्यवस्था से सर्वथा भिन्न थी। अदालतों की कोई ऐसी क्रमबद्ध शृंखला नहीं थी जिनके क्रमबद्ध क्षेत्राधिकार हों। प्रत्येक काजी की अदालत में पहले-पहल मुकदमा भी पेश हो सकता था और वहाँ उसकी अपील भी दायर की जा सकती थी। सच तो यह है कि उस समय यहाँ देश में अपीली क्षेत्राधिकार से लोग परिचित ही नहीं थे यद्यपि मूल मुकदमा भिन्न दूसरी अदालत में मुन्तकिल करवाया जा सकता था। न्यायाधीश को न्याय स्थगित करने का भी अधिकार था और सजा देने का भी। प्रत्येक काजी छोटे या बड़े सभी तरह के दीवानी और फौजदारी मामलों की सुनवाई कर सकता था और उस पर अपराध या सम्पत्ति के क्षेत्राधिकार का कोई बंधन न था। उसके सामने धार्मिक विधि-व्यवस्था और सामान्य विधि-व्यवस्था दोनों के ही मामले आते थे।

न्यायिक अधिकारियों का प्रशासन केन्द्र और बड़े-बड़े नगरों—साम्राज्य की राजधानी, प्रान्तों के मुख्य नगरों, सरकारों (जिला) और परगनों—तक सीमित था। साम्राज्य के प्रधान काजी (काजी-उल-कुजात) और प्रान्तीय काजियों की नियुक्ति स्वयं बादशाह करता था। सरकारों और परगनों के काजी शाही काजी के अधीन नियुक्त किए जाते थे तथा प्रधान काजी का विभाग उनके नाम नियुक्तिपत्र जारी करता था। एक बार नियुक्त हो जाने पर काजी का प्रायः तबादला नहीं होता था और इस प्रकार उसका यह पद जीवन भर बना रहता था। उन्हें पारिश्रमिक के तौर पर साधारणतः मुक्त जमीनें दे दी जाती थीं।

इस न्याय-पद्धति की उल्लेखनीय बात यह थी कि नियुक्तियाँ करने के अतिरिक्त, सरकार का न्याय प्रशासन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। यद्यपि बादशाह न्याय का मूल स्रोत माना जाता था और वह तथा उसके प्रान्तीय प्रतिनिधि शिकायतें सुनना और अन्याय का दमन करना अपना कर्तव्य मानते थे, तथापि उस समय बादशाहों तथा नाजिमों द्वारा इसका पूरा पालन कम ही दृष्टिगोचर होता है।

ऐसी परिस्थितियों में प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति सबसे अधिक स्पष्ट रूप से काजियों द्वारा ही होती थी। यह स्वाभाविक भी था। परन्तु प्रभुसत्ता के द्वारा

1 देखिए, 'फरमान-ए-आलमगीरी', एम० बी० अहमद-द्वारा 'एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन मिडिवल इण्डिया' (1940 का संस्करण) के पृष्ठ 101 पर उद्धृत

और अराजकता की छाया विद्यमान रहती है। एशियायी देशों में यह छाया गहरी रही है और सदा ही क्षितिज पर फैल जाने का प्रयास करती रही है। किंचित् सा सहारा पाकर वह पूरे देश में फैल कर सर्वत्र अपना तमोराज्य फैलाने का उपक्रम करती रही है। ऐसी स्थिति में सजगता, तत्परता, निर्णय-सामर्थ्य, कार्यगत स्थिरता, आदि गुणों की आवश्यकता थी। कार्यपालिका को सशक्त बना कर ही इन आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव था। शासन की स्थिरता—नहीं, उसके अस्तित्व—को सदैव खतरा बना रहता था। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में तुर्की शासन के आरम्भ से लेकर लोदी सुल्तानों के पराभव तक भारत पर पांच वंशों ने शासन किया, जिनमें से प्रत्येक का शासन-काल औसतन साठ वर्ष रहा। इस अवधि में उद्वेग आतंक के बड़े-बड़े अन्तराल—मंगोल अभिशाप और तैमूर के विघ्न-तुल्य आक्रमण—सामने आए।

अतः यह आवश्यक हो गया कि कार्यपालिका को पूरी शक्तियां प्रदान की जाएं और अधिक-से-अधिक साधन सुलभ किए जाएं। परन्तु मानव मस्तिष्क केवल उपयोगितामूलक औचित्यों से सन्तुष्ट नहीं होता। कार्यपालिका की सत्ता को उचित ठहराने के लिए नैतिक कारणों की खोज की गई। एक बात यह भी है कि प्रचुर शक्ति का प्रदर्शन स्वतः ही अत्यन्त प्रभावशाली होता है। उसमें आतंक तथा आदर भाव का उदय होता है। अतः अनिवार्य रूप से राजतन्त्र को एक दिव्य आभा से आलोकित कर दिया गया। यह आवश्यक हो गया कि सत्ताधारी व्यक्ति लक्ष्य सिद्धि की भावना से अनुप्राणित हो ताकि उस सत्ताधारी से प्रजाजन अपने भीतर के पशु के दमन और वफादारी के भावों की रक्षा के लिए अभीष्ट प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

सत्ता के गुण धर्म अपनी व्याप्ति तथा सीमाओं में सत्ताधारी के व्यक्तिगत पक्ष पर ही ज़ोर देते थे। उस शक्ति का वहन करनेवाला व्यक्ति दिव्यता-सम्पन्न माना जाता था। वह शक्ति राजनीतिक अधिकार की बाह्य प्रतीक और राज्य की प्रभुसत्ता तथा ताकत की मूर्त अभिव्यक्ति थी। सत्ताधारी अपने प्रजाजन की निष्ठा का आधार और अपने सैन्य-संगठन का प्रधान केन्द्र बिन्दु था। सेनाओं के नायक, सरकारी अधिकारी कुलीन विद्वान, कलाकार और कवि, सभी उस सत्ताधारी के व्यक्तित्व की डोर से बंधे थे और उसकी अनुकम्पा के अधीन थे।

देश के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में नरेश अथवा सम्राट और उसके राज-दरबार का योगदान अधिक महत्वपूर्ण था। दुर्भाग्यवश, सम्राट के व्यक्तित्व के उन्नयन ने चाटुकारिता को बढ़ावा दिया और विचार तथा कार्यगत स्वाधीनता का दमन कर दिया। दरबार की साज-सज्जा और वहां प्रचलित आचार व्यवहार किसी मन्दिर तथा वहां होनेवाले पूजन-आराधना से विशेष भिन्न नहीं था। सम्राट को रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया जाता था जिसके ऊपर गोटे किनारी से बढ़ा सजा रेशमी वितान तना होता था। वह सिंहासन एक ऐसे मंच पर रखा जाता था जो दरबारियों, अभ्यर्थियों और कृपाकांक्षियों की भीड़ से बहुत ऊंचा हो। आज्ञाकारिता और चाटुकारिता का वातावरण सब ओर व्याप्त रहता था। इस प्रकार के दरबार स्वयं देखनेवाले बर्नियर ने उस अवसर का वर्णन किया है जब सम्राट रूपी भव्य व्यक्ति के होठों से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द के प्रति साधुवाद प्रकट करते हुए दरबारी अपने हाथ आकाश की ओर

उठा उठा कर 'वल्लाह-वल्लाह' चिल्ला उठते थे। चाटुकारिता की यह प्रवृत्ति समाज में इतना अधिक घर कर गई थी कि चिकित्सा के लिए बर्नियर से प्रार्थना करते समय सामन्त उस युग का अरस्तू, हिप्पाक्रेटीज और एविसेन तक कह बैठते थे।

इस प्रकार मध्य-कालीन भारतीय शासक शक्ति का साकार स्वरूप माना जाने लगा। शक्ति में सेना और राजस्व का सन्निवेश तत्त्वतः था ही। यही दोनों तत्व कार्यकारी प्राधिकार के अनिवार्य अंग थे। उनके अतिरिक्त कुछ भावात्मक तत्त्व भी थे अर्थात् शक्ति की नम्रता छिपानेवाले कुछ आडम्बर भी थे। मेला और मनोविनोद, धर्म और दानशीलता, साहित्य और विज्ञान तथा ललित कलाओं और कला-कौशल का प्रोत्साहन इसी के कुछ उदाहरण हैं।

मध्य-कालीन शासन-व्यवस्था ने व्यापार और उद्योग तथा लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बहुत हस्तक्षेप किया। हाँ, मुसलमानों पर इस्लामी धर्म-व्यवस्था-द्वारा निर्धारित विधि-निषेध लागू करना मुसलमान शासक का धर्म रहा।

सम्राट् के चारों ओर शान-शौकत की तो प्रचुरता थी, परन्तु उसका कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। उनके अधिकार में कोई शासनतन्त्र न था। अतः सम्राट् सबसे अलग-थलग ही बना रहता था। बहुत अधिक व्यक्ति उनके वैभव में रुचि नहीं ले पाते थे और उनके अनुगामियों को एक सूत्र में बाँधनेवाले बन्धन कभी अत्यन्त दृढ़ नहीं रहे। सम्राट् विद्वेषी प्रतिद्वन्द्वियों से घिरा रहता था। वे लोग उसके निकटतम सम्बन्धियों और संगी-साथियों में से होते थे। वास्तव में उसके पतन की बातें बन गई थीं। ऐसी स्थितियों में केवल असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही शासन करने में सफल होते थे। बादशाही और प्रभुता शासक शासन करते और पराभूत हो जाते थे। वंशक्रम अथवा मंत्रियों की दृष्टि में दुर्बल आधार पर ही प्रतिभा प्रमाणित कर दिखाने का कोई उपाय न होने के कारण प्रत्येक सम्राट् को सिंहासन पाने के लिए अपना शक्ति-सामर्थ्य सिद्ध करनी होती थी। फलतः राज्य में अस्थिरता आ जाती थी और उत्तराधिकार विषयक युद्ध तथा राज्य-वंशों के बहुत परिवर्तन के कारण उपस्थित हो जाते थे।

सरकार और प्रशासन

मुगल प्रशासन-व्यवस्था का विकास दोनों तत्त्वों के आधार पर हुआ था। इनमें से दो विदेशी थे और एक देशी। विदेशी तत्व मुगल शासकों ने अपनी मातृभूमि अर्थात् मध्य-एशिया से ग्रहण किए थे—जहाँ मंगोलों की यायावरीय सभ्यता और ईरान की शिष्टता प्रधान सभ्यता का मेल हुआ था। मंगोलों ने ये दोनों धाराएँ ग्रहण की। शासन और उसके बाह्य रूप की स्थिति से सम्बन्धित उनके विचार ईरान से उद्भूत थे। उनकी संस्कृति—भाषा, साहित्य, दर्शन और बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण—पर भी ईरान का प्रभाव अधिक था। परन्तु उनके सैनिक संगठन में उन्होंने उसी प्रकार मंगोलों की परम्पराओं का पालन किया जैसा कि उन्होंने अपना समाज भी तुर्की का रचना करते समय किया था।

भारत ने उनको भू-राजस्व-व्यवस्था और वित्तीय व्यवस्था के लिए आधार प्रदान किया।

मुगल सरकार का आधार सेना था। बादशाह उसका प्रधान सेनापति था और उसके मन्त्री सेना के अधिकारी थे। सभी सेवाएं सैनिक थीं, क्योंकि सैनिक और असैनिक कर्मचारियों में कोई भेद नहीं रखा गया था। सभी अधिकारी एक ही एकीकृत सैनिक सवर्ग के थे। शाही मुख्यालय—चाहे वह राजधानी में हो अथवा अभियान की स्थिति में—उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात 'उच्च शिविर' कहलाता था।

पूरी व्यवस्था मंगोलों के ढंग पर की गई थी। मंगोलों की सेना दशमिक पद्धति पर विभक्त थी। उसमें सबसे छोटा ओहदा दस अश्वारोहियों के नायक का था और उससे ऊपर सौ अश्वारोहियों, एक हजार, दस हजार और एक लाख अश्वारोहियों के नायकों का था। मंगोल यायावर थे। इसीलिए वे कृषि-भूमियों से बंधे न रहे। उनके मवेशी—भेड़-बकरियां और घोड़े—ही उनकी सम्पत्ति थे और उनकी चरागाहों तक ही उनका सेनाधिकार था। अधिकारी और अनुचर उसी पर निर्वाह करते थे परन्तु वे आक्रमणों से प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों से अपने साधन बढ़ा भी लिया करते थे।

भारत में परिस्थितियां इससे भिन्न थीं। अतः यहां सेना की उस यायावरीय धारणा का उस कृषिमूलक अर्थ-व्यवस्था के साथ समंजन करना आवश्यक हो गया, जो यहां प्रचलित थी। सेना मंगोलों के ही नमूने पर दशमिक कमानों के आधार पर संगठित की गई, जिन्हें 'मनसब' कहा गया। इन्हें तैंतीस वर्गों में विभक्त किया गया। ये वर्ग कुलीनों के लिए दस से लेकर पांच हजार तक के थे। शाहजादों के लिए इनसे उच्चतर वर्ग भी थे। मनसबदार का वेतन इतना रखा जाता था कि वह अपने व्यक्तिगत अमले का खर्च पूरा कर सके, अपने अधीन सैनिकों का वेतन चुका सके और यातायात प्रबंध कर सके। यह वेतन या तो सरकारी खजाने से नकद दे दिया जाता था अथवा उसके बदले जागीरों से मिलनेवाले राजस्व का अंश निर्धारित कर दिया जाता था।

साम्राज्य की अधिकतर सेना जुटाने का भार मनसबदारों पर था। प्रत्येक मनसबदार इतने सैनिक भर्ती करने और बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था जितने उसके लिए निर्धारित थे। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही था कि मनसबदार अश्वारोहियों का चुनाव करते समय जातीय भावनाओं से प्रभावित हों। उदाहरण के लिए मुगल अधिकारी मुगलों में से ही अपने अनुगामी चुनना पसन्द करते थे ईरानी ईरानियों की ही सैनिक टुकड़ियां बनाते थे और पठान सरदार पठान टुकड़ियां को ही अपने झण्डे के नीचे एकत्र किया करते थे। मिश्रित दल तक मिली-जुली भर्ती भी की जाती थी।

सैनिकों के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वे उस मनसबदार के साथ उसकी जागीरों के आसामी हों। उनमें से बहुत-से लोग नगरों के निवासी होते थे और सिंधु नदी के पार से भी ऐसे बहुत-से लोग आकर भर्ती हो जाते थे जिन्हें शामिल करना सदा ही पसन्द किया जाता था। युद्ध की व्यूह रचना में प्रत्येक वर्ग अपने कबीले के सरदार के ही झण्डे के नीचे एकत्र होता था।

इस प्रकार संगठित सेना की बुराइयां स्पष्ट हैं। उसमें एकता की स्थापना नहीं हो पाती थी और वह किसी एक व्यक्ति की इच्छा और आदेश के अन्तर्गत काम करनेवाले संगठित समूह की भांति काम नहीं कर पाती थी। ... [illegible]

लोलुपों और निम्न जातियों के लोगों अथवा ऐसी जातियों अथवा परिवारों की ही फौज होती थी, जो केवल इसलिए हथियार ग्रहण करते थे कि इस प्रकार उन्हें नौकरी और लूट-मार करने के अवसर सुलभ हो जाते थे। वे लोग किन्हीं उच्च सिद्धान्तों से प्रेरित नहीं होते थे। उनका चरित्र-साहस नेता पर ही निर्भर रहता था।

मुगल सेना सामन्ती आधार पर संगठित नहीं थी। उसके सेनानायक वे पुश्तैनी भूस्वामी नहीं थे जिनके अधीन उनके सामन्त और अनुचर जमीनों के मालिक होते और सेवा करते थे। वे तो व्यक्तिगत योग्यता अथवा बादशाह अथवा किसी ऊँचे अधिकारी की सिफारिश के आधार पर ही नियुक्त किए जाते थे और ऐसा करते समय पारिवारिक परम्पराओं का ही मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। उन्हें केवल नकदी के रूप में अथवा भूराजस्व के अंश-रूप में सरकार से अपना वेतन प्राप्त करने का अधिकार था। अतः जब तक मुगल सरकार अपना शक्ति-शौर्य बनाए रहा, तब तक एक पुश्तैनी भू-सम्पत्तिधारी कुलीनतन्त्र का विकास न हो सका।

जो एकमात्र पुश्तैनी कुलीन-वर्ग विद्यमान था, उसमें हिन्दुओं की बहुतायत थी। उसमें वे जमींदार शामिल थे, जो प्राचीन हिन्दू राज-परिवारों के वंशज थे। उन्होंने विजेता के सम्मुख घुटने टेक दिए थे, उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली थी और उसे राज-कर चुकाने की शर्त स्वीकार करके अपनी जागीरें कायम रखी थीं। वे तो नकदी के इस सूत्र में ही राज्य के साथ जुड़े थे, अन्यथा उसके विभव-पराभव में उनकी कोई रुचि न थी।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उत्तरप्रदेश में जमींदारियों के विभाजन से हिन्दू जमींदारों की यह बहुतायत स्पष्ट हो जाती है। इन आंकड़ों से पता चलता है कि साम्राज्य के मध्य में स्थित प्रदेश बहुत हद तक राजपूत जमींदारों के हाथ में था। सोलहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण जिले उन्हीं के नियन्त्रण में थे परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते उनका स्थान प्रधान बने रहने पर भी जाटों, गूजरों, अहीरों, मुसलमानों और अन्य जातिवालों ने भी जागीरें प्राप्त कर ली थीं।[1]

यह अचम्भे की बात है कि उपर्युक्त अवधि के आरम्भ में भी मुसलमान जमींदारों की संख्या कम थी और उक्त अवधि के अन्त में भी। जिन गिने-चुने मुस्लिम परिवारों ने जमीनें प्राप्त कर ली थीं, वे या तो मुगल-पूर्व हुकूमत के अधिकारियों के वंशज थे अथवा ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति थे जिन्होंने बलपूर्वक जमीनें हथिया ली थीं। बाबर के साथ आनेवाले मुगल सेनानायकों में से कोई भी इस देश में नहीं बसा। परन्तु धीरे-धीरे समय बीता और बादशाही नियन्त्रण में कमी आई, धीरे-धीरे पद पुश्तैनी बनने लगे और जागीरदारी के इलाके कम होने लगे। 18वीं शताब्दी में दरअसल एक वर्ग-सा भूमिधारियों का उदय हो गया, जो उन जमीनों पर स्वामित्व का दावा करने लगे। पुराने जमींदारों ने अपनी जागीरें बढ़ा लीं, किसानों अथवा इजारेदारों ने जबरन या स्थायी रूप से वास्तव स्वामित्व जमा लिया और नाजिरों-अमलों ने निर्धारित क्षेत्रों पर जम कर बैठ गए।

1 इलियट, इन्शियट और बाम्स-द्वारा लिखित 'मेमोयर्स आन द हिस्टरी, फोकलोर एण्ड डिस्ट्रिब्यूशन आफ रेसेज आफ नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज,' खण्ड 2 1596 और 1844 के वर्षों से सम्बन्धित नक्शे, पृष्ठ 202 3

बंगाल की दीवानी जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंपी गई उस समय की उस प्रांत की स्थिति एक बार फिर हिन्दू जमींदारों की बहुलता प्रकट करती है। यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि पश्चिमी पंजाब के अतिरिक्त पूरे भारत में भूमि विषयक श्रेष्ठाधिकार हिन्दुओं के ही हाथ में थे।

मुगल कुलीनतन्त्र तो मात्र वतनभोगी अधिकारियों की एक शृंखला-मात्र थे। भारत में इनका जैसा सामन्त तालुकेदारी नहीं था। पुश्तैनी कुलीनतन्त्र के अभाव ने सरकार को शक्ति के स्थायी और दस्तानदार आधार से ही वंचित कर दिया। न तो जनता के पास चंचल चित्त और उद्धत सम्राट के अत्याचार से बचने का कोई साधन था और न सम्राट के पास मुसीबत के दिनों के लिए कोई निश्चित सहायता अथवा सुदृढ़ सहारा। शासन का जहाज पतवार विहीन था—आँधियों और तूफानों के अधीन।

4 जनता

साम्राज्य के प्रजाजन दो वर्गों में विभक्त थे। उच्च वर्ग जिसमें शासक भी सम्मिलित थे, मुसलमानों और हिन्दुओं की श्रेष्ठतर जातियों से बना था। सैयद मुगल ईरानी पठान या अफगान और शेख मुसलमानों के उच्च वर्ग में आते थे और राजपूत ब्राह्मण खत्री तथा कायस्थ हिन्दुओं के उच्च वर्ग में। शासक-वर्ग की सैनिकेतर शाखा में सैयद और ब्राह्मण थे। मुगल सरकार एक ऐसी उच्च वर्गीय सरकार थी जिसके दो स्तम्भ थे—सेना और सेवाएं। इन दोनों पर उच्च वर्गों की सैनिक शाखा—मुगल ईरानी पठान और राजपूत—का एकाधिकार था। साम्राज्य के मनसबदारों की सूची के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है। 'मासिरुल उमरा' में अकबर के शासन-काल से लेकर शाह आलम के समय तक के ऊंचे ओहदे के मनसबदारों की सूची दी हुई है। इस सूची में 636 मुस्लिम अधिकारी हैं और 87 हिन्दू। मुसलमानों में मुगलों और पठानों की संख्या बहुत अधिक (570) है। सैयद कम (33) हैं और शेख उनसे भी कम (25)। इसी प्रकार हिन्दुओं में लगभग आधा दर्जन व्यक्तियों को छोड़कर सभी महाराष्ट्र बुन्देलखण्ड मध्यदेश और राजपूताने के राजपूत हैं। स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों ने पहले से ही यह समझ लिया था कि उन्हें सेना में केवल युद्ध प्रिय जातियों को ही नियुक्त करने की नीति अपनानी चाहिए और यही वह नीति है जो भारत में अंग्रेजों के सैन्य संगठन की आधारशिला बनी।

सैयदों को अदालती विभाग में नियुक्त किया गया था, क्योंकि वे एक ऐसे वर्ग के थे जिसका व्यवसाय ही अध्ययन-अध्यापन था। इसी प्रकार इन्साफ करने के काम में काजियों की सहायता के लिए ब्राह्मण नियुक्त किए गए थे। भूराजस्व और वित्त विभागों ने कायस्थों को प्रश्रय दिया जो हिन्दुओं के शिक्षित वर्गों में सम्मिलित थे।

अन्य हिन्दू तथा मुस्लिम जातियां जो आबादी का बहुत बड़ा भाग थीं ऐसे व्यवसायों—कृषि उद्योग और व्यापार—में लगी थीं जो उच्चतर वर्गों के लिए अनुपयुक्त समझे जाते थे। वे तो वास्तव में राज्य के विशेषाधिकारहीन प्रजाजन थे, जिनका प्रशासन में कोई भाग या दखल न था। स्वभावतः ही सरकारी

मामलों में उनकी कोई रुचि न थी और सरकार की लाभ हानि के प्रति भी उनमें उपेक्षा भाव ही था।

स्पष्टतः हिन्दू-समाज-व्यवस्था में निहित भावना ने साम्राज्य के पूरे कार्य व्यापार पर व्यापक प्रभाव डाला था क्योंकि जाति की भावना ने मुसलमानों में भी गहरी जड़ें जमा ली थीं और वह साम्राज्य के प्रशासनतन्त्र का आधार बन बैठी थी। हिन्दू-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रियों को समाज-व्यवस्था का पालक-संरक्षक माना जाता था और यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि वे अपने को उच्च जातियों के स्तर निर्धारण अथवा स्तर-परिवर्तन का भी अधिकारी मानने लगे। [illegible] आए, तब पंजाब की पंचायत रियासतों के राजपूत नरेशों और महाराष्ट्र के नरेशों ने व्यक्तियों और वर्गों के स्तर उठा या गिरा दिए। ब्राह्मण धर्माचार्य के सामाजिक व्यवस्था के संरक्षक रहे। उत्तर भारत में [illegible] मराठा सरदार अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए उपयुक्त वंशावलियों की खोज करना या अपने-आपको राजपूतों का वंशज बताना चाहते थे।

मुगल बादशाह उन क्षत्रिय नरेशों के समान थे जिनका कर्तव्य सामाजिक अनुशासन बनाए रखना था। अबुल फज़्ल के कथनानुसार समाज के चार वर्ग थे—योद्धा, व्यापारी तथा कारीगर, विद्वान और किसान। 'अतः सम्राट का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इनमें से प्रत्येक को यथास्थान बनाए रखे और अपनी व्यक्तिगत मान्यता तथा दूसरों के प्रति आदर भाव-द्वारा इस विश्व को फूलने-फलने दे। जिस प्रकार राजनीति-रूपी विराट पुरुष मनुष्यों के उपर्युक्त चार वर्गों की सहायता से अपना सन्तुलन बनाए रखता है उसी प्रकार साम्राज्य के अन्तिम स्वरूप में भी ऐसे ही चारों स्तरों (कुलीनों, राज्य-अधिकारियों, बुद्धिजीवियों अथवा प्रशासकों, और कर्मचारियों) का समावेश होता है।'[1]

अबुल फज़्ल ने जिन चार वर्गों का उल्लेख किया उनमें से [illegible] राज्य के मूलाधार थे। महत्त्व की दृष्टि से विद्वानों का स्थान उनके बाद था। इनमें विद्वान विधिवेत्ता, धर्म-व्याख्याता, अध्यापक, लेखक और कवि शामिल थे। इनका पोषण सरकार का कर्तव्य था। शासक अपनी राज-सभाओं को शान के [illegible] बनाने में गर्व अनुभव करते थे। कलाकारों और विद्वानों के संरक्षक [illegible] थे और ऐसे लोगों को मान्यता तथा पुरस्कार देने के लिए आतुर रहते थे जो कविता, धर्मव्याख्यान, इतिहास, साहित्य अथवा विज्ञान के क्षेत्र में निष्णात हो गए थे। इस संरक्षण का अधिकांश स्वभावतः ही मुसलमान उलमाओं को प्राप्त होता था, परन्तु हिन्दुओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। प्रत्येक बादशाह के दरबार में विख्यात संस्कृत विद्वान और हिन्दी-कवि होते थे [illegible] सम्राट के कृपापात्र थे। हिन्दू ज्योतिषियों और चिकित्सकों का मान तो बराबर बना रहा था।

निम्न-वर्ग के लोगों का भाग्य [illegible] प्रभाव बहुत अधिक था। मध्यकालीन यूरोप के [illegible] की भाँति उनका पश्चिमी और मुस्लिम तथा हिन्दू दुनिया में [illegible] होता था परन्तु [illegible] पश्चिमी [illegible] की भाँति उनका [illegible] नहीं था। [illegible] हित

1 ('आईने अकबरी' ब्लॉकमैन-द्वारा अनूदित, दूसरा संस्करण), खंड 1, पृष्ठ 4

बंगाल की दीवानी जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंपी गई, उस समय की उस प्रान्त की स्थिति एक बार फिर हिन्दू जमींदारों की बहुलता प्रकट करती है। यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि पश्चिमी पंजाब के अतिरिक्त पूरे भारत में भूमि विषयक श्रेष्ठाधिकार हिन्दुओं के ही हाथ में थे।

मुगल कुलीनतन्त्र का महान वेतनभोगी अधिकारियों का एक समूहमात्र थे। भारत में इंगलैण्ड जैसा सामन्त। ताल्लुकेदारी रहा था। पुश्तैनी कुलीनतन्त्र के अभाव ने सरकार की शक्ति के स्थायी और दृष्टाभाव आधार से ही वंचित कर दिया। न तो जनता के पास चंचल वित्त और उद्धत सम्राट के अत्याचार से बचने का कोई साधन था और न सम्राट के पास मर्मान्तक के दिनों के लिए कोई निश्चित सहायता अथवा गुट्ट सहारा। शासन का नाव पतवार विहीन था—आंधियों और तूफानों के अधीन।

4 जनता

साम्राज्य के प्रजाजन दो वर्गों में विभक्त थे। उच्च वर्ग, जिसमें शासक भी सम्मिलित थे, मुसलमानों और हिन्दुओं की श्रेष्ठतर जातियों से बना था। सय्यद, मुगल, ईरानी, पठान या अफगान और शेख मुसलमानों के उच्च वर्ग में आते थे और राजपूत ब्राह्मण खत्री तथा कायस्थ हिन्दुओं के उच्च वर्ग में। शासक-वर्ग की सैनिकेतर शाखा में सैयद और ब्राह्मण थे। मुगल सरकार एक ऐसी उच्च वर्गीय सरकार था, जिसके दो स्तम्भ थे—सेना और सेवाएं। इन दोनों पर उच्च वर्गों की सनिक शाखा—मुगल ईरानी पठान और राजपूत—का एकाधिकार था। साम्राज्य के मनसबदारों की सूची के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है। 'मासिरुल उमरा' में अकबर के शासन-काल से लेकर शाह आलम के समय तक के ऊंचे ओहदे के मनसबदारों की सूची दी हुई है। इस सूची में 636 मुस्लिम अधिकारी हैं और 87 हिन्दू। मुसलमानों में मुगलों और पठानों की संख्या बहुत अधिक (570) है। सय्यद कम (33) हैं और शेख उनसे भी कम (25)। इसी प्रकार हिन्दुओं में लगभग आधे दर्जन व्यक्तियों को छोड़कर सभी महाराष्ट्र, बुंदेलखण्ड, मध्यदेश और राजपूताने के राजपूत हैं। स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों ने पहले से ही यह समझ लिया था कि उन्हें सेना में केवल युद्ध प्रिय जातियों को ही नियुक्त करने की नीति अपनानी चाहिए और यही वह नीति है जो भारत में अंग्रेजों के सैन्य संगठन की आधारशिला बनी।

सय्यदों को अदालती विभाग में नियुक्त किया गया था क्योंकि वे एक ऐसे वर्ग के थे जिसका व्यवसाय ही अध्ययन-अध्यापन था। इसी प्रकार इन्साफ करने के काम में काजियों की सहायता के लिए ब्राह्मण नियुक्त किए गए थे। भूराजस्व और वित्त विभागों ने कायस्थों को प्रश्रय दिया जो हिन्दुओं के शिक्षित वर्गों में सम्मिलित थे।

अन्य हिन्दू तथा मुस्लिम जातियां जो आबादी का बहुत बड़ा भाग थीं ऐसे व्यवसायों—कृषि उद्योग और व्यापार—में लगी थीं जो उच्चतर वर्गों के लिए अनुपयुक्त समझे जाते थे। वे तो, वास्तव में राज्य के विशेषाधिकारहीन प्रजाजन थे, जिनका प्रशासन में कोई भाग या दखल न था। स्वभावतः ही सरकारी

मामलों में उनकी कोई रुचि न थी और सरकार की लाभ हानि के प्रति भी उनमें उपेक्षा भाव ही था।

स्पष्टतः हिन्दू-समाज-व्यवस्था में निहित भावना ने साम्राज्य के पूरे काम-व्यापार पर व्यापक प्रभाव डाला था, क्योंकि जाति की भावना ने मुसलमानों में भी गहरी जड़ें जमा ली थीं और वह साम्राज्य के प्रशासनतन्त्र का आधार बन बैठी थी। हिन्दू-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रियों को समाज-व्यवस्था का पालक-संरक्षक माना जाता था और यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि वे अपने को अन्य जातियों के स्तर-निर्धारण अथवा स्तर-परिवर्तन के भी अधिकारी मानने लगे। ऐसे बहुत-से अवसर आए जब पंजाब की पंचायतें, राजस्थान के राजपूत नरेशों और महाराष्ट्र के नरेशों ने व्यक्तियों और वर्गों के स्तर उठा या गिरा दिए। ब्राह्मण धर्माचार्य भी सामाजिक उत्थान के उत्सुक रहते। उनके कामों में से एक था उन मराठा सरदारों अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए उपयुक्त वंशावलियों की खोज करना जो अपने-आपको राजपूतों का वंशज बताना चाहते थे।

मुगल बादशाह उन क्षत्रिय नरेशों के समान थे जिनका कर्तव्य सामाजिक अनुशासन बनाए रखना था। अबुल फज़ल के कथनानुसार समाज के चार वर्ग थे—योद्धा, व्यापारी तथा कारीगर, विद्वान और किसान। 'इन सम्राट का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इनमें से प्रत्येक को यथास्थान बनाए रखे और अपनी व्यक्तिगत योग्यता तथा दूसरों के प्रति आदर भाव-द्वारा इस विश्व को फूलने-फलने दे। जिस प्रकार राजनीति-रूपी विराट पुरुष मनुष्यों के उपयुक्त चार वर्गों की सहायता से अपना सन्तुलन बनाए रखता है उसी प्रकार बादशाह के अन्तिम स्वरूप में भी ऐसे ही चार तत्त्वों (तुलना राज्य-अधिकारियों, बुद्धिजीवियों अथवा प्रजाजनों और कर्मचारियों) का समन्वय होता है।[1]

अबुल फज़ल ने जिन चार वर्गों का उल्लेख किया उनमें से योद्धा राज्य के मूलाधार थे। महत्त्व की दृष्टि से विद्वानों का स्थान उनके बाद था। इस वर्ग में विद्वान विधिवेत्ता, धर्मशास्त्रवेत्ता, अध्यापक, लेखक और कवि शामिल थे। उनका पोषण सरकार का कर्तव्य था। शासक अपनी राजसभाओं को ज्ञान के केन्द्र-स्थल बनाने में गर्व अनुभव करते थे। कलाओं और विद्याओं के संरक्षक कहलाना उन्हें प्रिय था और इनके ज्ञाताओं को मान्यता तथा पुरस्कार देने के लिए आतुर रहते थे जो कविता, धर्मशास्त्र, इतिहास, साहित्य अथवा विज्ञान के क्षेत्र में विख्यात हो चुके थे। इस संरक्षण का अधिकांश स्वभावतः ही मुसलमान उलेमाओं को प्राप्त होता था, परन्तु हिन्दुओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। प्रत्येक बादशाह के दरबार में विख्यात संस्कृत विद्वान और हिन्दी-कवि होते थे जो सम्राट् के कृपापात्र थे। हिन्दू ज्योतिषियों और विधिवेत्ताओं की माँग तो बराबर बनी रहती थी।

शिक्षितों की संख्या अधिक न होने के कारण उनका प्रभाव बहुत अधिक था। मध्य-कालीन युग में [illegible] की भाँति उलेमा, पण्डितों और मुल्लाओं तथा हिन्दू-पुरोहितों का बहुत [illegible] होता था परन्तु अन्य शिक्षित [illegible] की भाँति उनका भी [illegible] था। इस्लाम अथवा हिन्दुत्व

1 (आईन-अकबरी, ब्लाखमन-द्वारा अनूदित दूसरा संस्करण), खण्ड 1, पृष्ठ 4

म कोई एक सुन्ढ धर्म-व्यवस्था स्थापित न हो सकी और इनमें से किसी न भी किसी ऐसे सर्वोच्च धार्मिक प्राधिकार की आवश्यकता अनुभव नहा की जिसके फसले विवादग्रस्त मामला में अन्तिम मान जा सक। धर्मोपदेश और विधि निषेध लिखित रूप में उपलब्ध थे और जिस व्यक्ति का भी अरबी की पर्याप्त जानकारी थी, वह उनके निवचन के योग्य मान लिया जाता था। वे ग्रन्थ इतने व्यापक थे कि उनसे समाज और व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षा का समुचित मार्ग-दर्शन सम्भव हो जाता था।

हिन्दुओं म स्थिति उसस बहुत भिन्न न थी। केवल मुसलमाना ने ही धार्मिक विधाना के अध्ययन से किसी व्यक्ति को नहा राक रखा था, हिन्दुओं में भी केवल ब्राह्मणा को ही धर्मशास्त्रा के निवचन का अधिकार था। फिर भी, व्यवहारत निवचन का यह काय मुसलमाना में उस विद्यानिपुण वग तक ही सीमित था, जिसमें अधिकतर सैयद थे। ब्राह्मणा में थाडे ही लागा ने अपने का अध्ययन-अध्यापन में लगाया था, उनमें से अधिकतर लोग अन्य व्यवसाय—कृषि व्यापार और सेवा—में लगे थे।

उलमा अथवा धर्म विधिवेत्ता दो प्रकार से अपना प्रभाव डालते थे। काजियों और मुफ्तियों के रूप में उनका सम्बन्ध इन्साफ करने से था और कानूनी मामलों में उनके फसले उदाहरण बन जाते थे। काजी जितना अधिक विद्वान होता था, उसका आदर उतना ही अधिक किया जाता था। इतना ही नहीं वे तो जनसाधारण और शहजादों के पथ प्रदर्शक और परामर्शदाता भी थे। धर्मोपदेश अथवा शिक्षा प्रदान करने के उनके दो तरीके थे या तो मस्जिदों में धर्मासना पर से दिए गए धर्मोपदेशो-द्वारा अथवा शासकों के सभा भवनों में विशेष श्रोताओं के सम्मुख दिए गए प्रवचनों-द्वारा। स्कूलों म बालकों को पढाने तथा पुस्तकें लिखने का काम भी उन्हीं के सुपुर्द था और ये दोनों ही काम प्रचार के शक्तिशाली माध्यम हैं। मध्य-काल में ज्ञान और शिक्षा धर्मशास्त्र से ओतप्रोत थे और धार्मिक नियम सिद्धान्तों के प्रवक्ताओं के रूप में अध्यापकों और लेखकों को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

उलमाओं से सम्बन्धित रहस्यवादी योगी—सूफी और दरवेश—थे। उलमाओं में से अनेक व्यक्ति पवित्र पारलौकिक और त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन बिताते थे, परन्तु अन्य लोग व्यवहार कुशल अहंकारी विद्वान् तथा तर्क विलक्षण विधिवेत्ता थे जिन्हें मुख्यत अपनी ही प्रगति में रुचि थी। बलबन ने उन्हें 'उलमाए-जाहिरी' (बाह्याडम्बरवाले विद्वान) कह कर उन्हें आध्यात्मिक भाव-सम्पन्न उन व्यक्तियों से भिन्न किया था जो उलमाए-बातिनी की सना से विभूषित थे। जिन धर्मप्राण व्यक्तियों ने विश्व का परित्याग कर दिया था और ध्यान धारणा तथा आध्यात्मिक अनुशासन का मार्ग अपना लिया था उनमें ऐसे बहुत-से लोग थे, जो प्रकाण्ड पण्डित थे परन्तु सूफियों के समूह में अधिकतर उन दोंगी धूर्तो और स्वेच्छाचारियों ने प्रश्रय प्राप्त कर लिया था जिन्होंने अपने को नम्रतावरण में छिपा रखा था। विशेष कर अठारहवीं शताब्दी म तो इस देश में सच्चे आत्मा बहुत ही कम थे, जबकि ढोंगी पाखण्डियों की संख्या बहुत अधिक थी। सच तो यह है कि वास्तविक रहस्यवाद का ह्रास नतिक गाम्भीर्य के क्षेत्र में होनेवाले उस सामान्य शथिल्य का एक प्रधान लक्षण था जो अठारहवीं शताब्दी में व्याप्त था।

इन सूफियों की अनेक गुरु-परम्पराएँ (सिलसिले)—चिश्तिया, स[illegible] नक्शबन्दिया, कादिरिया, आदि—थीं। प्रत्येक उच्च वर्गीय मुसलमान उन् [illegible] एक परम्परा में शामिल होना, अपनी बस्ती में स्थित उस परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति के प्रति निष्ठा की शपथ लेना जो धार्मिक बातों तथा अपने जीवन के सामान्य कार्य-कलाप के सम्बन्ध में भी उसका परामर्श प्राप्त करना कर्तव्य समझता था।

हिन्दू-समाज में भी ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं। ब्राह्मण पण्डित संन्यासियों की गुरु-परम्पराओं के प्रधान और धार्मिक सम्प्रदाय हिन्दू-समाज में वही काम करते थे, जो मुस्लिम समाज में उलमा और धार्मिक अध्यक्षों-द्वारा किया जाता था।

दुर्भाग्यवश ये दोनों वर्ग एक-दूसरे से लगभग पूरी तरह अलग थे। धर्म, भाषा, रीति-रिवाजों और सामाजिक परिस्थितियों ने उनके पारस्परिक सम्पर्क में बाधा डाली। उनके दो न्यारे संसार थे। वे ऐसी मानसिक प्राचीरों-द्वारा विभक्त थे जिन्हें लाँघा नहीं जा सकता था। कभी-कभी किसी जैनुल आबेदीन, किसी अकबर अथवा किसी दारा शिकोह ने उन दीवारों को तोड़ डालने का प्रयास भले ही किया हो, कभी-कभी किसी मुस्लिम दरवेश और हिन्दू योगी ने एक साथ बैठ कर विचारों का आदान-प्रदान भले ही कर लिया हो, पर सामान्यतः इन दोनों जातियों के याजकीय वर्गों के बीच की खाई गहरी ही बनी रही।

उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा सीखने और संस्कृत-साहित्य, विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करनेवाले मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम थी। यद्यपि फिरोज तुगलक के समय से ही लगातार और मुगल बादशाहों-द्वारा विशेष क्रमबद्ध रीति से, फारसी अनुवादों के माध्यम से मुसलमानों को संस्कृत-ग्रन्थों से परिचित कराने के प्रयास किए जाते रहे, तथापि मुसलमान लेखकों की पुस्तकों से संस्कृत-ग्रन्थों का परिचय प्रायः प्रकट नहीं होता। उधर हिन्दुओं ने फारसी की जानकारी और कुछ लोगों ने अरबी की जानकारी अवश्य प्राप्त की, परन्तु समग्र रूप से पण्डित अपने-आपको इससे अलग ही बनाए रहे और संस्कृत में लिखी गई सारी पुस्तकों में फारसी और अरबी-साहित्यों की लगभग पूरी तरह उपेक्षा की गई।

दोनों जातियों की उच्चतर जनता के बीच एक ऐसी खाई थी जिसे पाटना कठिन प्रतीत होता था। यह बड़े अचरज की बात है कि कट्टर धर्मान्धता के कारण दोनों ओर के विद्वान दूसरे पक्ष की चिन्तन-राशि के प्रति उदासीनता दिखाते रहे। इसके दुष्परिणाम बाद को प्रकट हुए।

[illegible] और [illegible] के [illegible] दलों ने वास्तव में [illegible] आश्रय प्राप्त होता था। हिन्दुओं में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों और मुसलमानों में विद्वानों तथा सूफियों के एक वर्ग ने सिद्धान्तों, विश्वासों और बनावटी विभेदों से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक जीवन के लिए एक सामान्य आधार-भूमि का प्रचार किया। उन्होंने उन संकीर्ण-हृदय व्यक्तियों के दम्भ और साम्प्रदायिक भावना से ऊपर उठने की इच्छा व्यक्त की जो धर्माचार के क्षेत्र में स्वयम्भू एकाधिकारी बन बैठे थे। उन लोगों ने मनुष्यों में प्रेम, भाईचारे और सद्भावना की स्थापना का प्रयास किया।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि सहिष्णुता के इन नव्य-समर्थक सन्देशवाहकों में से अधिकतर ब्राह्मणेतर जातियों के थे। कबीर जुलाहा थे, नानक वेदी खत्री, रैदास चमार, धन्ना जाट, सेना नाई, सुन्दरदास बनिया, मलूकदास खत्री, वीरभान, बाबालाल और नेमराय खत्री, धरणीदास कायस्थ, जगजीवनदास ठाकुर और बुल्ला साहब कुनबी। महाराष्ट्र में नामदेव दर्जी, ज्ञानेश्वर जातिबहिष्कृत ब्राह्मण, चोखा मेला महार और तुकाराम शूद्र थे। दक्षिण में वेमा किसान थे और तिरुवल्लुवर परिया। बंगाल में यद्यपि चैतन्य का जन्म एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था तथापि उनके शिष्यों में हिन्दू समाज के निम्नतर वर्ग के व्यक्ति और मुसलमान अधिक थे।

मुसलमानों में भी ऐसे व्यक्ति और व्यक्ति-समूह थे जो हिन्दू-दर्शन और धर्म की जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। मानव-सुलभ दया भाव से उनका हृदय ओतप्रोत था और वे अपने पवित्र आचरण, प्रेम भाव, निःस्वार्थ सेवा और पारलौकिकता के आधार पर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते थे। जन्म और सम्पत्तिगत अन्तरों पर आधारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होने और निर्धन तथा दलित लोगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने के कारण सभी वर्गों और स्तरों के लोग उनकी ओर खिंच जाते थे। ऐसे लोगों में चिश्तिया-गुरु परम्परा के सदस्य सबसे प्रधान थे। भारत में इस गुरु-परम्परा के प्रवर्तक मुइनुद्दीन चिश्ती पृथ्वीराज चौहान के शासन-काल में यहां आए और अजमेर में बस गए। जब उत्तर भारत तुर्कों के अधिकार में आ गया और दिल्ली उनकी राजधानी हो गई, तब चिश्तियों का प्रधान केन्द्र दिल्ली ले आया गया। इस गुरु-परम्परा में कुछ बहुत ही उल्लेखनीय व्यक्ति—कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, निजामुद्दीन औलिया, बाबा फरीद शकरगंज और शेख सलीम चिश्ती—सामने आए।

ये लोग हिन्दू योगियों के साथ घनिष्ठ परिचय रखते थे और उनके दृष्टिकोण के प्रति प्रशंसा भाव व्यक्त करते थे। इसी सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दू-योग की अनेक विशेषताएं इस्लामी चिन्तन का अंग बन गईं। इस सम्प्रदाय का हिन्दुओं के प्रति क्या दृष्टिकोण था यह निजामुद्दीन के उस कथन से स्पष्ट हो जाता है जो उसने कुछ लोगों को मूर्ति-पूजन करते हुए देखकर कहा था। उसने कहा था 'प्रत्येक राष्ट्र का अपना ही रास्ता है, अपना ही धर्म और अपना ही मक्का।' उसके शिष्य नासिरुद्दीन चिराग-ए-दिल्ली का उसने परामर्श दिया था 'लोगों के बीच रहते हुए उनके अत्याचारों तथा प्रहारों को सहन करते हुए उनके प्रति नम्रता, उदारता और दयालुता का व्यवहार करो।' प्रोफेसर हबीब ने इस ओर संकेत किया है कि गैर-मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन कराना चिश्ती सिलसिले के काम का कोई अंग न था।[1]

भारत में अठारहवीं शताब्दी के धर्मवेत्ताओं में सबसे अधिक विद्वान माने जानेवाले व्यक्ति शाह वली उल्ला ने यह विचार व्यक्त किया कि 'सभी का धर्म एक है, अन्तर तो केवल विधि-निषेधों के सम्बन्ध में है।'

1 द इस्लामिक कल्चर', अप्रैल 1946 पृष्ठ 140;
2. शाह वली उल्ला, 'हुज्जत उल्लाहिल बालिगा', हसन लाहौर का उर्दू-अनुवाद पृष्ठ 182

दूसरा वर्ग कादिरिया गुरु-परम्परा का था। इस परम्परा के प्रवर्तक अब्दुल कादिरुल जिलानी थे जो बारहवीं शताब्दी में बगदाद में रहते थे। उनकी मान्यताएं, विधियां, प्रथाएं, आदि अन्य गुरु-परम्पराओं से भिन्न थीं। उनके कुछ अनुयायी उन्हें खुदा मानते थे। भारत में इस परम्परा का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ और इसके सबसे विख्यात गुरु मियां मीर (मीरनजी) थे, जिन्होंने दारा शिकोह को अपना शिष्य बनाया।

व्यवस्थित मण्डलियों के अतिरिक्त ऐसे इक्के-दुक्के स्वतन्त्र व्यक्ति भी थे जिनका व्यवहार अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण ही नहीं बल्कि सद्भावपूर्ण तक था। ऐसे लोगों में शेख नूरुद्दीन ऋषि, [illegible], फैजी, मुल्ला शाह, शाहजादा, मज़हर जान जाना और अन्य अनेक व्यक्ति थे।

मुस्लिम शासन-काल में प्रेम और श्रद्धा पर आधारित धर्म की जो धारा वेगवती हुई उससे कई अलग मताग्रहवादी सम्प्रदायों की स्थापना हुई। ऐसा जान पड़ता है मानो ऊर्जा का अवरुद्ध स्रोत फूट पड़ा हो। मानव-आकांक्षाओं को प्रवाह मिला और उनकी चेतना शक्ति में वृद्धि हुई। आरम्भ में इस प्रवृत्ति का वेग धर्म में दिखाई दिया जो रहस्यवादी रूप में एकान्तिक हो गया पर आगे चल कर यह धारा राजनीतिक विचारों के क्षेत्र भी उजागर करने लगी। इस ऊर्जा का धार्मिक और लौकिक तत्व [illegible] में [illegible] पड़ गया और इसका प्रयोग अधिकतर सामाजिक गौरव की प्राप्ति में ही किया जाने लगा, यद्यपि आध्यात्मिक जीवन के प्रति मौखिक प्रशंसा भाव व्यक्त किए जाते रहे। उन दिनों की यह एक रोचक वस्तुस्थिति है कि दिव्य और पार्थिव प्रेम के बीच का अन्तर मिट गया था, त्याग-तपस्यापूर्ण अभ्यास और ऐन्द्रिक भोग-विलास सहचर बन गए थे और उच्चतम दर्शन का बखान निकृष्टतम अन्धविश्वासों के साथ एक साथ भी किया जा सकता था।

दो सौ वर्ष से भी अधिक समय तक एक विचित्र जोश और उत्साह लोगों को स्पन्दित करता रहा और यह स्पन्दन मुगल-साम्राज्य की आश्चर्यजनक उपलब्धियों का एक महत्वपूर्ण साधन रहा। धीरे-धीरे इसका वेग मन्द पड़ गया और समग्र जीवन के नए विचार जगाने अथवा एक नए युग की समाज-व्यवस्था को जन्म देने में यह असमर्थ हो गया।

यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन ने राज्य की सर्वोच्चता और राष्ट्रीय समाज के विचारों को जन्म दिया। भारत में भक्ति-आन्दोलन राजनीतिक दृष्टि से निष्फल बना रहा। उसने व्यक्ति को इतर जीवन के लिए प्रेरणा अवश्य दी पर [illegible] रूप से समाज जहां-का-तहां बना रहा। मुगल-साम्राज्य की साम्राज्यवादी शक्ति समाप्त होते ही समाज विशृंखल हो गया। परिणामतः मुगल-काल के अन्त में [illegible], उद्विग्न और आन्तरिक संघर्ष से जर्जर हिन्द को पश्चिम की चुनौती का सामना करना पड़ा।

मध्य काल में भारत के लोगों में राजनीतिक भावना का स्फुटन से विशेष प्रगति नहीं दिखाई दी। समस्त जीवन के लिए भी सम्पूर्ण राजनीतिक [illegible] में बांटा जाना सम्भव नहीं था। धर्म में हुए परिवर्तन मन्दिरों और मस्जिदों के रूप में विभाजित हो गए। यहां तक कि राजनीतिक स्तर पर भी किसी धर्म-विशेष के

अनुयायियों में एकता की वास्तविक और प्रभावपूर्ण चेतना न तो हिंदुओं ने जगाई और न मुसलमानों ने। सामाजिक स्तर पर, भाईचारे का सीमा था उपजाति और कबीला। मुगल और पठान, तूरानी और ईरानी एक साथ मिलने के सचेतन प्रयास के बिना अलग-अलग ही रहे। हिंदुओं की दशा इससे अच्छी न थी वस्तुतः वह तो और भी बुरी थी। दोनों के मामले में गांव अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से एक आत्मनिर्भर इकाई की भांति था और शेष समाज के साथ उसका सम्बन्ध बहुत ही कच्चे धागों से जुड़ा था।

गांववालों के राजनीतिक स्वार्थ बहुत ही सीमित थे। गांववाले राज्य को एक ऐसा दूरस्थ, वस्तुतः पराई और निस्संदेह क्रूर वास्तविकता के रूप में ग्रहण करते थे जिससे बचा नहीं जा सकता था। उन्हें उसे सहन तो करना होता था परन्तु वे उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते थे। उसकी शक्ति एक दोहरी तलवार के समान थी जो बना भी सकती थी और मिटा भी सकती थी। राज्य की कमजोरी उनके लिए सुअवसर-तुल्य थी। राज्य एक ऐसी काल्पनिक वस्तु के समान था, जिस तक उनकी पहुंच सम्भव न थी। यदि सम्राट न्यायप्रिय, उदार और संवेदनशील होता था, तो शासक के व्यक्तित्व के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव उदित हो जाता था, अन्यथा वे यह समझ कर उसे सहन करते रहते थे कि वह परमात्मा द्वारा दिया गया उनके पापों का दण्ड है।

राजनीतिक दृष्टि से भारतीय साम्राज्य न्यूनाधिक स्वतंत्र इकाइयों के पुंज ही थे। जनता के साथ साम्राज्य के प्रकट सम्बन्ध सूक्ष्म थे, क्योंकि उसके कार्य तथा क्रिया-कलाप बहुत ही सीमित थे। जब तक कोई जोरदार शासक बागडोर सम्भाले रहा, तब तक वह जनता को एक सूत्र में बांधने और ऐसी सुव्यवस्थित परिस्थितियां उत्पन्न करने में सफल होता रहा जिससे लाभ उठा कर लोगों ने शीघ्र ही एक समुज्ज्वल सभ्यता का ढांचा निर्मित कर लिया। राजकीय मामलों में पथ प्रदर्शन कर सकने वाले महान् व्यक्तित्व के अभाव में वह ढांचा उतना ही तेजी के साथ क्षीण-शीर्ण भी हो गया।

5 शासक-वर्गों की असफलता

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन और विनाश हुआ। उनके उत्तराधिकारी के रूप में बहुत से प्रतियोगी सामने आए। पहले दल में प्रांतों के मुसलमान सूबेदार थे। इनमें अधिक महत्वपूर्ण थे—निजाम, जिसका दक्खन के छः सूबों पर शासन था, बंगाल का नवाब, जिसके शासित प्रदे[illegible] । बिहार और उड़ीसा के प्रांत शामिल थे, और अवध का नवाब, जिसका [illegible] और गंगा नदी के उत्तर के तराई प्रदेश तक था।

इसके उपरान्त हिंदू सरदारों—राजपूत, [illegible] स्थान था। इन्होंने पर लिया [illegible] के बाद [illegible] है
कि ये दिल्ली से समस्त [illegible]
पास पड़ोस के सरदा[illegible]
अठारहवीं शताब्दी में [illegible]
सम्भावित आगामी थे।

जो वास्तव में घटित होकर रहीं, वह यह थी कि इस मंच पर एक ऐसी विदेशी जाति का उदय हो गया जिसकी मातृभूमि भारत से हजारों मील दूर स्थित और विशाल समुद्र के कारण पृथक् थी परन्तु जो इस दौड़ में दूसरे प्रतियोगियों के साथ प्रविष्ट हुई, इसमें विजयी हुई और मुगलों के साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी बनी।

मुगल साम्राज्य अपना अस्तित्व कायम रखने में असमर्थ क्यों रहा, उत्तराधिकार के मामले में मराठे सरदार पराजित क्यों हुए, भारत के पड़ोसी मुसलमानों ने उनके पूर्व-पुरुषों की भांति सम्राट के पद के दावेदार का प्रदर्शन क्यों नहीं किया, इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है, क्योंकि केवल तभी ब्रिटेन की विजय का मूल कारण समझ पाना सम्भव है।

यह एक स्पष्ट सिद्ध तथ्य है कि शासकों की योग्यता-अयोग्यता का साम्राज्यों के उत्थान-पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब तक शासक-वर्ग अपनी उत्कृष्टता बनाए रखते हैं, राज्य की संरचना स्वस्थ और मजबूत बनी रहती है, परन्तु इस उत्कृष्टता के अभाव में राज्य में भी कमजोरी, रुग्णता और अवसान आ जाता है। उत्कृष्टता ही राज्य-सफलता है। वस्तुतः इसका अर्थ है चुनौतियों का सामना करने और उन पर विजय पाने की क्षमता। इसका अर्थ है, बदलते देश-काल की शक्तियों के दबाव, आक्रमण और उनके ऐसे अनुकूल उपायों की खोज, जिनसे अपनी नीति की सफलता में उन्हें सहायक बनाया जा सके। किसी शासन का स्वरूप चाहे जो हो—एकतन्त्र हो या स्वल्पतन्त्र हो, अथवा जनतन्त्र हो—प्रत्येक शासन का आधारभूत तथ्य यही है कि वह ऐसी राजनीतिक शक्तियों के सूक्ष्म संतुलन पर आधारित होता है जिनका झुकाव भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर होता है। जनतन्त्रों में सरकार का आधार व्यापक हो जाता है और इसलिए वे समस्याएं भी बहुत बढ़ जाती हैं जिनसे शासक उतनी सुगमता से निबट नहीं पाता। जनतान्त्रिक राज्य बहुत ही जटिल तन्त्र होता है जिसमें अनेक तत्व बड़े सम्पूर्ण रचना में गुंथे होते हैं। वे बाधाओं और दबावों का विभिन्न भागों में वितरण करते हैं और इस प्रकार राज्य की स्थिरता बनाए रखने में सहायक होते हैं। जनतन्त्र ने अपने राजनीतिक उलट फेरों पर विजय पाने का शान्तिपूर्ण उपाय खोज निकाला है और इसलिए ऐसी शासन-व्यवस्था में सरकार बदलने पर प्रायः हिंसा, रक्तपात अथवा अव्यवस्था का भय नहीं रहता।

मध्यकालीन भारत में जिस प्रकार के एकतन्त्री राज्य थे उनमें इस प्रकार स्थिरतामूलक और आदान-प्रदानात्मक उपायों का अभाव था। वे अपने प्रशासन व्यक्तिगत गुणों के समर्थन पर आधारित होते थे और इसलिए उनका शासन अस्थिर एवं अरक्षित होता था। स्थिति इतनी भयानक थी कि शासक की केवल बहुत ही उत्कृष्ट गुण-सम्पन्नता के आधार पर ही शासन की सुरक्षा निश्चित हो सकती थी। ऐसी शर्त थी, जो आसानी से पूरी नहीं हो सकती थी। राजनीतिक गुण को अस्पष्ट रूप निर्धारित करने के लिए वंशानुक्रम को आधार बनाने का सिद्धान्त इस्लाम द्वारा अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका था, परन्तु अस्पष्ट प्रक्रिया का दृढ़ निराकरण करके और सर्वमान्य ढंग स्थापित किया गया।

[illegible] सिंहासन [illegible] इतना बहुमूल्य हो [illegible] परिवर्तन पर बड़े [illegible] शासन के [illegible]-

बपाओं का सहारा ले लिया जाता था। मुगल बादशाहों का यह गर्व था कि वे दो विश्व विजेताओं—चंगेज और तैमूर—के वंशज थे। शिवाजी को एक ऐसी वंशावली प्राप्त थी, जिसने उसे सूर्य-वंश व सिसोदियों के साथ जोड़ दिया था। जाट यदुवंश के श्रीकृष्ण के वंशज होने का दावा करते थे। बहमनी सुल्तानों ने अपना सम्बन्ध महानतम ईरानी वंश—अर्थात बहमन से इसफंदियार तक—से जोड़ लिया था। यह सिद्धांत बार-बार मिथ्या सिद्ध हो चुका था, फिर भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया।

उत्तराधिकारियों के चयन में यह धारणा बराबर अपना प्रभाव डालती रही, यद्यपि शक्ति के हस्तांतरण का नियम तक अस्वीकार न किया जा सका। शहजादा का प्रतिद्वन्द्विता इसी नवागति की अभिव्यक्ति थी। परन्तु इसी प्रतिद्वन्द्विता ने उत्तराधिकार विषयक उन युद्धों को जन्म दिया, जिन्होंने समय समय पर राज्य की नींवें हिला दीं और अन्ततोगत्वा उसे विनष्ट ही कर दिया।

किसी शासन के भाग्य निर्धारण में मुख्य भूमिका उसमें सम्बद्ध शहजादे की उत्कृष्टता अथवा दूसरे शब्दों में उसकी शासन क्षमता की था। महत्व की दृष्टि से इससे अगला स्थान इस बात को प्राप्त था कि वह शहजादा समाज के उन तत्वों से किस प्रकार का समर्थन ग्रहण कर पाता था जो राजनीति में भाग लेते थे। ऊपर बताया जा चुका है कि मुगल शासन उच्च जातीय शासन था अर्थात उन उच्चतर जातियों का शासन था जिनमें योद्धा भी थे और विद्वान भी। परन्तु दोनों मिल कर भी राज्य रूपी प्रासाद को बहुत ही हल्का आधार प्रदान कर पाते थे। उन दिनों ऐसे लोगों की संख्या क्या थी यह अनुमान लगाना कठिन है। आज उनकी संख्या कुल आबादी के लगभग दस प्रतिशत के बराबर है परन्तु यह संख्या भ्रामक है क्योंकि इसमें ऐसे बहुत-से लोग भी शामिल कर लिए गए हैं जिनका शासन से कोई सरोकार नहीं। अठारहवीं शताब्दी के ऐसे भूस्वामियों की संख्या के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे राज सेवा की आशा की जाती थी, परन्तु शर्मा द्वारा की गई गणना[1] के अनुसार, सन 1690 में औरंगजेब के शासन काल में 14,556 मनसबदार थे। प्रशासनिक सेवाओं का उच्चतर सवर्ग उन्हीं के द्वारा निर्मित था। उनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी थे, जिनकी गणना मनसबदारों की सूची में तो नहीं की गई थी परन्तु जो अधीनस्थ कार्यालयों में अथवा असैनिक पदों (काजी आदि) पर रह कर सरकारी सेवा करते थे। ये सभी सरकार से सम्बन्धित भूस्वामी थे। उनके अतिरिक्त ऐसे बहुत से पुश्तैनी हिंदू जमींदार थे जिनका सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था। ये सभी तथ्य इस निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं कि मुगल सम्राट बहुत अधिक सक्रिय सहायता का भरोसा नहीं रख सकते थे और उनके आश्रितों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं था। यहां तक कि रूस के जारों के अधीन रहनेवाले आश्रितों की संख्या अधिक जान पड़ती है क्योंकि स्तालिन के अनुसार, उनके पीछे भू-सम्पत्ति धारी कुलीनतन्त्र के लगभग एक लाख तीस हजार व्यक्ति थे। बर्नियर[2] के अनुसार दिल्ली में जन सामान्य की तुलना में श्रेष्ठतर व्यक्तियों का अनुपात दस में दो से तीन तक था, जबकि उसी समय पेरिस में यह अनुपात सात में आठ तक था।

1 एस॰ आर॰ शर्मा, 'द रेलिजस पालिसी आफ द मुगल एम्परर्स', पृष्ठ 131-32

2 एफ॰ बर्नियर, पूर्वोद्धृत 'ट्रेवेल्स' पृष्ठ 282

कोई राज्य कितने समय तक विद्यमान रहेगा, इसका निर्णय उसकी संरचना के अतिरिक्त उसकी कार्यविधि पर भी निर्भर करता है। ठीक नीतियां अपनाने से राज्य मजबूत हुआ और गलत मार्ग अपनाने से कमजोर।

मुगलों में कई पीढ़ियां तक असामान्य रूप से योग्य व्यक्ति शासन भार सम्भाल रहे। मुगल-साम्राज्य के संस्थापक बाबर में सैनिक, राजनयिक और साहित्यकार के गुणों का अद्भुत संगम था। हुमायूं अपने पिता से भिन्न होने पर भी उदारमना, योग्य और बुद्धिमान था। अकबर में तो बहुत ही उच्चकोटि की प्रतिभा साकार हुई थी—वह एक तेजस्वी व्यवस्थापक, दूरदर्शी राजनयिक, दक्ष सेनानायक और सत्य का सच्चा तथा निर्भीक सन्धानी था। सुख-चैन और भोग विलास का प्रेमी होने पर भी जहांगीर में इतनी क्षमता थी कि वह अपने महान् पिता-द्वारा संस्थापित तन्त्र को गतिशील बनाए रख सकता। शाहजहां चंचलचित्त और अस्थिरमति तो था पर उसमें गुण परखने, सुयोग्य व्यक्तियों का चयन करने और संयत आचार के पथ पर चलने की क्षमता थी। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से वह सदाचार का अवतार था। वह एकमात्र सम्राट था, जो सुरा सुन्दरी और संगीत के बंधनों से मुक्त था। उसने संयमपूर्ण जीवन बिताया और अपने धार्मिक कर्तव्यों के परिपालन में वह नियमित तथा एकनिष्ठ बना रहा। जहां तक शासन-न्याय का सम्बन्ध है वह असामान्य उद्यम के साथ अपने काम पूरे करता था। उसे सजग तथा सूक्ष्मभेदिनी प्रज्ञा प्राप्त थी और शासन विषयक मामलों में वह बराबर कड़ी निगरानी रखता था। अपने निश्चय में वह अडिग था और बाधाएं केवल उसके संकल्प को पुष्टतर ही कर पाती थीं।

परन्तु औरंगजेब की नीतियां गलत रहीं और वह उस विशाल प्रासाद का विध्वंसक सिद्ध हुआ, जिसे बाबर अकबर और शाहजहां ने बनाया था। उसकी बहुत जबरदस्त भूलें दो थीं—(1) उसने राज्य के संयोजक तत्वों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। सरकारी वित्त-व्यवस्था के प्रति उसके उपेक्षा भाव का कुप्रभाव राजस्व और व्यय दोनों पर पड़ा। सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए उसे ऋण लेना पड़ा। सरकारी खजाने में कमी आ जाने से प्रशासन को स्थायी हानि हुई। (2) उसने अपने उच्च वर्गीय हिन्दू प्रजाजनों को नाराज कर लिया, जो साम्राज्य के अवलम्ब थे।

राजस्व के स्रोतों में भूमि का स्थान प्रधान था। भूमि दो वर्गों में बंटी थी। भूमि के कुछ भाग पर तो सरकार का प्रत्यक्ष प्रशासन था। ऐसी भूमि को 'खालसा' (सुरक्षित) कहा जाता था। 'खालसा' भूमि का राजस्व शाही अधिकारी इकट्ठा करते थे और यह रकम मुख्यतः बादशाह और उसके दरबार से सम्बन्धित कामों पर ही खर्च की जाती थी। दूसरे भाग अर्थात् 'जागीर' भूमि से प्राप्त रकम में से मनसबदारों के वेतन और भत्ते चुकाए जाते थे। खजाने से प्रत्यक्ष नकद भुगतान किए जाने के बदले इन अधिकारियों के लिए 'जागीर' भूमि के राजस्व का अंश निर्धारित कर दिया जाता था।

अपने शासन के उत्तरार्द्ध में अकबर ने सारी भूमि को 'खालसा' बना दिया था। ऐसा करने में उसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि सभी जमीनों के प्रशासन का प्रबन्ध [illegible] द्वारा हो और मनसबदारों के वेतन-सहित सभी सरकारी खर्च राजस्व विभाग-द्वारा ग्राह्य सर्वविध निधियों में से लिए जाएं। यह एक

मौलिक सूझ थी। यदि इसका पालन बराबर किया जाता, तो कदाचित भारत के इतिहास का सम्पूर्ण रूप ही परिवर्तित हो गया होता। दुर्भाग्यवश, परम्परा और तात्कालिक सुविधा की भावनाओं की विजय हुई और अकबर का शासन-काल समाप्त होते-होते 'खालसा' भूमि कुल भूमि के एक चौथाई भाग के बराबर रह गई।

अपव्यय की दृष्टि से जहांगीर बहुत ही लापरवाह था और उसने 'खालसा' भूमि को और भी कम करके कुल भूमि के बीसवें भाग के बराबर कर दिया। शाहजहां ने इन जमीनों को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न किया और धीरे धीरे 'खालसा' जमीन को बढ़ा कर कुल जमीन के सातवें भाग के बराबर कर दिया। औरंगजेब एक निकृष्ट दाय का उत्तराधिकारी बना, परन्तु खालसा भूमि को बढ़ा कर कुल भूमि के पांचवें भाग के बराबर करने में वह सफल हुआ। उसका लक्ष्य यह था कि पूरे साम्राज्य से प्राप्त होनेवाले कुल 80 करोड़ रुपये से अधिक के राजस्व में से 4 करोड़ रुपये 'खालसा' भूमि से प्राप्त हों। 3.33 करोड़ रुपये उसने इस प्रकार इकट्ठा भी कर लिए।

यह कोई बुरी बात न थी पर उसके द्वारा उठाए गए अन्य कदम पूर्णतः अविवेकपूर्ण थे। भू राजस्व का निर्धारित अंश उसने कुल उपज के एक तिहाई भाग से बढ़ा कर आधे के बराबर कर दिया और इस प्रकार किसान पर पड़नेवाला भार बहुत बढ़ गया। दूसरे, उसने जजिया लगा दिया जो गरीबों के लिए सचमुच बहुत ही दुखदायी था। इन करों का परिणाम यह हुआ कि किसान के पास केवल जीने भर का साधन शेष रह गया। ऐसी कोई बचत सम्भव न रही, जिसे वह अपनी खेती के विकास या विस्तार में लगा सकता।

जहां तक 'जागीर' जमीनों का सम्बन्ध था, राजस्व इतना घटा दिया गया कि जागीरों के प्रति कोई आकर्षण ही शेष न रहा और जागीरदारों को अपनी जागीरें लगान पर किसानों को सौंप देने के लिए विवश होना पड़ा। राजस्व-संग्रह के इस दोषपूर्ण तरीके का दुष्परिणाम गांवों पर भी पड़ा और सरकार पर भी। काश्तकारों का दमन हुआ और सरकारी राजस्व का दुरुपयोग।

हिन्दू राजस्व-संग्राहकों के स्थान पर मुस्लिम अधिकारी रखने का प्रयास करके औरंगजेब ने एक और भयंकर भूल की क्योंकि अपने धर्म के प्रति मुसलमानों में जो उत्साह था, उससे राजस्व विषयक मामलों में उनकी जानकारी और अनुभव की कमी की क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती थी। उक्त नीति को बदल देने से न तो ईमानदारी विषयक सरकार की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और न ही हिंदू अधिकारियों की घबराहट दूर हो पाई, जिनमें से केवल आधों को उनके स्थान पर फिर से नियुक्त कर दिया गया।

एक ओर इन उपायों ने सरकार की आय पर प्रभाव डाला और दूसरी ओर दक्कन में शियाओं तथा महाराष्ट्र के हिंदुओं की धार्मिक असहिष्णुता से प्रेरित दक्कन की ओर विस्तार करने की नीति ने साम्राज्य के संसाधनों को निरर्थक खर्च में डाल दिया। सत्ताईस वर्ष तक बादशाह ने लगातार एक विशाल सेना को उन महंगे अभियानों में लगाए रखा जिनका अन्त पूर्ण विफलता में हुआ। मराठा-युद्ध के अनेक परिणाम सामने आए। साम्राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। साहसी मराठा अश्वारोही मुगलों के बड़े-बड़े अचल और विलास निमग्न शिविरों को देख कर उनकी हंसी उड़ाते थे उनके चारों ओर चक्कर लगाते थे, उनकी रसद-व्यवस्था समाप्त कर देते थे और मुगल प्रदेशों में राज-कर लगा देते थे।

दक्कन से प्राप्त होनेवाला राजस्व, जो 18 करोड़ रुपये प्रति वर्ष था, समाप्त हो गया और इससे राजकोष को गहरी क्षति पहुंची। बादशाह के पूर्वाधिकारियों ने जो माल-खजाना जुटाया था वह समाप्त हो गया। उसके देहान्त के समय खजाने में 12 करोड़ रुपये की नगण्य रकम शेष थी।

औरंगजेब की पक्षपातपूर्ण धार्मिक नीति के लिए उसकी निंदा की जाती है। यह उचित ही है क्योंकि वह नीति राजनीतिक दृष्टि से अविवेकपूर्ण थी और धार्मिक दृष्टि से अनुचित। इससे बहुत हानि पहुंचाई। धार्मिक कट्टरता ने हिन्दू और मुसलमान उच्च वर्गों के बीच की खाई और चौड़ी कर दी, के घाव भी हरे कर दिए जिन्हें ठीक करने का प्रयास अकबर की नीति ने किया था, और हिन्दुओं को यह अनुभव करा दिया कि वे एक घटिया स्तर के नागरिक हैं। उक्त नीति ने उस शान्तिप्रिय आन्दोलन में भी बाधा डाली, जिसे कबीर और दादू ने दोनों धर्मों के बीच मेल मिलाप पैदा करने के लिए चलाया था। परन्तु यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि इसके कारण मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध किसी आम आन्दोलन को बढ़ावा मिला, अथवा यह कि इसने मुस्लिम शासन के विरुद्ध बगावतों की प्रेरणा दी। इसने तो केवल [illegible] बिना कि विद्रोह करनेवालों के राजनीतिक उद्देश्यों के पक्ष में प्रचार करने के लिए एक मूल्यवान कारण प्रस्तुत कर दिया और असन्तोष की दहकती हुई आग में घृताहुति डाल दी।

किसी आम हिन्दू बगावत का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था, क्योंकि हिन्दू किसी पृथक् बहुसंख्यक दल के रूप में नहीं थे और न ही वे किसी एक [illegible] के रूप में संगठित-व्यवस्थित थे। एक बात यह भी हुई कि औरंगजेब की नीति उसके देहान्त के साथ ही व्यवहारतः समाप्त हो गई, यद्यपि उसके बाद भी उसकी कटु स्मृतियां और प्रतिरोध भावनाएं बनी रहीं।

उस समय होनेवाली बगावतों का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। हिन्दुओं के एक वाममार्गी सम्प्रदाय 'सतनामियों' का, कुछ मामूली निजी बातों पर, सन 1672 में नारनौल में साम्राज्य के अधिकारियों के साथ झगड़ा हो गया। उन्होंने पुलिस और सेना की अधीनता अस्वीकार कर दी, नगर पर कब्जा कर लिया और वहां अपनी सरकार स्थापित कर ली। उनकी यह विजय अल्पायु ही रही। औरंगजेब ने रदन्दाज खां के नायकत्व में एक बहुत बड़ी सेना और विष्णु सिंह कछवाहा के नायकत्व में एक राजपूत सेना उनके विरुद्ध भेजी। हिन्दू और मुस्लिम मुगल इतिहासकारों—ईश्वरदास नागर, मुस्तैद खान और खफी खान—ने यह नहीं माना है कि वे हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। हिन्दू इतिहासकार के अनुसार "सतनामी बहुत ही गन्दे और दुष्ट हैं। अपने नियमाचारों में वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का भेद नहीं करते और सूअर तथा दूसरे गन्दे जानवरों का भक्षण करते हैं। यदि उनके सामने खाने के लिए कुत्ते का मांस भी रख दिया जाता है तो वे उसके प्रति कोई विरक्ति प्रकट नहीं करते। पाप और दुराचार में उन्हें कोई बुराई नहीं दिखाई देती।"[1]

आगरा दोआब में जाट जमींदारों द्वारा किए गए विद्रोह को किसी भी प्रकार धार्मिक विद्रोह नहीं माना जा सकता। केन्द्रीय शासन और पुरानी मूल्यानिया

1 यदुनाथ सरकार-द्वारा 'हिस्टरी आफ औरंगजेब', खण्ड 3, में पृष्ठ 296-97 पर उद्धृत

(जमान्दारों) के आपसी सम्बन्ध कुछ स्थायी झगड़े की तरह के थे। मध्य-काल का इतिहास ऐसी कहानियों से भरे पड़े हैं, जब अनिच्छुक सरदारों ने दबाव के बिना सरकारी देनदारियाँ चुकाने से इनकार कर दिया। प्रारम्भिक प्रतिरोध, खुली बगावत—यदि अवसर अनुकूल हो, तो—शाही सेनाओं का आगे बढ़ना और दमन, यह तो मानो एक सामान्य प्रक्रिया बन गई थी। प्रत्येक सरदार चाहे वह कितना ही मामूली क्या न हो, शक्ति की दृष्टि से कम होकर भी ओहदे में सर्वोच्च शासक के समान ही था और अपनी जागीर बढ़ाने और यदि सुयोग सुलभ हो, तो स्वयं राजा बन बैठने के लिए सदा तैयार रहता था।

6 जाट

दक्खन में औरंगजेब की अनुपस्थिति को महत्त्वाकांक्षी और उद्यमी जाट जमींदारों ने एक ऐसा सुअवसर समझा, जिसका उपयोग वे अपने लाभ के लिए कर सकते थे। इस दिशा में उनके प्रारम्भिक प्रयास विफल हो चुके थे। इसके उपरान्त राजाराम ने दो राजपूत-वंशों के बीच के झगड़े से लाभ उठा कर अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए उनमें से एक का समर्थन प्राप्त कर लिया। परन्तु वह एक दलीय संघर्ष में मारा गया और उस मुगल सेना ने इस विद्रोह का दमन कर दिया, जिसमें अम्बर के राजा विष्णु सिंह कछवाहा ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

राजाराम के छोटे भाई चूड़ामन ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात होनेवाले उत्तराधिकार-युद्ध में अन्तत जीतनेवाले पक्ष का साथ दिया और वह मनसबदार बन बैठा। बहादुर शाह के पुत्रों के बीच होनेवाले दूसरे उत्तराधिकार-युद्ध और उसके परिणामस्वरूप होनेवाली अव्यवस्था में चूड़ामन ने अपनी स्थिति सुधार ली और वह ऐसे शुल्क तथा कर सख्ती के साथ वसूल करने लगा, जिनका प्रतिरोध स्वाभाविक था। बादशाही दरबार में गुटबंदी होने के कारण उसके विरुद्ध कोई बड़ी कारवाई न की जा सकी पर उसके अपने पुत्रों के बीच होनेवाले झगड़ों ने उसके जीवन को इतना कटु बना दिया कि उसने विषपान करके आत्महत्या कर ली।

चूड़ामन का उत्तराधिकारी उसका भतीजा बदन सिंह था, जिसने अपने पूर्वाधिकारियों के उपद्रवपूर्ण कायकलाप का अन्त कर दिया और एक व्यवस्थित रियासत की नींव डाली, जिसमें मुगल दरबार का सामान्य आडम्बर विद्यमान था। "उसने अपने दरबार में पर्याप्त शान शौकत रखी। उन अनेक मुसलमान अधिकारियों ने, जिन्हें उसने नियुक्त कर लिया था, उसके दरबार में अभीष्ट निखार और शान का संचार कर दिया और वहां रह कर व दरबारी जीवन के आदर्श पुरुषों तथा असंस्कृत ग्रामवासियों को शिष्टाचार की शिक्षा देनेवाले अध्यापकों का रूप ग्रहण कर बैठे।'[1] उसने अपने पुत्र को एक उच्च वंशजात मुस्लिम कुलीन' की भांति शिक्षित किया। उसके पोते बहादुर सिंह ने अरबी में 'शराह जामी' तक अध्ययन किया'।[2]

जाट राज का उसके बाद का इतिहास अठारहवीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य के गद्दारों और कुलीनों के बीच होनेवाले झगड़ों तथा षडयन्त्रों की कष्टकथा से

1 दे० आर० कानूनगो, 'हिस्टरी आफ द जाटस', पृष्ठ 63

2 'इमादुस सआदत' (नवलकिशोर संस्करण), पृष्ठ 56

निम्न रहा है। उन्होंने कभी हिन्दू और मुसलमान समसामयिकों के प्रति न तो विशेष विवेक का ही प्रदर्शन किया और न दूरदर्शिता का, और इस बात का किंचित प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अपने तात्कालिक पारिवारिक हित से आगे बढ़ कर उन्होंने हिन्दू-समाज के हित-साधन में सहायक होने के निश्चित उद्देश्य का कहीं पालन किया। कछवाहा और राठौड़ों के बीच होनेवाली लड़ाई में उन्होंने कछवाहा का साथ दिया और ऐसा करते समय वे जाटों के विरुद्ध किए जानेवाले उन अभियानों का भागी बने जिनका नायकत्व कछवाहा-नरेश विष्णु सिंह और सवाई जय सिंह ने किया था। उन्होंने रोहिल्ला के विरुद्ध साम्राज्यवादियों की, दिल्ली के सम्राट् के विरुद्ध अवध के नवाब की, मराठों के विरुद्ध सम्राट की तथा अब्दाली के विरुद्ध मराठों की सहायता की और उन घड़ियों में भी वे ठहरने और देखने का खेल खेलते रहे, जब मथुरा और वृन्दावन नगरों पर तलवारें चमक रही थीं, आग बरस रही थी। उन्होंने साम्राज्य की शक्ति की रक्षा करने की योजना बनाई, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का यत्न किया। पानीपत की लड़ाई के समय उन्होंने पहले तो मराठों का घृणास्पद मित्रता सुलभ की पर बाद में विश्वासघात की आशंका से उन्हें अहमद शाह अब्दाली का सामना करने के लिए अकेला छोड़ दिया।

इन अविवेकपूर्ण कार्यवाहियों से इस मान्यता का खंडन स्वयं हो जाता है कि राजपूत हिन्दू धर्म के संरक्षक थे और औरंगज़ेब की धार्मिक नीति के प्रति धर्म भावना से व क्रोधाभिभूत हो उठे थे।

7 मराठे

मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार के दावेदारों में मराठों की स्थिति, परिस्थितियों की दृष्टि से सबसे अधिक अनुकूल थी। प्रकृति ने उन्हें एक ऐसा प्रदेश प्रदान कर दिया था, जहाँ शत्रु का पहुँचना सुगम न था। घाट और तल-कोंकण के बीच सह्याद्रि की भाँति बढ़ता हुआ पश्चिमी घाट का निम्न प्रवणता, पश्चिमी दक्कन की उच्च समभूमियों और कोंकण के तटप्रदेश ने जिन पर मराठों की इस मातृभूमि का निर्माण किया। दूर-दूर तक फैला हुआ अरब-सागर इसके तटवर्ती प्रदेश का प्रक्षालन करता है। सघन वन भूमि पर अमूल्य वनस्पति—भूमध्यसागर और अन्तरमहाद्वीपीय व्यापार—की कथा कही है। 'घाट' ने इन सुरक्षा-स्थल सुलभ किए हैं जहाँ शत्रु अवगाहियों की पहुँच से मुक्ति सम्भव है। यहाँ की चट्टानें उन भयानक दुर्गों की रचना में सहायक रही हैं, जिन्होंने शत्रु-द्वारा पीछा किए जाने में मराठों की रक्षा की और आस-पास के समतल इलाकों पर छा जाने में उन्हें सुविधा-सहायता पहुँचाई। उच्च समभूमि के बीच-बीच में घाटियाँ हैं जिनमें से पूर्व दिशा की ओर नदियाँ बहती हैं। घाटियों की मिट्टी उपजाऊ है, इस प्रदेश की बाकी भूमि केवल मोटे और घटिया अनाजों—ज्वार और बाजरे—की खेती के लिए ही उपयुक्त है।

ऊबड़-खाबड़, दुर्गम पहाड़ियों और उच्च भूमियों के इस प्रदेश में मराठे कठोर और मितव्ययी जीवन बिताते थे। उनका परिवेश इन लोगों में स्वाधीनता, उद्यम और पुष्ट आत्मनिर्भरता के भाव जगाने में समर्थ रहा है। उत्तर तथा दक्षिण भारत में धन की जो अत्यधिक विषमताएँ विद्यमान रही हैं, उनसे यह प्रदेश मुक्त रहा और जागीरदार भूमिपतियों का एक बड़ा वर्ग मराठा-समाज का सदस्य था। जातिगत भेदभाव,

सम्बन्ध में यदुनाथ सरकार का कथन है "शिवाजी की विदेश-नीति और कुरान अनुमोदित सम्राट् की विदेश-नीति की समता इतनी पूर्ण है कि कृष्णजी आनन्द नामक दरबारी-द्वारा लिखे गए शिवाजी के इतिहास और आधिकारिक रूप से फारसी में लिखे गए बीजापुर के इतिहास में एक नियमित राजनीतिक उद्देश्य सिद्धि के नाते पड़ोसी प्रदेशों पर किए गए हमलों का वर्णन करते समय बिल्कुल एक ही शब्द 'मुल्कगीरी' का प्रयोग किया गया है। शिवाजी ने (उनके बाद पेशवाओं ने भी) सभी पड़ोसी हिन्दू और मुस्लिम राज्यों में 'मुल्कगीरी' जारी रखी और धनवान हिन्दुओं को भी उतनी ही निर्दयता के साथ लूटा-खसोटा, जितनी नृशंसता मुसलमानों के साथ बरती गई।"[1]

शिवाजी का उदय एक ऐसे समय में हुआ था, जब धार्मिकता की एक लहर ने पूरे वेग पकड़ी पर इस आन्दोलन में कोई उत्कट दार्शनिकता न थी। तुकाराम र अन्य मराठा सन्त संकीर्ण-हृदय कट्टरपंथी न थे और उनका 'भक्ति' म का एकान्तिक नहीं था। वस्तुत वे तो हिन्दुत्व और इस्लाम के अनुयायियों को निकट लाना चाहते थे। वे हिन्दुत्व की मूर्तिपूजा, अन्धविश्वास, जाति भावना, तीर्थ यात्राओं, आदि का भी विरोध करते थे और इस्लाम की असहिष्णुता का भी। शिवाजी उन सन्तों को अपना गुरु मानते थे इसीलिए उन्होंने 'जियो और जाने दो' की नीति का पालन किया। उन्होंने मुस्लिम सन्तों इस्लामी धर्म-ग्रन्थ तथा मस्जिदों के प्रति आदर भाव व्यक्त किया। इस बात का कोई विवरण प्राप्त नहीं है कि उन्होंने इस्लामी रीति रिवाजों अथवा धर्म-कार्यों में कोई बाधा डाली या मुसलमानों के साथ हिन्दुओं से भिन्न स्तर का बर्ताव किया।

परन्तु शिवाजी हिन्दू धार्मिक स्वतन्त्रता के अग्रणी पोषक थे। उन्होंने 'जजिया' लगाने पर औरंगजेब को चुनौती दी और औरंगजेब के साथ इसलिए युद्ध किया कि इस्लाम की राजनीतिक श्रेष्ठता का दावा उन्हें स्वीकार न था और न ही उन्हें हिन्दुओं के लिए निकृष्टता की वह स्थिति मान्य थी, जो औरंगजेब बलपूर्वक उन्हें देना चाहता था। सहनशीलता, न्याय और समानता की जो भावनाएं उनके अपने शासन की मूलमन्त्र थीं, उन्हीं का परिपालन वह मुगल-साम्राज्य में भी होते देखना चाहते थे।

अपेक्षाकृत अल्प आयु में ही शिवाजी का देहान्त हो गया। उस समय वह केवल 53 वर्ष के थे। उनकी मृत्यु अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी, क्योंकि उस समय तक वह नवोदित राज्य अपनी जड़ें भी पूरी तरह नहीं जमा पाया था। वह सत्ता के हस्तान्तरण का कोई शान्तिपूर्ण तरीका विकसित नहीं कर पाया था। उस राज्य को 'राष्ट्र राज्य' अथवा 'राष्ट्र निधि' की अपेक्षा स्वयं शासक का परिवार-पोषक ही अधिक समझा जाता था। शिवाजी के देहान्त से पहले ही इस संगठन में अपरिपक्वता के लक्षण दिखाई देने लगे थे। अन्तिम वर्षों में राज्य के दाय के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों ने उनका जीवन कटु बना दिया था। उनके सबसे बड़े पुत्र सम्भाजी ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और वह मुगलों से जा मिला उनके मन्त्रिमण्डल में एकता न थी, दोनों प्रमुख मन्त्री—'पेशवा' और 'सचिव'—'प्रकट रूप से एक-दूसरे के साथ झगड़ते थे।'

1 यदुनाथ सरकार, 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स' (पांचवां संस्करण), पृष्ठ 372 73

जब अन्ततोगत्वा सम्भाजी का अपने पिता के प्रति मित्र भाव हुआ और वह सिंहासन पर बैठा तब उसने उन मन्त्रियों तथा अधिकारियों से बदला लिया, जिनके बारे में उसे अपने प्रति शत्रु भाव रखने का सन्देह था। अपनी सौतेली माँ सोयराबाई, सचिव अन्नाजी दत्तो तथा अन्य अनेक व्यक्तियों को उसने मौत के घाट उतार दिया। ब्राह्मण मन्त्रियों के विरुद्ध तो उसने वध-चक्र ही आरम्भ कर दिया। उसकी निर्दयता, हिंसा और दुराचार ने उसके कुछ प्रमुख ब्राह्मणों को उसे समाप्त कर देने की योजना बनाने के लिए विवश कर दिया।[1] परिणामत उसके साथ विश्वासघात किया गया। एक मुगल सेनानायक ने उसे पकड़ लिया और औरंगजेब के आदेशानुसार उसके पिता के देहान्त के नौ वर्ष पश्चात उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया।

इसके उपरान्त बीस वर्ष की वह अवधि आई जिसमें मराठा तथा औरंगजेब की सेनाओं के बीच शौर्यपूर्ण संघर्ष हुआ। मराठा सेनानायकों की वीरता, निर्भीकता और बुद्धिमत्तापूर्ण चालबाजियों ने मुगल सम्राट को शिथिल कर दिया। वह काय विरत होकर औरंगाबाद चला गया जहाँ उसने सर्वथा निराश व्यक्ति के रूप में प्राण-त्याग किया। युद्ध में मराठों की विजय तो हो गई, पर उन्हें उसका मूल्य बहुत अधिक चुकाना पड़ा।

इस संघर्ष के परिणामस्वरूप केन्द्र विमुख शक्तियों को बल मिला। शिवाजी ने एकात्मिक राज्य की स्थापना-द्वारा मराठा सरदारों तथा जनता पर जो एकता आरोपित की थी उसका अन्त हो गया। जिन मराठा सरदारों को मुगलों के विरुद्ध लुक छिप कर युद्ध करने पड़ते थे वे अपने ही विवेक तथा इच्छा पर निर्भर रहने के इतने अधिक अभ्यासी हो गए कि उन युद्धों के बाद भी वे स्वतन्त्र रूप से काम करने की अपनी आदत से बच न सके। समय बीतने के साथ-साथ केन्द्रीय सत्ता के प्रति उनकी वफादारी में कमी आने लगी और अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने-आपको अपने-अपने प्रदेशों के स्वतन्त्र शासक बना लिया। वे खुद को पेशवा के समकक्ष समझने लगे और उसके आदेशों के प्रति आदर भाव दिखाने में हिचकने लगे। जिन बातों में उन्हें पेशवा के फैसले पसन्द नहीं होते थे, उनमें तो वे उनकी आज्ञा का उल्लंघन तक करने को तैयार थे।

इससे भी बुरा परिणाम यह सामने आया कि वह नैतिक उन्माद, महाराष्ट्र धर्म की प्रखरता या वह उत्साह जो शिवाजी ने उनके हृदय में भरा था समाप्त हो गया। उनका जो उत्साह बीस वर्ष से अधिक समय तक उन्हें मुगल-साम्राज्य की शक्ति के विरोध पथ पर अग्रसर करता रहा था उसका स्थान धरती और धन के लोभ ने ले लिया। नेकी और आजादी के लक्ष्य की ओर कोई पचास वर्ष तक बढ़ते रहने के बाद मराठे मुगल तौर तरीकों के तुच्छ अनुकर्ता-मात्र बन गए। युद्ध ने उनके आचार भ्रष्ट कर दिए आत्मशवाद का अन्त कर दिया। वे भी दिल्ली-दरबार के भोग विलास और शान शौकत के लिए लालायित होने लगे। उनके मूल सद्गुणों—मितव्ययिता सरलता और कर्तव्यपरायणता—का धीरे धीरे लोप होने लगा। किसी महान् ध्येय के लिए जीने और उसी के लिए मरने की उमंग का स्थान अहंकार और आत्म-वृद्धि ने ले लिया।

शिवाजी ने जिन अस्वास्थ्यप्रद राजनीतिक प्रवृत्तियों को रोक रखा था वे अब प्रकट

---

1 यदुनाथ सरकार-द्वारा 'द हाउस ऑफ शिवाजी' (1940 का संस्करण) में पृष्ठ 203-4 पर उद्धृत एफ मार्टिन के 'संस्मरण'

होने लगीं। राजा के देहान्त और पेशवा की गद्दी के उत्तराधिकार के लिए होनेवाले विवाद मराठा-राजनीति के छिद्र-मूल बन गए। सम्भाजी का विरोध उनके सौतेले भाई राजाराम ने किया था। शाहू के पदास्थापन का विरोध राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई ने किया। शाहू पुत्रविहीन था। उसके उत्तराधिकार के प्रश्न पर प्रमुख अधिकारियों के बीच संघर्ष हुआ। जब राजा शक्तिहीन हो गया और पेशवा ने सत्ता हथिया ली, तब पेशवा की मृत्यु पर भी ऐसे ही विवाद उठ खड़े हुए।

पेशवा की शक्ति-वृद्धि ने आन्तरिक ईर्ष्या-द्वेष पैदा कर दिए। एक ओर राजा और दूसरी ओर मराठा सरदार अपनी महत्ता के इस क्षय से क्षुब्ध हो उठे और विपक्षीय षड्यन्त्र राजकीय मामलों को बराबर नष्ट भ्रष्ट करते रहे। जब रघोजी भोंसले ने बंगाल पर हमला किया तब वहाँ के नवाब अली वर्दी खाँ ने भोंसले के विरुद्ध पेशवा का समर्थन प्राप्त किया और उसे खदेड़ दिया (1743)। दामाजी गायकवाड और दाभाडे ने ताराबाई के समर्थन में पेशवा के प्रदेश में लूट-खसोट की। चौथे पेशवा माधवराव और उनके चाचा रघुनाथ राव के गृह-युद्ध में उनके विरुद्ध होल्कर और भोंसले तथा दक्खन के शासक निज़ाम अली ने चाचा का पक्ष लिया (1761)। पाँचवें पेशवा का प्राणान्त रघुनाथ राव-द्वारा भड़काई गई हिंसा के कारण हुआ (1773)। जब महादजी सिंधिया उत्तर में बारह वर्ष तक लड़ाइयाँ लड़ने के बाद पूना पहुँचा तब वहाँ बहुत अधिक घबराहट मच गई और पूना के राजनीतिज्ञ जिनका नेता सिंधिया से घृणा करनेवाला नाना फड़नवीस था, इतने भयभीत हो गए कि उन्होंने कार्नवालिस से मैसूर से लौटी बम्बई रेजिमेन्ट उन्हें उधार दे देने के लिए प्रार्थना की (1792)। वर्ष भर दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध रेज़िडेंट का सहारा लेते रहे और नाना सिंधिया का पराभव सम्भव करने के लिए होल्कर तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर षड्यन्त्र करता रहा। अन्त में, सिंधिया और होल्कर के बीच प्रत्यक्ष युद्ध छिड़ गया और होल्कर को लाखेरी नामक स्थान पर सर्वथा पराजित कर दिया गया (1793)। महादजी के उत्तराधिकारी दौलत राव ने तो बाजीराव के कहने पर छलपूर्वक नाना को बन्दी तक बना डाला और केन्द्रीय सरकार की राजधानी पूना को लूटने के लिए वह अग्रसर हो गया (1798)। नाना, होल्कर और सिंधिया के झगड़ों ने राज्य की आधार-शिलाएँ हिला दीं। रघुनाथ राव और बाजीराव द्वितीय की प्रत्यक्ष मूर्खता मराठा के मध्य रूपी दुर्ग में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक सहारी घोड़ा घुसा लाई। लड़ाइयाँ हुईं। मराठा सरदार और मन्त्रियों ने आत्मघातक और परस्पर विनाशकारी संघर्षों में भाग लिया। इससे अंग्रेज़ों को लाभ होना स्वाभाविक ही था। सन् 1802 तक उन्होंने पेशवा को मराठा-स्वाधीनता के समाप्ति-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। शीघ्र ही अन्य सरदारों की धर-पकड़ और समाप्ति का काम पूरा किया गया और सन् 1818 तक मराठा प्रभुसत्ता का स्वप्न सर्वथा तिरोहित हो गया।

औरंगज़ेब के साथ होनेवाले संघर्ष के कारण अनिवार्यतः किए गए प्रशासनिक परिवर्तनों ने उस सुदृढ़ ढाँचे की शक्ति क्षीण कर दी थी जिसका निर्माण उस राज्य के संस्थापक शिवाजी ने किया था। निदान के तौर पर जागीर-प्रथा फिर से आरम्भ कर दी गई। नियमित रूप से राजस्व-संग्रह सम्भव न था और अधिकारियों को वेतन देने का एकमात्र तरीका था, भू-राजस्व में से उनका अंश निर्धारित कर देना। औरंगज़ेब के विरुद्ध होनेवाले युद्ध में सेना में सौ गुनी वृद्धि हो गई थी। उसका खर्च पूरा करने के लिए पड़ोसी प्रदेशों

से कड़ी वसूली की नीति अमल में लाई गई। प्रतिवर्ष आठ महीने तक उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में लूट बटोरने के लिए अभियान चलाए जाते थे, पर लूट की उस रकम का अधिकांश स्वयं लोलुप सेनानायक रख लेते थे और लूट अथवा राजस्व की बहुत ही कम रकम पूना स्थित खजाने तक पहुंच पाती थी। पेशवा सदा ही ऋणग्रस्त थे और धन की याचना करते रहते थे।

बाजीराव प्रथम (1720 40) एक शूरवीर पेशवा और महान् सैनिक था। उसने निजाम के विरुद्ध कर्नाटक तक, और उत्तर में अभियानों का संचालन किया। इनसे उसे ख्याति मिली और उसके अधीनस्थ प्रदेश का विस्तार भी हुआ, पर वह ऋणग्रस्त हो गया। 'उसकी सेनाओं के वेतन बकाया रह गए, साहूकारों ने जिनका वह पहले से ही व्यक्तिगत रूप से कई लाख रुपये का कर्जदार था, और ऋण देने से इनकार कर दिया और वह अपने शिविर में होनेवाले उन अनवरत विद्रोहों तथा उपद्रवों के प्रति खेद-परिताप प्रकट करता रहा जिनके कारण उसे बहुत चिन्तित और दुखी होना पड़ा।'[1] पेशवा ने लिखा था, 'लेनदारों से घिरा मैं नरक-कुण्ड में पड़ा हूं साहूकारों' तथा 'सिल्लीदारों' को शान्त करने के लिए उनके चरणों पर पड़ा हूं। इस प्रकार नतमस्तक होता हूं कि मुझे अपने माथे से उनके चरणों की त्वचा का स्पर्श करना पड़ता है।'[2]

बाजीराव प्रथम के उत्तराधिकारी बालाजी राव ने सन् 1740 और 1760 के बीच कुल मिला कर 1 करोड़ 50 लाख रुपये का उधार लिया, जिस पर उसे 12 से 18 प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ा। यद्यपि उसने सन् 1751 52 में 3 करोड़ 65 लाख रुपये की रकम—अधिकतम संगृहीत राशि—राजस्व के रूप में वसूल की, तथापि उसके उत्तराधिकारी माधव राव के सिंहासनारोहण के समय राज्य पर काफी कर्ज बाकी था। बालाजी ने अपने मित्र नाना फड़णवीस के नाम लिखे एक पत्र में अपनी आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला है। उसने अनुतापपूर्ण शब्दों में कहा है कि वैसे तो सोने की एक धारा उत्तर से और दूसरी दक्षिण से महाराष्ट्र में बही चली आ रही है, पर "इससे हमारी प्यास बराबर बढ़ रही है।" कारण जब वह (सोने की धारा) पूना के मुख्य प्रदेशों में प्रविष्ट होगी तब मैं समझता हूं कि यहां अपने निर्दिष्ट तक, पहुंचने से पहले ही विलीन हो जाएगी।'[3] पानीपत की लड़ाई के कारण खजाने में बहुत कमी हो गई। माधव राव ने राज्य के संसाधनों का प्रयोग बहुत ही सावधानी के साथ करने का प्रयास किया, 'पर खजाना खाली हो गया।' नाना फड़णवीस बहुत ही कंजूस था और अपने लिए बहुत अधिक धन बटोर लेने पर भी उसने सेना को भूखा मार दिया, यहां तक कि 'जब उसका शव अन्तिम संस्कार के लिए ले जाया जा रहा था, तब ड्यूटी पर तैनात अरब रक्षक अपने वेतन की बकाया रकम की मांग करते हुए कतार बना कर खड़े हो गए।"

माधव राव (1761 72) के उपरान्त सिंधियाओं की शक्ति ने पेशवा के शासन को फीका कर दिया परन्तु सिंधियाओं ने भी अपनी आमदनी-खर्च में पेशवाओं जैसी लापरवाही दिखाई। उन्होंने बड़ी-बड़ी सेनाएं रख लीं, मुगल-साम्राज्य के मामलों में वे दखल देने लगे और सामन्ती छल प्रपंच में शामिल होकर ऐसे किसी भी व्यक्ति के

1 ग्रांट डफ, 'हिस्ट्री आफ द मराठाज' (1921 का संस्करण) खण्ड 1, पृष्ठ 390
2 वही, पाद टिप्पणी
3 जी० एस० सरदेसाई, 'द हिस्टरी आफ द मराठाज', खण्ड 2, पृष्ठ 242

हाथ अपनी सेवाएं बेचने लगे, जो उनकी माँगें पूरी करने का वचन देता था। ये वचन बड़ी सरलता से दिए जाते थे, पर उनकी पूर्ति के लिए कम ही नैतिक जिम्मेदारी की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार, समस्त मालगुजारी सैन्य-व्यय और दफ्तर की रकमें खर्च हो जाती थीं और प्रशासन येन-केन प्रकारेण जीवित भर रह पाता था।

महादजी सिंधिया के प्रतिनिधि-द्वारा सन् 1785 में नाना फड़नवीस के नाम लिखे गए इन शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है: 'सभी प्राप्त रकमें (उसके अधीनस्थ प्रान्तों से प्राप्त) पैदल सेना और तोपखाने पर ही खर्च की जाती थीं और सेना का मराठा भाग, घुड़सवार सेना भूखों मर रही थी और बहुत अधिक संख्या में सेना का त्याग कर जा रही थी। साहूकारों से बड़ी-बड़ी रकमें उधार ली गई थीं। लगभग सभी साहूकारों—मराठे, गुजराती और मारवाड़ी—का रुपया लिया गया था।'[1] लालसोट की लड़ाई (1787) के बाद सिंधिया ने फिर नाना से सहायता के लिए आग्रह किया। उसने कहा: 'धन की कमी से मैं असहाय बना हूँ। नाना को चाहिए कि वह मेरे लिए कम-से-कम दस लाख रुपये सुलभ कर दें। मेरे समस्त साधन समाप्त हो चुके हैं। अब मैं हिन्दुस्तान में और अधिक नहीं रह सकता।'[2]

सन् 1793 में कार्नवालिस ने लिखा था: 'उसकी (महादजी सिंधिया की उत्तर से) अनुपस्थिति में उसके राज्य में इतनी बड़ी आय कमी हुई है कि वह उसकी सेना के रख-रखाव के लिए सर्वथा असमर्थ हो गया है और एम० डे० बोन के अधीनस्थ सैन्य-दलों की अदायगी करने के विचार से कुछ विशेष व्यवस्था करने के लिए उसे उन अधिकारी का तबादला जैदाद नामक एक जिले में करना पड़ा है जिसमें से प्रतिवर्ष अनुमानतः सत्ताईस लाख रुपये एकत्र होते हैं। उसकी सत्ता और सुरक्षा की दृष्टि से यह कदम इतना भयानक है कि अन्य साधनों के नितान्त अभाव में ही उसे यह कदम उठाना पड़ा होगा।'[3]

महादजी सिंधिया लड़ाई में यूरोपीय प्रशिक्षण प्राप्त सेनाओं की उत्कृष्टता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने यूरोपीय नमूने पर ही एक सेना तैयार करने का निश्चय किया। पलटनों की भर्ती करने तथा उन्हें प्रशिक्षण देने के लिए उसने कई फ्रांसीसी अधिकारी नियुक्त किए। ये पलटनें महँगी थीं और महादजी केवल अपनी अन्य पलटनों को भूखा मार कर ही इन्हें नियमित रूप से वेतन दे सकता था। विदेशी सैनिकों की वफादारी कभी भी निश्चित नहीं थी और अन्ततः वे दगाबाज सिद्ध भी हुए। प्रशिक्षण की कमी के कारण भारतीय अधिकारी उनका स्थान नहीं ले सकते थे और वित्त-व्यवस्था अव्यवस्थित होने के कारण खर्च पूरे नहीं किए जा सकते थे।

मराठों की विदेश-नीति भूल भरी थी। उसके कारण सरकार पर ऐसे भार आ पड़े थे, जिन्हें वह उठा नहीं सकती थी। शिवाजी के उदय की 'मुल्कगीरी' में औचित्य की किंचित् छाया विद्यमान थी क्योंकि उसे मुगल और धनलोलुपता के विरुद्ध प्रतिक्रिया माना जा सकता था। जब तक अस्तित्व रक्षा के लिए औरंगजेब के साथ युद्ध जारी रहा, इसका औचित्य भी बना रहा। परन्तु पेशवाओं के समय में तो उसने विशुद्ध दोहन का रूप ग्रहण

---

1. हिस्टॉरिकल पेपर्स रिलेटिंग टु महादजी सिंधिया (1937), पृष्ठ 587 9
2. वही, पृष्ठ 704 5
3. 'पूना रेजिडेंसी करेस्पांडेंस', खण्ड 1 (यदुनाथ सरकार-द्वारा सम्पादित), पृष्ठ 390

कर लिया। अपने आक्रमणों में वे शत्रु और मित्र का भेद नहीं करते थे। वे तो सभी से राज-कर लेते थे और ऐसा करते समय न तो अपने सहधर्मियों को छूट देते थे और न मुगल कुलीनों के उस हिंदुस्तानी दल को जिसने राजपूतों और जाटों के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली थी। इस प्रकार, अपने शुल्कों और लूट-पसाट से उन्होंने राजपूतों, जाटों और बुंदेलों को अपना शत्रु बना लिया और उनके अत्याचारों ने बंगाल तथा गंगा की घाटी में आतंक फैला दिया। स्वयं अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर मराठों की दाय प्रणाली में लूट-पाट के अतिरिक्त और कुछ न था।

जिन इलाकों पर मराठे विजय पा लेते थे, वहां भी वह राजनीतिज्ञ-सुलभ बुद्धिमत्ता का व्यवहार नहीं करते थे। वे खेतिहरों का दमन करते थे और उन लोगों से रुपया ऐंठने के लिए कड़े कदम उठाते थे। अन्य हिंदू राज्यों ने अपने द्वारा विजित प्रदेश की दशा सुधारने में गर्व का अनुभव किया। उन्होंने वहां मंदिर, कुएं, नहरें, सड़कें और सार्वजनिक उपयोग के अन्य स्थान बनवाए। मराठों ने ऐसा कोई काम नहीं किया। उनके 'मुल्कगीरी' हमलों ने विजित प्रदेशों के उद्योगों तथा धन-वैभव को नष्ट करके केवल सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी को मार डालने का ही काम किया।'[1] राजवाड़े ने स्वीकार किया है कि 'विजित प्रदेशों में लोगों के मस्तिष्क पर विजय पाने में पेशवा असफल रहा। वहां ऐसी संस्थाएं स्थापित नहीं की गई जिनसे विजित लोगों के सम्मुख मराठा-आदर्शों पर प्रकाश पड़ता और मराठों की लक्ष्य सिद्धि के लिए उनका समवेत समर्थन प्राप्त हो पाता। अपनी नई बस्तियों में मराठे कन्नड़ियों, आंध्रों, गुजरातियों, सिखों, बुंदेलों, पूर्बियों और रुहेलों के लिए अपरिचित ही बने रहे और इसलिए किसी बाहरी शत्रु का भय उपस्थित होने पर वे इन लोगों की सहायता की अपेक्षा नहीं कर सके। पानीपत-अभियान में मराठों ने इस पुरानी कहावत में निहित सत्य को अनुभव कर लिया कि बटने के अतिरिक्त मगाना का उपयोग और किसी भी काम के लिए किया जा सकता है।'[2]

मराठा नेताओं की असफलता बहुत बड़ा अभिशाप बनी। उसने विदेशियों के लिए द्वार खोल दिया और अपना दुर्ग दीर्घकालीन आधिपत्य के लिए उनके हवाले कर दिया।

8 सिख

सिख-समाज की संरचना एक ऐसा सामाजिक व्यापार रहा है, जिसकी कुछ निजी विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं। सिख-मत के संस्थापक गुरु नानक उस समय हुए, जब भक्ति-आंदोलन पूरे वेग पर था। रामानन्द, कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, धन्ना तथा अन्य महानुभाव सक्रिय रूप से मानव के प्रति प्रेम और परमात्मा के प्रति श्रद्धा पर आधारित धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने एक ही परमात्मा की आराधना, गुरु के प्रति आदर भाव और सामूहिक उपासना पर जोर दिया। उन्होंने मूर्तिपरायणता और जातिगत भेदभाव की निंदा की तथा हिंदुत्व और इस्लाम के अंतर को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सभी मनुष्यों की समानता का उपदेश दिया और सद्भाव तथा पारस्परिक जानकारी को प्रोत्साहन दिया।

---

1 'कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया', खण्ड 4 (भारतीय संस्करण), पृष्ठ 414-15

2 'राजवाड़ेज राइटिंग्स' ([illegible]), पृष्ठ 189-90

गुरु नानक भी इन विचारों में भागीदार बने और उन्होंने इनके प्रचार सभी वर्गों के लोगों में किए। उनके सरल और सहज उपदेशों, पवित्र और नैष्ठिक जीवन ईमानदारी और सचाई ने अनेक व्यक्तियों को उनका शिष्य बनने के लिए आकृष्ट किया। इन लोगों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इनमें से कुछ लोग ऊंचे स्तर के भी थे, पर अधिकतर लोग सामान्य स्तरों के थे। गुरु नानक ने उन्हें इसी संसार में रह कर परमात्मा के प्रति समर्पण भावना रखते हुए जीने और काम करने का उपदेश दिया।

गुरु नानक को अनेक गुरु बाद और उनके उत्तराधिकारियों का प्राप्त हुआ। उनमें से अनेक व्यक्ति बहुत ही उल्लेखनीय थे। इन्होंने नानक के सन्देश का प्रचार किया और उनके धर्मानुयायियों के समूह को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार एक विशिष्ट धार्मिक समाज के रूप में सिखों का संगठन हुआ। इसीलिए इस पन्थ के अनुयायी तो हिन्दू-समाज के ढांचे में ही सीमित रहे परन्तु सिखों ने एक विशिष्ट व्यक्तित्व पा लिया।

यह सच है कि इन्होंने हिन्दू-धर्मग्रंथ और विधि-व्यवस्था की अनेक विशेषताएं स्वीकार कर ली थीं, फिर भी हिन्दू-देवी-देवताओं हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों जाति-पाति की हीन व्यवस्था और समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार न करके सिखों ने अपने समवेत जीवन की स्वाधीनता पर बल दिया। इस अभिव्यक्ति में जिन तीन गुरुओं ने विशेष योगदान किया, वे थे गुरु अर्जुन गुरु हरगोविन्द और गुरु गोविन्द सिंह। इनमें से प्रत्येक ने अपने धर्मानुयायियों को कायाकल्प कर दिखाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। यह प्रक्रिया अन्तिम गुरु तक आते-आते पूरी हो गई जिसने सिखों (शिष्यों) को 'देव खालसा' (चुने हुए लोगों का समूह) का स्वरूप प्रदान कर दिया।

एक रहस्यप्रधान पुरुषार्थी मत-पन्थ के योद्धाओं के एक उग्रिक समाज में परिवर्तन की यह प्रक्रिया धीमी होकर भी अनिवार्य थी। बाबर और उसके प्रथम दो उत्तराधिकारी धार्मिक विषयों में उदार थे। अकबर को जिज्ञासु-आत्मा मस्तिष्क धर्म के क्षेत्र में नए विचारों और नई अनुभूतियों के सन्धान में ही आनन्दित होता था और वह समझता था कि लोगों के व्यवसायों में हस्तक्षेप अस्वस्थ स्वास्थ्य का चिह्न है। स्वभावतः ही उसने सिख-मत के प्रचार में कोई बाधा न डाली। परन्तु सिखों पर परिवर्तन की छाया पड़ती जा रही थी और अकबर के उत्तराधिकारी उतने उदारमना न थे। जहांगीर ने गुरु अर्जुन को इस सन्देह पर बन्दी बना लिया कि वह शहजादा खुसरू के समर्थक थे। गुरु अर्जुन के पुत्र गुरु हरगोविन्द को अत्याचार के कारण योद्धा बन और पंजाब में उन्हें अधिकारियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। उनके नेतृत्व में सिख सत्ता की दृष्टि से बढ़ गए और "साम्राज्य के भीतर ही एक ऐसा पृथक् राज्य" बना बैठे जिसकी अपनी वित्त-व्यवस्था और सेना थी।

गुरु गोविन्द सिंह का अभिषेक उस समय विद्यमान था जब औरंगजेब का शासन था। सिखों के प्रति किए गए अत्याचार और गुरु तेगबहादुर का बलिदान उनके मन में खटक रहा था। उनके अनुयायी इसके द्वारा ऐसी नई भूमि पर पैर जमा चुके थे जिसमें धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण था। औरंगजेब की नीतियों और दावों द्वारा लाए गए कष्टों ने उन्हें ऐसे स्वतन्त्र पद पर निश्चयपूर्वक बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने सेना और

मृत्यु के बीच के संघर्ष में सिखों का कायाकल्प अनिवार्य था। गुरु गोविन्द सिंह ने गुरु नानक-द्वारा सिखाए गए धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति एक नया उत्साह उत्पन्न करके और निष्ठावान व्यक्तियों के उस समूह के लक्षणों और विशेषताओं की स्पष्ट व्याख्या करके सिखों को उस संघर्ष के लिए तैयार किया। इस प्रकार, एक रहस्यप्रधान धर्म-व्यवस्था ने खालसा रूपी सैनिक धर्म-व्यवस्था का रूप ग्रहण किया। गुरु गोविन्द सिंह ने इस बिरादरी में कुछ नई और रोचक बातों का भी समावेश किया। उन्होंने गुरु का पद समाप्त कर दिया और ऐलान किया कि भविष्य में ग्रन्थ साहब को ही गुरु माना जाएगा और जहां भी पांच सिख एकत्र होंगे, वहीं गुरु की आत्मा विद्यमान रहेगी। इन पांचों का चुनाव सभी सिखों-द्वारा किया जाना था। इस प्रकार पूरे 'पंथ' को ही इस ढंग से संगठित कर दिया गया कि वह उनका पथ प्रदर्शक और गुरु बन गया।

दुर्भाग्यवश, ये विचार फलीभूत न हो सके। गुरु गोविन्द सिंह और औरंगजेब का देहान्त हो जाने पर गृह-युद्ध, आक्रमण और अराजकता का युग आरम्भ हो गया और पंजाब एक भयंकर उथल-पुथल में ग्रस्त हो गया। सिखों को भी इसमें शामिल होना पड़ा। शाही सत्ता शीघ्रता से शिथिल पड़ने लगी और नादिर शाह तथा अहमद शाह अब्दाली के हमलों ने इस सम्पन्न प्रान्त को अव्यवस्थित और विनाश का क्रीडास्थल बना दिया। उस समय सिख ही ऐसे एकमात्र व्यवस्थित समुदाय के रूप में विद्यमान थे, जिसने उस विनष्ट प्रदेश में संगठन की छाया बनाए रखी। इसीलिए आक्रमण की बाढ़ उतरते ही राजनीतिक खाई पाटने के लिए वे आगे बढ़ आए।

यह अवश्य है कि इस अवधि के संघर्षों में खालसा की अखण्डता भी अखण्ड न रह सकी। इसका विशेष कारण यह था कि उन्हें एक बनाए रखनेवाला कोई असाधारण नेता नहीं था। सिख बारह वर्गों (मिस्लों) में बंटे थे, जिनमें से प्रत्येक वर्ग अपना ही अस्तित्व बनाए रखने में संघर्षरत था। वर्ग विशेष के सर्वोणतामूलक हितों की रक्षा के स्वभाव ने उन्हें पारस्परिक संघर्षों में लगा दिया। नानक और गोविन्द सिंह ने इनमें धार्मिक निष्ठा और आध्यात्मिक अभ्युदय की जो भावना भरी थी, सिख बिरादरी के प्रति त्याग और सेवा की जो भावना भरी थी, वह शक्ति और आत्म वृद्धि की आकांक्षा में परिपूरित हो गई। धर्म-व्यवस्था अधम राजनीतिक भार से नीचे दब गई।

उसी समय सिख-समाज में एक अन्य महान् नेता का उदय हुआ, पर सिखों की प्रवृत्ति में परिवर्तन आ चुका था और राजनीतिक शक्ति की आकांक्षा धार्मिक सदाचार पर अधिकार पा चुकी थी। महाराजा रणजीत सिंह को नेता के उत्कृष्टतम गुण प्राप्त थे। वह निर्भय और दक्षतापूर्ण सेनानायक, महान् व्यवस्थापक, सुयोग्य प्रशासक और चतुर राजनीतिज्ञ था। अपने उद्देश्यों की सिद्धि में वह निर्मम तो था पर अत्याचारी नहीं। उसमें उदारता दया और आतिथ्य भाव था। वह अपने समय तथा अपने वर्ग की कमजोरियों में आबद्ध था। हृदय से धर्मपरायण न होने पर भी वह धर्माध्यक्षों के प्रति न केवल आदरपूर्ण, बल्कि विनयपूर्ण भी था।

रणजीत सिंह एक छोटे-से संघ का सरदार था पर अपने पराक्रम से उसने सतलुज की दाईं ओर की सभी सिख मिस्लों को अपने अधीन कर लिया और फिर युद्ध अथवा कूटनीति-द्वारा उसने विशाल प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया, जिसमें

सिंध से परे डेराजात, मुल्तान, कश्मीर, काँगड़ा और पहाड़ी रियासतें तथा सीमा प्रान्त के कबाइली इलाके शामिल थे।

व्यवस्थापक के नाते रणजीत सिंह की मुख्य उपलब्धि थी सेना का आमूल परिवर्तन। उसने एक अनियमित घुड़सवार दल के नायक के रूप में कार्यारम्भ किया था। परन्तु धीरे-धीरे उसने एक ऐसी सेना का सृजन कर लिया, जिसमें यूरोपीय नमूने पर तैयार की गई एक पैदल-सेना थी, सुसज्जित तोपखाना था और एक नियमित अश्व-सेना थी। युद्ध की दृष्टि से यह शक्तिशाली व्यवस्था थी, और किसी भी एशियाई शत्रु से अकेले श्रेष्ठतर थी।

अपनी सेना संगठित करने के समय रणजीत सिंह ने यह तथ्य भुला दिया कि सेना राज्य का एक साधन-मात्र होती है और जब वह स्वामिनी बन जाती है तब राज्य संकट में पड़ जाता है। उसने असैनिक प्रशासन की ओर उतना विशेष ध्यान नहीं दिया। उसकी वित्त-व्यवस्था मामूली थी और दीवानी तथा फौजदारी न्याय प्रशासन का भार सरदारों पर छोड़ दिया गया था।

रणजीत सिंह का यह श्रेय अवश्य प्राप्त है कि उसने अपने समय में पंजाब में फैली अस्त-व्यस्तता में से एक सुसंगठित सरकार का ढाँचा खड़ा कर दिखाया, पर दुर्भाग्यवश यह ढाँचा कमजोर नींवों पर बना। उसका राज्य धार्मिक सिक्ख-राज्य नहीं माना जा सकता था। वह सिक्ख-बिरादरी की स्वेच्छापूर्वक की गई साझेदारी भी नहीं थी, क्योंकि सतलुज-पार की सिक्ख मिस्लों को बलपूर्वक इकट्ठा किया गया था और सतलुज के इस पार के वर्गों ने उसके अधीन होना अस्वीकार करके वस्तुतः अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। परिणामतः जिन सिक्खों ने शासन-व्यवस्था उसके हाथ में छोड़ दिया था उनकी भी वफादारी पूर्णतः हार्दिक नहीं थी।

रणजीत सिंह ने सभी धार्मिक तत्त्वों को अपने लाभ के लिए इकट्ठा करने का प्रयत्न किया। उसके अधीन हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख अधिकारियों को अधिकतम उत्तरदायित्वपूर्ण पद प्राप्त थे और वह धार्मिक भेदभाव रखे बिना सब पर भरोसा करता था। परन्तु यह सब होने पर भी कि ये लोग व्यक्तिगत रूप से पूरी वफादारी और उत्साह के साथ उसकी सेवा करते थे, वे राज्य के साथ स्नेह के किसी बन्धन से नहीं बंधे थे। सेना में जो उसकी शक्ति का मूलाधार थी साधारण पदों पर भी और अधिकारियों में भी हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख थे। उसके यूरोपीय सेनानायकों और हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्ख सेनापतियों और सिपाहियों ने लड़ाइयों में बड़ा जौहर दिखाया। परन्तु वे सब केवल महाराजा रणजीत सिंह के लिए लड़े—धर्म, जाति अथवा देश के लिए नहीं।

रणजीत सिंह का वंश पंजाब पर अनेक वर्षों तक शासन कर सकता था पर दुर्भाग्यवश उसके पुत्र-पौत्रों में ऐसा कोई न था जिसमें जनता उसके गुण देखती हो। भारत में अंग्रेज-शासन की स्थापना के कारण राजनीतिक परिस्थितियों में भी, आमूल परिवर्तन हो गया था। स्वयं रणजीत सिंह के समय में अंग्रेज पंजाब के चारों ओर एक सैनिक प्राचीर खड़ा कर रहे थे। उन्होंने उसे सतलुज के पार बढ़ने से रोक दिया था, सिंध पर कब्जा कर लिया था और अफगानिस्तान की ओर वे अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। ऐसे समय कमजोरों के हाथ भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रवेश-द्वारों

की ओर बढ रहा था अत, रूस के साथ अंग्रेजों की प्रतिद्वन्द्विता से पंजाब के उग्र स्वतन्त्र राज्य में भी उसी प्रकार की कठिनाइयां पैदा होना अनिवार्य था जैसी इसी कारण आगे चल कर अफगानिस्तान में पैदा हुई। इस स्थिति में यह सन्देह स्पष्ट ही है कि रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी बहुत समय तक स्वाधीनता का उपभोग कर पाते। संघर्ष अनिवार्य था और कविष्यपूर्ण प्रयोजन वाले एक स्वेच्छाचारी शासक तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं में बंधे देश प्रेम से ओतप्रोत लोगों के समर्थन पर आधारित एवं शक्तिशाली आधुनिक सरकार के बीच होनेवाले उस युद्ध का परिणाम एक ही हो सकता था।

पंजाब के इस सिंह का देहान्त होने पर अंग्रेजों और सिखों के बीच होनेवाली लड़ाइयों में यह तथ्य भलीभांति प्रकट हो गया। देखते-ही-देखते उसके राज्य का वह विशाल प्रासाद टूट कर गिर पड़ा और धूल में मिल गया। कुछ लड़ाइयां लड़ी गई, जिनमें से कुछ अनिर्णीत रहीं, परन्तु उस संगठन ने सुदृढ़ प्रतिरोध की कोई शक्ति व्यक्त नहीं की। इनमें शौर्य की कमी न थी—उस पक्ष के सैनिकों ने शूर वीरों की भांति युद्ध किए, बात तो यह थी कि सब अधिकारी अर्थ-लोलुप और भ्रष्ट थे। वे तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष, निकृष्ट स्वार्थ और विश्वासघातपूर्ण भावनाओं में ग्रस्त थे। इसीलिए वह भव्य सेना खण्ड-खण्ड होकर विनष्ट हो गई।

सिख राजतन्त्र की इस कथा से अनेक उपयोगी शिक्षाएं प्राप्त होती हैं। पहली बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि भारत में कभी भी सुयोग्य नेताओं—चरित्र-सम्पन्न और सुयोग्य व्यक्तियों—की कमी नहीं रही, और दूसरी बात यह कि क्षमता और श्रेष्ठता का एकाधिकार किसी एक ही समाज अथवा वर्ग को प्राप्त नहीं होता। रणजीत सिंह के दरबार को जिन प्रकाश-पुंजों ने आलोकित किया, वे विश्व के किसी भी भाग में किसी भी सरकार को अपनी आभा से आलोकित कर सकते थे। उनमें वे लोग भी थे, जो समाज के निम्न वर्गों से उद्भूत थे और वे भी, जिनका जन्म उच्च वर्गों में हुआ था—उनमें ब्राह्मण, राजपूत और जाट, खत्री, गूजर और मुसलमान दुकानदारों खिदमतगारों व्यापारियों और नौकर चाकरों के पुत्र भी शामिल थे और धनी तथा राज-परिवारों के बच्चे भी।

मराठों और मुगलों की भांति सिखों का भी पराभव योग्य तथा ऊर्जस्वी व्यक्तियों के अभाव के कारण नहीं अपितु उस भावना के अभाव के कारण हुआ, जो व्यक्ति की योग्यता तथा ऊर्जा को पूरे समाज की सेवा तथा मंगल-कामना पर आश्रित कर देती है और इस प्रकार मनुष्य के पृथकता तथा क्षणभंगुरतामूलक तत्त्वों को सार्वभौमिकता एवं शाश्वतता प्रदान कर देती है। इसी दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति भी विफल रहे।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते भारत तेजी के साथ भयंकर गतिरोध की ओर अग्रसर हो रहा था। जिस मुगल-साम्राज्य ने दो सौ वर्ष तक भारत के राजकुमारों और प्रजाजन को एकीय राजनीतिक पद्धति की डोर से बांधे रखा था, वह आन्तरिक विध्वंस और उत्तर-पश्चिम से होनेवाले हमलों की दोहरी शक्तियों का शिकार हो चुका था। केन्द्रीय सत्ता के ह्रास के साथ-साथ केवल राजनीतिक शक्ति ही विलीन नहीं हुई और स्वच्छन्दी ने ही अपना कुटिल मस्तक ऊपर नहीं उठाया बल्कि आचरण तथा व्यवहार में भी सामान्य गिरावट आ गई। समाज

गैर निष्ठा म कमी आ गई। अहंकार और धन तथा शक्तिलिप्सा ने समवेत
सि की नाव खोखली कर दी। अविलम्ब व्यक्तिगत लाभ की इच्छा ने लोगों
के बना दिया। बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता ने उनका इतना अधिक परित्याग
रता कि व न तो अपनी नीतियों के तात्कालिक परिणामों का ही पूर्वानुमान
न पाने य और न सच्चे मित्रों तथा शत्रुओं को पहचान पाते थे। जान पड़ता
था कि नियति ही उन्हें आत्म विनाश की ओर खींचे लिए जा रही थी।

मुगल शासन के अन्त से सभी वर्गों को क्षति हुई। अधिकारियों तथा लगान
गुजारों के दमन ने किसानों को कुचल डाला। सरदारों के आर्थिक कठिनाइयों
ग्रस्त हो जाने के कारण कारीगरों को हानि पहुंची। पंजाब में, जहां से होकर
आक्रमणकारी आया जाया करते थे, अस्त-व्यस्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाने के
कारण स्थल-मार्गों से विदेशों के साथ होनेवाले व्यापार में बाधा उपस्थित
हो गई तथा भारत तक आनेवाली समुद्री जलधाराओं पर उन यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों
का आधिपत्य हो जाने के कारण, जिनके समुद्री बेड़े सर्वोपरिता के लिए प्रतिद्वंद्विता
कर रहे थे और माल के लाने-ले जाने के विधिसम्मत व्यवसाय के प्रति युद्ध और
लूटमार में भाग लेने लगे थे, कारीगरों तथा व्यापारियों, दोनों को हानि पहुंची।
विदेशी व्यापार व्यापारियों के हाथ से निकल गया और गृह-युद्ध तथा कुलीन वर्ग की
भिन्नता ने देश के आन्तरिक व्यापार में बाधा उत्पन्न कर दी।

चौथा अध्याय

अठारहवीं शताब्दी में आर्थिक परिस्थितियां

मध्य-काल के अन्त में यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता थी वाणिज्य का विस्तार। नगरों में उद्योग का विकास हुआ और इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार, एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जिसने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वह मध्य-वर्ग था। वह न तो सामन्ती कुलीनों का वर्ग था और न खेतिहर श्रमिकों का। इस वर्ग के उदय ने सामन्ती यूरोप का रूप ही बदल दिया और उन शक्तियों को गतिशील बना दिया जिनकी परिणति राष्ट्रीय राज्यों के विकास में हुई। यही कारण था कि नगरों में पले मध्य वित्त-वर्ग के माध्यम से यूरोप की सामाजिक क्रान्ति पूरी हुई।

कस्बे, उनका व्यापार और उद्योग

दूसरी ओर भारत में परिस्थितियां भिन्न थीं। यद्यपि आत्मनिर्भरता और आजीविकामूलक कृषि से युक्त भारत की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था की अनेक बातें मध्य-कालीन यूरोप की कृषि-व्यवस्था से मिलती-जुलती थी, फिर भी भारत के कस्बों एवं नगरों तथा उनके कला-कौशल और वाणिज्य की संरचना का यूरोप की नगरीय व्यवस्था के साथ नाममात्र का भी साम्य न था। भारत में कस्बों की कमी न थी, पर उनमें ऐसे कस्बे थोड़े ही थे जिनका अस्तित्व केवल उद्योग अथवा व्यापार पर निर्भर था। आबादी बढ़ने के साथ साथ वहां उद्योग और व्यापार का विकास हुआ, पर इस बात में वे यूरोपीय नगरों से भिन्न थे कि उनके नागरिक जीवन पर आर्थिक मामलों का प्रभुत्व न था। भारतीय वणिक वर्ग यूरोप के मध्य-वर्ग से—प्रकृति, कार्यों तथा उद्देश्यों, सभी के नाते—पूर्णतः भिन्न था। औद्योगिक विकास अथवा राजनीतिक बातों पर इसका वैसा प्रभाव न था जैसा अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम में मध्य वित्त-वर्ग का था। इसीलिए भारत में न तो औद्योगिक क्रान्ति हुई और न एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्य का ही विकास हो पाया। यहां वणिक वर्ग ने एक उद्यम तथा पुनरुत्थानशील औद्योगिक वर्ग को भी जन्म नहीं दिया।

अनुमान लगाया गया है कि अकबर-द्वारा शासित प्रदेश में 120 नगर और 3200 कस्बे थे। आगरा की आबादी अनुमानतः पांच छः लाख थी। यह आबादी तत्कालीन लन्दन की आबादी से अधिक थी। इस दृष्टि से दिल्ली का मुकाबला पेरिस के साथ किया जा सकता था। अहमदाबाद लन्दन के लगभग बराबर था। लाहौर का स्थान यूरोप के किसी भी नगर के बाद का नहीं था और पटना की आबादी लगभग दो लाख थी। पर इतनी अधिक आबादी के बावजूद, ये नगर अपने मुकाबले के यूरोपीय नगरों की बराबरी नहीं कर सकते थे क्योंकि इनमें वैसे स्वतन्त्र संस्थान विद्यमान नहीं थे जिनकी स्थापना यूरोपीय नगरों और कस्बों में व्यापारी-समाजों ने कर ली थी। अठारहवीं शताब्दी में लड़ाइयों हमलों

और अब आपदाओं ने विध्वंस मचा दिया और उत्तर में लाहौर, दिल्ली, आगरा मथुरा, आदि नगर और दक्षिण में देश के विस्तृत भूभाग तबाह हो गए। भारत के समुद्र-तटवर्ती भागों में यूरोपीय व्यापारियों के उदय ने कुछ सीमा तक उक्त विनाश की क्षतिपूर्ति कर दी। वे सोना चांदी के बदले में भारतीय वस्तुएं खरीदते थे और इस प्रकार उद्योग को बढ़ावा देते थे।

उच्चतर वर्गों की आवश्यकता-पूर्ति करनेवाले भारतीय कला-कौशल केवल नगरों तक ही सीमित न थे। कुलीनोपयोगी वस्तु-उद्योगों में नगरों और गांवों दोनों ने ही प्रधानता प्राप्त की थी। दस्तकारों के विशिष्ट समूह उत्पादन के विशिष्ट अंगों का कारोबार संभालते थे और विशेषज्ञ मिल-जुलकर बिक्री-योग्य वस्तुएं तैयार करते थे। मिसाल के तौर पर, सूती कपड़े के उत्पादन में रुई धुननेवालों, कातनेवालों, बुननेवालों, रंगनेवालों, विरंजकों, छापनेवालों आदि के स्वतन्त्र समूह थे। औद्योगिक विशेषज्ञता का एक और प्रकार था, विशेष गांवों तथा कस्बों में कुछ विशेष उद्योगों का केन्द्रीकरण। अलग-अलग धातुओं का काम करनेवाले कारीगर नगर के अलग-अलग भागों में बसे थे, बढ़ई, जौहरी, लोहार, तेली आदि अपनी-अपनी बस्तियों में रहते थे। उदाहरणतः कुछ गांवों में मोटा सूती कपड़ा तैयार होता था, दूसरों में मलमल और कुछ में पगड़ियां तैयार की जाती थीं। कामदार कपड़ा (ब्रॉकेड) रेशमी कपड़ा, सोने चांदी के तारों (गोट किनारी) से बना कपड़ा विभिन्न स्थानों पर विशेष रूप से बनाया जाता था।

विशेषज्ञता से प्रवीणता में वृद्धि होती है। इसीलिए अपनी कारीगरी की प्रवीणता की दृष्टि से भारत के कारीगरों ने उस समय के संसार में अपना अद्वितीय स्थान बना लिया था। उद्योग-विषयक संगठन और प्रविधियों की दृष्टि से भी भारत पश्चिम की तुलना में बहुत आगे था। भारतीय उद्योग-द्वारा निर्मित वस्तुएं केवल एशियायी-अफ्रीकी देशों की आवश्यकता-पूर्ति नहीं करती थीं, अपितु यूरोपीय मण्डियों में भी उनकी बहुत मांग थी। वे वस्तुएं समुद्र तथा स्थल-मार्गों से पश्चिमी देशों में पहुंचती थीं।

पूर्वी वस्तुओं के आपूर्तिकर्ता भारतीय व्यापारी ईरान की खाड़ी और लाल सागर के समस्त बंदरगाहों में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थे। वे कन्धार, काबुल, बल्ख, बुखारा, काशगर आदि में, अफगानिस्तान और मध्य-एशिया में, ईरान में शीराज, इस्फहान के तथा मेशेद में और रूस में बाकू, अस्त्राखान, निज्नी नोवगोरोड आदि में भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। रूस के पीटर महान् के कथनानुसार, भारत का वाणिज्य विश्व का वाणिज्य है और जो व्यक्ति एकान्ततः उसका नियंत्रण कर सकता है वही यूरोप का तानाशाह है।[1]

भारतीय वस्तुएं पूर्व एशियायी देशों—बर्मा, मलाया, इंडोनेशिया, चीन, जापान, आदि—में भी जा पहुंचती थीं। कोरोमण्डल-तट और बंगाल इन वस्तुओं के आपूर्ति-केन्द्र थे।

औद्योगिक संरचना

भारतीय उद्योगों से दो भिन्न भिन्न प्रकार की मांगें पूरी करने की अपेक्षा की जाती

1 [illegible], 'प्राब्लेम्स आफ द मिडल-ईस्ट' (लन्दन, 1909), पृष्ठ 62

थी। इनमें से एक उन आम लोगों की आवश्यकताओं से सम्बद्ध थी जिनमें से अधिकतर गावों में रहते थे और दूसरी का सम्बन्ध समाज के उन्नतर वर्गों से था।

जो उद्योग ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के लिए निर्मित वस्तुएं सुलभ करते थे, उनकी सरचना पुराने ढग की थी। कारीगर वर्ष के कुछ महीनों में खेती करते थे, क्योंकि उनके उत्पादनों की माग समग्रत इतनी अधिक नहीं थी कि वे पूरे वर्ष उस उद्योग में लगे रह सकें। गावों में वस्तु विनिमय प्रथा-द्वारा नियन्त्रित होता था और कारीगरों की मजदूरी, जो खेत से सम्बद्ध प्रत्येक किसान का अश वहा की उपज में से निर्धारित करके चुकाई जाती थी पुरानी प्रथा के आधार पर निश्चित की जाती थी—माग और आपूर्ति की मण्डी विषयक शक्तियों के आधार पर नहीं।

ऊचे वर्गों—सामान्यत भद्रों और धनी व्यापारियों—की माग में विलास की वस्तुओं का समावेश था। इसकी मात्रा काफी थी। धनी व्यक्तियों ने, सख्या में अपेक्षाकृत कम होने पर भी विलास की वस्तुओं की काफी माग पैदा कर दी थी, क्योंकि उन्हें जीवन की अच्छी वस्तुएं प्रिय थीं और वे उपयोग तथा प्रदर्शन, दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट रीति से बनी महगी वस्तुएं प्राप्त करना चाहते थे। ऐसी वस्तुओं की माग देश के बाहर भी थी और उनका उल्लेखनीय परिमाणों में निर्यात किया जाता था।

बहुत बढ़िया किस्म की विलास की वस्तुएं बनानेवाले उत्पादक या तो अपने घरों में ही काम करते थे, या कस्बों में स्थित सरकारी कारखानों में। गाव के कुछ कारीगर भी, जिन्होंने अपने कार्य विशेष में दक्षता प्राप्त कर ली थी, अपने-अपने गाव में रह कर भी उन वस्तुओं की माग की पूर्ति किसी हद तक करते रहते थे।

यहा के कारीगरों का सगठन यूरोप के श्रमिक-सघों (गिल्डों) जितना मजबूत नहीं था। गुजरात वह एकमात्र इलाका है, जहा सुव्यवस्थित शिल्प-सघ विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। आमतौर पर, पुराने कारीगर उस व्यवसाय में आनेवाले नए कारीगरों को प्रशिक्षण दिया करते थे। शिल्प पुश्तैनी व्यवसाय होता था और कारीगर किसी विशेष जाति का सदस्य होता था। अत श्रमिक-सघ जाति की सत्ता का अतिक्रमण नहीं कर पाता था। वस्तुत उक्त व्यापार से सम्बन्धित सभी मामले उस जाति की पचायत और चौधरी के सामने रख दिए जाते थे। इस प्रकार, यूरोपीय श्रमिक-सघों के प्रशासनात्मक कार्य भारत में जाति-द्वारा पूरे किए जाते थे।

मध्य-कालीन यूरोप की उद्योग-व्यवस्था का एक अन्य पहलू अर्थात कार्यशाला से अलग रह कर काम करने का तरीका भारत में भी प्रचलित हुआ। चूंकि अधिकतर कारीगर निर्धन थे इसलिए उन्हें उन व्यापारियों के लिए काम करना पड़ता था जो उन्हें या तो दलालों की मार्फत पेशगी धन दे देते थे या गुमाश्तों के माध्यम से उनके साथ लेन-देन किया करते थे। कारीगरों को औजारों तथा कच्चे माल के लिए धन दिया जाता था और तैयार वस्तुओं के बदले पेशगी मजदूरी दे दी जाती थी। जब तक पूर्व निर्धारित परिमाण में वस्तुएं तैयार नहीं हो जाती थीं और उन पर व्यापारी की मुहर नहीं लग जाती थी, तब तक कारीगर को व्यापारी के लिए काम करना ही पड़ता था। आमतौर पर बिचौलिया तैयार वस्तुओं को इकट्ठा करके मण्डी में बेचने के लिए लाता था। कभी-कभी कुलीन लोग कारीगरों के साथ स्वय सौदे कर लेते थे। इससे उन्हें गरीब कारीगरों के साथ सख्ती करने के मौके मिल जाते थे।

वे सरकारी कारखाने सबसे सुव्यवस्थित थे जो सल्तनत की राजधानियों में

थे। बर्नियर[1] ने ऐसे बड़े-बड़े कमरों का वर्णन किया है जिनमें विभिन्न कारीगर काम करते थे। वे 'मालिकों' और दारोगाओं की देख रेख तथा नियन्त्रण में रह कर काम करते थे। कारखाने उन शासकों—नरेशों और प्रान्तपतियों—के प्रत्यक्ष संरक्षण में चलते थे, जो वहां के काम में गहरी दिलचस्पी लेते थे। वे विशेष पुरस्कार देकर प्रतिभाशाली कारीगरों को प्रोत्साहित करते थे और तैयार की जानेवाली वस्तुओं की किस्म सुधारने में भी सहायता देते थे।

उत्पादन-कार्य सम्पन्न छोटी छोटी इकाइयों—कुछ कारीगरों के परिवारों—के रूप में होता था। उनकी आय साधारण होती थी और पूरा काम व्यापारियों से पेशगी रकम मिलने या संरक्षकों की सहायता पर ही निर्भर करता था। उद्योग में लगी पूंजी कम थी और उसे वह संगठन स्वरूप नहीं मिल पाया था जो यूरोप में मिल गया था। इसके अलावा, प्रत्येक व्यवसाय एक ऐसी जाति पर आधारित था जो एक अगतिशील समुदाय के रूप में थी। इसने एक व्यापार अथवा शिल्प से दूसरे में श्रमिकों के स्थानान्तरण और विभिन्न व्यवसायों के बीच के पारस्परिक सहयोग यदि सर्वथा असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना दिया।

भारतीय गांव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाइयां थे। गांव की जनता की आवश्यकताएं सीमित थीं और प्रायः गांव के भीतर ही पूरी भी हो जाती थीं। खेती की उपज का कुछ अंश भू राजस्व के रूप में नरेश को मिल जाता था और किसान के पास सरकारी मांग पूरी करने के बाद, ऐसा अधिक कुछ शेष नहीं रह पाता था जिससे वह नागरिक उद्योगों-द्वारा बनी वस्तुएं खरीद सके। ऐसी परिस्थितियों में गांव और नगर के बीच होनेवाले विनिमय की धारा क्षीण ही रहती थी। इसी के समान, यातायात के साधनों की न्यूनता और गांव तथा शहर के बीच होनेवाले व्यापार की नगण्यता ने यहां व्यापार तथा साहूकारों के काम में लगे परम्परागत व्यापारी-वर्गों को पुरातन ढंग के सुव्यवस्थित संस्थानों का रूप ग्रहण करने से रोके रखा।

गांव की सरल तथा स्वावलम्बनपरक अर्थव्यवस्था और लोगों के वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण ने एक-दूसरे पर प्रभाव डाला और वे दोनों परस्पर प्रभावित भी हुए। लोगों की धर्मप्राण प्रवृत्ति ने भौतिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य भावना को उत्पन्न किया; ऐन्द्रिय इच्छाओं की तुष्टि की ओर बढ़ना पाप और उनका दमन पुण्य समझा जाता था। सम्पत्ति माया एवं असार थी। धन-सम्पदा अस्थिर और नाशवान तो थी ही और इसी कारण यह बुद्धिमान व्यक्तियों का लक्ष्य नहीं बन सकता था। नरेश और सामन्त सम्पत्ति तथा वैभव के प्रदर्शन से आत्मतुष्टि प्राप्त करते थे और उनका ऐसा करना उचित भले माना जाए, पर [illegible] मानव तो के [illegible] तथा औरंग देव के पथ पर चलकर ही [illegible] में। वेदों तथा शास्त्रों के निर्देशों और वचनों ही के कायल थे। इस प्रकार सामाजिक वातावरण पूंजीवाद के अनुकूल नहीं था। और यहां संयुक्त परिवार प्रथा तथा स्त्रियों और सन्तानों के उत्तरदायित्व विशाल संयुक्त परिवारों में बहुत अधिक धन संचय करने के उपाय करने में बाधक थे, धनवान व्यक्तियों के दमन पर उनकी सम्पत्ति राज्य-द्वारा हथिया लिए जाने का भय

1 एफ० बर्नियर 'ट्रैवेल्स इन द मुगल एम्पायर' (कान्स्टेबल-संस्करण वी० ए० स्मिथ द्वारा संशोधित) लन्दन, 1934 पृष्ठ 258 59

उन लोगों में एक पुश्तैनी धनी-वर्ग का जन्म नहीं होने दिया। अर्थ विज्ञान की ओर भारतीय विद्वानों ने ध्यान ही नहीं दिया।

जिन व्यापारियों साहूकारों और रुपया उधार देनेवालों ने भारतीय वणिक-समाज का निर्माण किया और जिन्हें उस समय का एक प्रकार का मध्यम-वर्ग समझा जा सकता है, उन्होंने धन तो बहुत कमाया पर अपनी पूंजी का निवेश विनिर्माणक उद्योगों की स्थापना तथा विकास के लिए नहीं किया। उन्होंने उस धन का उपयोग शासक-समाज के सदस्यों को बहुत अधिक ब्याज पर ऋण देने और कारीगरों को उनके द्वारा बनाई तथा सुलभ की जानेवाली वस्तुओं की अग्रिम रकम अदा करने में ही किया। उन लोगों में उद्यम की उस भावना का अभाव था जो यूरोपीय उद्योग का प्रधान शक्ति-स्रोत थी। इसके अलावा समवेत संघ और श्रमिक निकाय बना कर काम करनेवाले यूरोपीय व्यापारियों से भिन्न भारतीय व्यापारी व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक रूप से पृथक्-पृथक् व्यापार करते थे।

भारतीय उद्योग यद्यपि पूर्व-पूंजीवादी स्तर का ही बना रहा और भारत में औद्योगिक मध्यम-वर्ग का भी विकास नहीं हुआ, तथापि विनिर्मित वस्तुओं के वैविध्य और उत्पादन विधियों के नाते उस समय भारत समकालीन यूरोप की तुलना में औद्योगिक दृष्टि से कहीं आगे था। भारत की मध्य-कालीन अर्थ-व्यवस्था के इतिहासकार मोरलैण्ड ने भी जिसका झुकाव भारत की उपलब्धियों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की ओर नहीं हो सकता था यह स्वीकार किया कि 'मेरी समझ से तो यह बात अब भी निर्विवाद है कि उद्योग के क्षेत्र में भारत, आज की तुलना में, उस समय पश्चिमी यूरोप से कहीं आगे था।'[1]

भारतीय उद्योग और संस्कृति की महानता तथा मौलिकता के सम्बन्ध में पाइराड का साक्ष्य स्थायी रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसका कथन है 'संक्षेप में मैं एक ओर सोने, चांदी लोहे इस्पात तांबे तथा अन्य धातुओं, और दूसरी ओर हीरे जवाहरात कीमती लकड़ी तथा अन्य मूल्यवान एवं दुर्लभ पदार्थों से विनिर्मित वस्तुओं की विविधता का पूरा वर्णन कभी नहीं कर सकता। बात यह है कि वे सब बहुत चालाक हैं और किसी भी बात में पश्चिम के लोगों के ऋणी नहीं हैं क्योंकि उन्हें उससे अधिक प्रखर मेधा प्राप्त है जो हम लोगों में प्रायः पाई जाती है और उनके हाथ भी हमारी भांति निपुण हैं किसी भी काम को वे एक बार देख अथवा सुन कर सीख जाते हैं। वह वास्तव में, चालाक और शिल्प प्रवीण जाति है। हां, वे लोग न तो दूसरों को धोखा देने में अभ्यस्त हैं न स्वयं सरलता से धोखे में आते हैं। उनके द्वारा बनी सभी वस्तुओं की एक सामान्य विशेषता यह है कि वे कला की दृष्टि से उत्कृष्ट भी होती हैं और सस्ती भी। मैंने चतुर व्यक्तियों में उतनी तहजीब-तमीज और कहीं नहीं देखी, जितनी इन भारतवासियों में दृष्टिगत होती है। इनमें वैसा बर्बर अथवा असंस्कृत कोई बात नहीं है जैसी हम प्रायः इन लोगों में समझा करते हैं। यह सत्य है कि ये लोग पुर्तगालियों के तौर-तरीके अपनाने को तैयार नहीं हैं, फिर भी उनके वस्तु निर्माण तथा कारीगरी के सम्बन्ध में जानने के लिए अविलम्ब तत्पर हो जाते हैं क्योंकि वे सभी जानकारी पाने के बहुत ही आकांक्षी तथा जिज्ञासु हैं। वस्तुतः पुर्तगालियों ने इन्हें जो-कुछ दिया है, उससे

1 डब्यू० एच० मोरलैण्ड, 'इण्डिया एट द डेथ आफ अकबर', पृष्ठ 155 56